औद्योगिक समाजशास्त्र

(INDUSTRIAL SOCIOLOGY)

एम. कॉम. (व्यावसायिक प्रशासन) के विद्यार्थियों के
लिए मौखिक पेपर की जगह लिखित
पेपर के लिए परीक्षोपयोगी पाठ्यपुस्तक

Written Paper in lieu of Viva-Voce for M Com.
(Business Administration) Students

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
व्यावसायिक प्रशासन विभाग
राजर्षि महाविद्यालय, अलवर

TOPICS FOR STUDY

Unit I Sociology : Meaning, Scope, Nature, Importance, Its relation to Industrial Sociology, Usefulness of Industrial Sociology.

Unit II Indian Labour-Main Characteristics, Social Composition of Labour forces in India, Efficiency of Labour, Problems of Industrial Society and Pollution.

Unit III Industrial Revolution-Causes and effects. Industrialisation-definition and effects, Processes of Industrialisation, Industrialisation of Society and Main Problems.

Unit IV Formal and Informal aspects of Industrial Organisation. Human Relations approach. Mayo and Howthrone Studies.

Unit V Business Cmmunities-Development of Business Communities in India, their Contribution.

Published by P. Jain for Research Publications in Social Sciences,
2/44, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-2 and Jaipur-2
Printed and Composed at Girdhar Composing Centre, Jaipur

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मे 'औद्योगिक समाज' की कुछ समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। औद्योगीकरण की तेज गति एवं बढते हुए महत्त्व ने *श्रम-सम्बन्धों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन* बड़ा आवश्यक कर दिया है। इस पुस्तक मे औद्योगीकरण से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं को सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आशा है 'औद्योगिक समाज' में रुचि रखने वाले पाठकों को पुस्तक उपयोगी लगेगी।

पुस्तक के लेखन मे समाजशास्त्र एवं सेवीवर्गीय प्रबन्ध पर लिखी अनेक विद्वानों की पुस्तकों की सहायता ली गई है जिनके प्रति मैं आभारी हूँ।

पुस्तक की रचना मे प्रो. ज्ञानेन्द्र उपाध्याय, विभागाध्यक्ष स्नातकोत्तर व्यावसायिक प्रशासन विभाग, राजर्षि महाविद्यालय, अलवर का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके सतत् निर्देशन एवं परामर्श से ही यह कृति वर्तमान रूप ले सकी है।

मैं पुस्तक के प्रकाशक श्री पी. जैन का भी अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने अल्प अवधि में ही पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था करने का कष्ट किया।

प्रस्तुत पुस्तक मे कमियाँ हो सकती हैं अतः पुस्तक की कमियों को दूर करने एवं इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए रचनात्मक सुझावों का सदैव स्वागत है।

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

अनुक्रमणिका

1

समाजशास्त्र–अर्थ, क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्व

(Sociology—Meaning, Scope, Nature and Importance)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो शताब्दियो से समूहों में रहता आया है। मानव समूहो से ही समाज की रचना हुई है। समाज की उत्पत्ति विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। प्रारम्भ मे मानवीय जीवन एव आचरण अनियन्त्रित था लेकिन जीवन की कठिनाइयो एव संघर्षों को समाप्त करने के लिए समूहों ने एक-दूसरे के निकट आना एव सहयोग करना उचित समझा। विभिन्न समूहो के सम्पर्क में आने से उनके मध्य अन्तक्रिया बढी तथा व्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित हुए जिससे समाज का प्रादुर्भाव हुआ। समाज को 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' (Web of Social Relations) कहा जाता है। सम्बन्धों के जाल से आशय सामाजिक सम्बन्धों की उस जटिल व्यवस्था से है जिसके द्वारा व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित रहते हैं तथा समाज की क्रियाशीलता में भाग लेते हैं। मनुष्यों की क्रियाओ पर तथा उनके व्यवहार पर समाज का बड़ा प्रभाव पडता है। समाजशास्त्र ज्ञान का ऐसा क्षेत्र है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का पूर्णरूप से प्रत्येक पहलू का अध्ययन करता है। शाब्दिक अर्थ में देखें तो समाजशास्त्र दो शब्दों का संयोग है 'समाज' एवं 'शास्त्र' जो कि लैटिन एवं ग्रीक भाषा के सोसिटास=समाज तथा लोगोस=विज्ञान शब्दों से बना है। लेपियर के अनुसार[1] समाज मनुष्यों का समूह न होकर मनुष्यों के मध्य अतःक्रियाओं के रूप में जटिल प्रतिमान होता है तथा शास्त्र से आशय किसी विषय के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान से है। अतः समाजशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन कराता है।

समाजशास्त्र एक नवविज्ञान है तथा सामाजिक विज्ञानों में इसकी उत्पत्ति सब से बाद में मानी जाती है। फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान अगस्त काम्टे ने सर्वप्रथम सन् 1838 मे इस शब्द की रचना एवं प्रयोग किया। इसका इतिहास लगभग

1. *Lapier R. T.* : Sociology, p. 37.

सवा सौ वर्ष पुराना है। मॉरिस गिन्सवर्ग के अनुसार "मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज की उत्पत्ति राजनीतिक दर्शन व इतिहास के विकास के प्राणि-शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा सुधार के लिए होने वाले उन सभी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति सामाजिक ज्ञान एवं उनके विभिन्न पहलुओं के सामान्यीकरण से हुई है।

समाजशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Sociology)

अगस्त कॉम्टे से लेकर अब तक अनेक विद्वानों ने समाजशास्त्र को परिभाषित किया है तथा उनकी धारणाओं में बड़ी मात्रा में भिन्नता है। श्री कॉम्टे के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का विज्ञान है जिसके नियम प्राकृतिक विज्ञानों के सदृश ही होते हैं तथा इनकी खोज निरन्तर रूप से जारी रखनी चाहिए। इस शास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक तथ्यों के अवलोकन विवरण (Description) और वर्गीकरण (Classification) से था। अपनी उक्त धारणा के आधार पर श्री कॉम्टे ने समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए सकारात्मक पद्धति के प्रयोग का सुझाव दिया था। उनका यह विश्वास था कि सामाजिक विकास और उन्नति एक दूसरे के समकक्ष होने वाली प्रक्रियायें हैं जो निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं। कॉम्टे ने समाजशास्त्र का कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत माना क्योंकि वह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं को पृथक रूप से न मानकर एक ही सूत्र में बँधे हुए मानता था। उसके अनुसार समाज विकास की प्रक्रिया का परिणाम है और इसका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाना चाहिए।

बहुत से समाजशास्त्रियों ने कॉम्टे के विचारों की आलोचना की। उन्होंने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को बहुत विस्तृत माना है तथा 'समाजशास्त्र के वैज्ञानिक स्तर' सम्बन्धी विचारों को स्वीकार नहीं किया है। लेकिन ये आलोचनाएँ श्री कॉम्टे के योगदान को निर्मूल नहीं कर सकती। विकास के साथ-साथ प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं तथा बहुत से विचार परिष्कृत एवं परिमार्जित होते रहते हैं।

श्री कॉम्टे के बाद विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को परिभाषित किया है। सभी समाजशास्त्री समाजशास्त्र को 'समाज का विज्ञान' मानते हैं लेकिन उन्होंने

1. "Broadly it may be said that sociology has had a fourfold origin in political philosophy, the philosophy of history, biological theories of evolution and movements for social and political reforms which found it necessary to undertake surveys of social conditions."

—*M. Ginsberg* : Reasons and Unreasons in Society, p. 2.

इसे भिन्न-भिन्न आधारों पर परिभाषित किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से समाजशास्त्र की परिभाषाओं को निम्नलिखित चार रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन।
2. समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन।
3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन।
4. समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन।

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है

श्री गिडिंग्स, समनर, वार्ड, आर्थर फेयर बैंक्स, मोरिस जिन्सबर्ग, ओडम आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को समाज का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। इन्होंने समाजशास्त्र को ज्ञान की एक ऐसी शाखा के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसमें सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन किया जा सके। एफ० एफ० गिडिंग्स के अनुसार समाजशास्त्र एक प्रयास है जो वह बताता है कि विकास की प्रक्रिया में भौतिक (Physical) तथा मानसिक (Psychical) कारणों की क्रियाशीलता से किस प्रकार समाज का जन्म एवं विकास हुआ, समाज का क्या ढांचा बना और समाज में कौन सी क्रियाएँ उत्पन्न हुई।[1] समाज में विकास की प्रक्रिया निरन्तर पाई जाती है तथा इसमें भौतिक आध्यात्मिक तथा मानसिक कारणों का बड़ा योगदान होता है। ये कारण एक दूसरे के साथ मिलकर समाज के स्वरूप को परिवर्तित करते रहते हैं। उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया में समाज के स्वरूप में हुए परिवर्तन तथा समाज में गतिशील हुई विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समाज की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन है तथा इसमें सम्पूर्ण समाज का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र में उन सभी सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना होता है जो किसी भी समय विशेष रूप में समाज में पाई जाती है।

समाजशास्त्र को किसी न किसी रूप मे 'समाज के अध्ययन का विज्ञान' के रूप में परिभाषित करने वाली निम्नलिखित परिभाषाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

श्री एल० एफ० वार्ड के अनुसार "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[2]

1. "Sociology is an attempt to account for origin, growth, structure and activities of society by the operation of physical and psychical causes working together in the process of evoluation." —*F. F. Giddings* : Principles of Sociology, p 8.
2. "Sociology is a scientific study of society." —*L. F. Ward* : Popular Science, p. 113.

आर्थर फेयर बैंक्स का कथन है कि "समाजशास्त्र को बहुत सी ऐसी बिखरी हुई सामग्री की संज्ञा दी गई है जिसमें हमारा समाज का ज्ञान निहित है।"[1]

मेयर वेनबर्ग और आस्कर ई० शावत के अनुसार "समाजशास्त्र समाज के आधारभूत ढांचे का अध्ययन है। यह उन घटकों (Factors) का अध्ययन करता है जो ढांचे को मजबूत या निर्बल बनाने में सहयोग देते हैं।"[2]

एफ० डब्लू० ब्लैकमार तथा जे० एल० गिलीन के अनुसार "समाजशास्त्र समाज के उन तथ्यों का अध्ययन करता है जो मानव जाति के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।"[3]

एच० डब्लू० ओडम के अनुसार "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।"[4]

ई० ए० रॉस के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों का विज्ञान है।"[5]

एफ० एच० गिडिंग्स के शब्दों में "समाजशास्त्र सम्पूर्ण रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन व व्याख्या है।"

उपरोक्त विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है लेकिन कुछ विद्वानों द्वारा इस दृष्टिकोण की आलोचना भी की गई है तथा समाजशास्त्र समाज का समग्र रूप में अध्ययन कर सकता है, इस सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है। स्माल महोदय के अनुसार समाजशास्त्र समाज का अध्ययन अवश्य है लेकिन इसमें समाज के अन्दर होने वाली सभी क्रियाओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि सामाजिक क्रियाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। किसी भी सामाजिक विज्ञान के लिये इन समस्त क्रियाओं का अध्ययन करना सम्भव नहीं हो सकता। समाज में विभिन्न भाषायें, धर्म, विश्वास व राज्यों का

1. "Sociology is the name applied to a somewhat inchoate means of materials which embodies our knowledge of society."
—*Arthur Fair Banks* : Introduction to Sociology, p. 1.
2. "Sociology is the study of the basic structure of society and of the factors that play a part in weakening or strengthening that structure."
—*Meyer Weinberg and Sscar E. Shabat* : Society & Man.
3. "Sociology treats of phenomena of society arising from the association of mankind."
—*F. W. Blackmer and J. L. Gillin* : Outlines Sociology.
4. "Sociology, then, is the science which studies society."
—*H. W. Odum* : Understanding Society
5. "Sociology is the science of social phenomena."
—*E. A. Ross* : Foundations of Sociology.

मिश्रण होता है तथा समाज मे पाई जाने वाली समस्त संस्कृतियों एवं संस्थाओं का अध्ययन कोई भी एक शास्त्र एकाकी रूप में नहीं कर सकता। समाजशास्त्र को समाज का अध्ययन मानने के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि समाज का अध्ययन ज्ञान की अन्य शाखाओं के द्वारा भी किया जाता है अतः अन्य शास्त्रों से भेद स्पष्ट करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि यह कहा जाय कि समाजशास्त्र समाज का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से अध्ययन करता है।

2. समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन है

समाजशास्त्र को समूहों का अध्ययन भी कहा जाता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री **हेनरी जॉन्सन** ने प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र समूहों का विज्ञान है। समाजशास्त्र की धारणा बहुत विवादपूर्ण होने से, समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के विज्ञान के रूप मे ही परिभाषित किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से समूहों के ढाँचे, इन्हे बनाने एव परिवर्तित करने वाली प्रक्रियाओं तथा समूहों के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन समाजशास्त्र मे किया जा सकता है। इसी रूप में इसे कुछ अन्य समाजशास्त्रियो द्वारा भी परिभाषित किया गया है जैसे, **किम्बाल यंग** के अनुसार "समाजशास्त्र समूहो में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन है।"[1] **आगबर्न और निमकॉफ** के अनुसार "समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन तथा उन तत्वों का अध्ययन है जो उसकी संस्कृति, प्राकृतिक परिस्थिति, पैतृकता और समूह मे सम्बन्धित होते हैं।"[2] समाज विभिन्न मानव समूहों से ही बनता है। अतः समूहों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन ही समाजशास्त्र का विषय है।

3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है

समाजशास्त्र के विद्वानों की एक बहुत बड़ी संख्या समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन मानती है। इनके अनुसार समाज केवल सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है इसलिये समाजशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप मे स्पष्ट करना उचित है जो सामाजिक सम्बन्धो का व्यवस्थित रूप से अध्ययन कर सके। समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धो का महत्व होता है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है जैसे अनेक फूलो को धागे में पिरोकर माला का रूप बना दिया जाता है जहाँ कि अनेक फूलों में परस्पर सम्बन्ध होता है उसी प्रकार अनेक व्यक्तियों एव उनके समूहों के सम्बन्धित होने से समाज बनता है। जैसे माला में एक फूल का

1. "Sociology deals with the behaviour of man in groups."
—*Kimball Young* : Introductory Sociology, p. 13.
2. "Sociology is concerned with the study of the social life of man and its relations to the factor of culture, natural environment, heredity and the group."
—*Ogburn and Nimkoff* : A Hand Book of Sociology, p.

अस्तित्व दूसरे फूलों के बिना महत्वहीन है उसी प्रकार समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि वह सम्बन्धों के द्वारा दूसरी इकाइयों से जुड़ा हुआ है। सम्बन्धों की लड़ी से अलग होते ही सामाजिक इकाई के रूप में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। बहुत से व्यक्तियों के सम्बन्धों से ही समाज बनता है। मैकाइवर व पेज (MacIver & Page) का कथन है कि 'समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को समाज कहते हैं।"[1] सम्बन्धों का जाल जिस स्वरूप का पाया जाता है उसी के अनुसार समाज का स्वरूप बन जाता है। यदि सम्बन्धों के स्वरूप में परिवर्तन होता है तो समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है उदाहरण के लिए 19वीं शताब्दी में मजदूरों एवं उद्योगपतियों के जैसे सम्बन्ध थे वैसे आज नहीं हैं अतः समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन आ गया है। जहाँ तक सामाजिक सम्बन्धों के बनने का प्रश्न है। इनके बनने का मुख्य कारण मानवीय आवश्यकतायें हैं। एक व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता अपनी शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करना होता है जिससे समूह एवं समाज बनता है अतः समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। 'सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन' के रूप में विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।

"समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों, उनके विभिन्न प्रकारों, उनके स्वरूपों तथा जो उन्हें प्रभावित करते हैं और जो उनसे प्रभावित होते हैं, का वैज्ञानिक अध्ययन हैं।"[2]

—टी० एबल

"विस्तृत रूप में समाजशास्त्र को जीवधारी प्राणियों (Living beings) के एक दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं का अध्ययन माना जा सकता है।"[3]

—गिलिन-गिलिन

गिलिन ने जीवधारी प्राणियों का उल्लेख किया है इससे अध्ययन का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है लेकिन समाजशास्त्र का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों के सम्बन्धों से बने समाज से ही है।

1. "Sociology is about social relationships, the network of relationships we call society."
—*R. M. MacIver and C. H. Page* : Society, p. 5.
2. "Sociology is the scientific study of social relationships, their variety, thier forms, whatever affects them and whatever they affect." —*T. Able* : 'Sociology, Its Nature and Scope.'
3. "Sociology in its broadest sense may be said to be the study of interactions arising from the association of living beings."
—*J. L. Gillin & J. P. Gillin* : Cultural Sociology, p. 5.

"समाजशास्त्र व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों, उनके एक-दूसरे के व्यवहार और इन व्यवहारों को नियंत्रित करने वाले मापदण्डों का अध्ययन है।"[1]

—ई० टी० हिलर

"समाजशास्त्र मनुष्य और उसके एक-दूसरे के प्रति सम्बन्धों में मानवी परिस्थिति का अध्ययन है।"[2] —एच० पी० फेयरचाइल्ड

"समाजशास्त्र मानवीय संसर्ग (Assccıation) जो कुछ भी इसमें सहायता पहुँचाये या इसको परिवर्तित करे, का अध्ययन है।"[3] —डीले और वार्ड

"समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं की सार्थक व्याख्या करने का प्रयास करता है।"[4] —मैक्स वेबर

"समाजशास्त्र मनुष्यों के अन्तः सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।"[5]

—जार्ज सिमेल

"मनुष्य संघ को कैसे प्रभावित करते हैं तथा उससे कैसे प्रभावित होते हैं—इसका अध्ययन समाजशास्त्र है।"[6] —ए० डब्लू० स्माल

4. समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन

गिन्सबर्ग, सिमैल, आगबर्न आदि समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज का वास्तविक आधार सामाजिक सम्बन्ध नहीं बल्कि सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि उनका व्यवस्थित अध्ययन करना कठिन

1. "Sociology is the study of the relations between individuals, their conduct and reference to one another and the standards by which they regulate their associations."
—*E. T. Hiller* : Principles of Sociology, p. 3.
2. "Sociology is a study of man and his human environment in their relations with each other."
—*H. P. Fairchild* : 'General Sociology,' p. 90.
3. "Sociology is the study of human association, including whatever conduces to it as modifies it."
—*J.O. Dealey and L F. Ward* : Text Book of Sociology, p. 2.
4. "Sociology in the science which attempts the interpretative understanding of social actions."
—*Max Weber* : Theory of Social & Economic Organisation, p. 80.
5. "Sociology is the science of the form of humans interrelations." —*George Simmel.*
6. "Sociology is the study of men considered as affecting or affected by association."
—*A. W. Small* : General Sociol

है। ऐसी स्थिति में यदि समाजशास्त्र को केवल सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कहकर परिभाषित करें तो इसकी प्रकृति को सरलता से समझा जा सकता है। ग्रेगोरी तथा बिडगुड के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया और उसके प्रमुख परिणामों, संस्कृति और व्यक्तित्व का अध्ययन है।"[1] इसे सामाजिक अन्तः क्रियाओं से उत्पन्न सामान्य समस्याओं का अध्ययन भी कहा जा सकता है। रयूटर तथा हॉर्ट के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं से उत्पन्न होने वाली सामान्य समस्याओं का अध्ययन है, जो व्यक्तित्व के विकास और संस्कृति में परिवर्तन का कारण बतलाती है।"[2]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण एवं परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है उनमें भिन्नता होते हुए भी कुछ बातें स्पष्ट होती हैं जैसे:—

(1) समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है।

(2) समाज को समझने के लिये सामाजिक सम्बन्धों के जाल को समझना आवश्यक है।

(3) समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन है।

(4) सामाजिक जीवन और घटनाओं का अध्ययन है। सोरोकिन के अनुसार "प्रथम तो सामाजिक घटनाओं की विभिन्न श्रेणियों के सम्बन्धों और सहसम्बन्धों; द्वितीय सामाजिक और असामाजिक घटनाओं के बीच; तृतीय सामाजिक घटनाओं की समस्त श्रेणियों के सामान्य लक्षणों, जो सभी में सामान्य रूप से पाये जाते हैं, का अध्ययन है।"[3]

1. "Sociology may be defined as study of social process and the principal resultants, culture and personality."
—*Gregory and Bidgood* : Introductory Sociology, p. 9.
2. "......the general problems that sociology sets for social interactions that account for the development of personality and the changes in culture."
—*Reuter E. B. & Hart C.W.* : Introduction to Sociology, p. 6.
3. "It seems to be a study, first, of the relationships and correlations between various classes of social phenomena, (correlations between economic and religious, family and moral, judicial and economic, mobility and political phenomena, and so on); second, that between the social and the non-social (geographic, biological etc.) phenomena; third, the study of the general characteristics common to all classes of social phenomena."
—*P. Sorokin* : Contemporary Sociological Theories, p. 760-61.

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर समाज की विवेचना करता है तथा सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिए सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्त.क्रिया और सामाजिक मूल्यो के अध्ययन को आवश्यक मानता है। सूक्ष्म में यह वह शास्त्र है जो समाज में मनुष्यों के सम्बन्धों, उनके स्वरूपों, प्रकारों, कार्यों, घटनाओं आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

समाजशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Sociology)

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को दो प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है—

(क) एक विचारधारा के अनुसार यह एक विशेष विज्ञान है तथा इसमें कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए। इस विचारधारा के समर्थकों को स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School) कहा जाता है।

(ख) दूसरी विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है तथा इसके समर्थको को समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School) कहा जाता है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)

इस सम्प्रदाय में **सिमैल, वेबर, टॉनीज तथा वानविज** आदि विद्वान प्रमुख हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र एक नया विज्ञान है। यदि इसे सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने का प्रयास करेंगे तो इसका वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करना कठिन हो जावेगा। यदि समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाना है तो इसके अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों के एक विशेष पक्ष का ही अध्ययन किया जाना चाहिए। यदि समाजशास्त्र में सभी तरह के सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन करेंगे तो दूसरे सामाजिक विज्ञानो जैसे इतिहास, राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान,अर्थशास्त्र आदि पर निर्भर रहना पडेगा। इस दृष्टिकोण को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है।

1. **जार्ज सिमैल के विचार**–जर्मन समाजशास्त्री सिमैल (George Simmel) के अनुसार समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र एवं विशेष विज्ञान के रूप मे केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपो की ही विवेचनाओं एवं विश्लेषण से सम्बन्धित होना चाहिए। अपने कथन को स्पष्ट करने की दृष्टि से सिमैल ने सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में अन्तर किया है। *सिमैल के अनुसार सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं* का एक स्वरूप होता है तथा एक ही अन्तर्वस्तु। उदाहरण के लिए एक कुर्सी को देखें तो उसकी लम्बाई, ऊंचाई व बनावट उसके कुर्सी के स्वरूप को बतायेंगे लेकिन वह कुर्सी लकड़ी की बनी है या लोहे की अथवा पत्थर की यह विशेषता उसकी अन्तर्वस्तु

को बतायेगी। इसी प्रकार से सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भी अन्तर ठहराया जा सकता है। उदाहरण के रूप में सहयोग, अनुकरण, प्रभुत्व, श्रम विभाजन, प्रतिस्पर्द्धा आदि सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप है जबकि धर्म, दर्शन, राजनीति एवं आर्थिक संघ आदि सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु है जिसमें उपर्युक्त स्वरूप पाया जाता है। यह समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक शास्त्रों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करता है क्योंकि अन्य सामाजिक शास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करते हैं जबकि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के केवल स्वरूप का ही अध्ययन करता है। सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप कुल सम्बन्धों का एक विशेष भाग है अतः समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में ही रखना उचित होगा।

2. वीरकान्त के विचार—वीर कान्त (Vier Kantt) ने भी समाजशास्त्र को एक विशेष सामाजिक विज्ञान के रूप में 'सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन' माना है। आपके अनुसार समाजशास्त्र ऐसे मानसिक सम्बन्धों का अध्ययन है जो व्यक्तियों को एक समूह में या एक दूसरे से बांधे रहते हैं जैसे प्रेम, घृणा, यज्ञ, सम्मान, समर्पण आदि। समाजशास्त्र किसी विशेष समाज का ऐतिहासिक अध्ययन न होकर उन सम्बन्धों का अध्ययन है जो सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाये रखते हैं अथवा उस व्यवस्था में परिवर्तन करते हैं। इस दृष्टि से समाजशास्त्र को एक विशेष सीमा से बाहर जाना उचित नहीं है अतः यह एक विशेष विज्ञान है।

3. मैक्स वेबर के विचार—मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है अन्य शब्दों में इस शास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहारों को समझना तथा उनकी व्याख्या करना है। सामाजिक क्रियायें वे व्यवहार हैं जो अर्थपूर्ण होते हैं तथा अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र में केवल ऐसी ही सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।" वेबर के अनुसार सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन के द्वारा ही समाजशास्त्र के नियमों को तर्कसंगत एवं अनुभवसिद्ध बनाया जा सकता है। सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करने पर इसके नियमों में तर्क एवं अनुभव का अभाव हो सकता है। इसलिए समाजशास्त्र एक विशेष सामाजिक विज्ञान ही है।

4. टॉनीज के विचार—टॉनीज (Tonnies) ने समाजशास्त्र को 'विशुद्ध समाजशास्त्र' (Pure Sociology) की धारणा के आधार पर एक विशेष विज्ञान माना है। विशुद्ध समाजशास्त्र के रूप में इसमें अन्य सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु का मिश्रण नहीं होना चाहिये तथा इसके नियम भी अन्य विज्ञानों से पूर्णतः स्वतन्त्र होने चाहिए।

5. वॉनविज के विचार—वॉनविज (Vonwiese) ने सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों का उल्लेख करते हुए समाजशास्त्र के क्षेत्र को इन्हीं स्वरूपों के अध्ययन से सम्बन्धित मानते हुए समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान माना है। इस

प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में माना गया है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारकों की आलोचना भी की गई है। फिचर (Fichter) के अनुसार "इन्हें समाजशास्त्री न कहकर सामाजिक दार्शनिक कहना उचित होगा क्योंकि इन्होंने सामाजिक जीवन की व्यावहारिक प्रकृति को समझने का प्रयत्न नहीं किया है।" स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की विचारधारा को निम्न आधार पर दोषपूर्ण माना है।

1. नवीन विज्ञान के रूप में देखना उचित नहीं—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को 'नवीन' विज्ञान मानता है जिसके इसके अध्ययनक्षेत्र को सीमित रखना उचित माना गया है लेकिन यह उचित नही है क्योंकि भारत में तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों का इतिहास हजारों वर्ष पुराना रहा है। अत. यह कोई नवीन विषय नही।

2. स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान की धारणा गलत है—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की यह धारणा गलत है कि सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूप का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानो में नही किया जाता। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपो जैसे प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति, स्वामित्व, सघर्ष आदि का अध्ययन कानून शास्त्र मे बहुत ही व्यवस्थित रूप में किया जाता है। अतः इस आधार पर समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान नही बनाया जा सकता।

3. स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भेद नहीं किया जा सकता—सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को एक दूसरे से पृथक करना कठिन है। सारोकिन के अनुसार "यह विश्वास नही किया जा सकता कि सामाजिक संस्था (जैसे शिक्षा प्रणाली, विवाह पद्धति अथवा कानून) के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाने पर भी उनकी आन्तरिक विशेषतायें पूर्ववत बनी रहें। अतः यदि 'स्वरूप' एव 'अन्तर्वस्तु' का विभाजन ही गलत हो तो इस आधार पर समाजशास्त्र के क्षेत्र को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।"

4. स्वतन्त्र विज्ञान की धारणा गलत है—समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानो से पूर्णतः पृथक एवं स्वतन्त्र विज्ञान मानना उचित नहीं है क्योंकि यह सम्भव ही नहीं। वास्तविक रूप से देखें तो सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर निर्भर हैं। अतः इन विभिन्न आधारो पर स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारों को सही माना जा सकता है।

(ख) समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक सारोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस और गिन्सबर्ग आदि हैं। इनके अनुसार "समाजशास्त्र विशेष विज्ञान नहीं है। यह सामान्य विज्ञान है। सामान्य विज्ञान के रूप में यह समाज

का ही अध्ययन नहीं करता वल्कि सम्पूर्ण समाज की सभी सामान्य विशेपताओं का अध्ययन करता है।" इस धारणा के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं।

1. समाज की प्रकृति जीव रचना की तरह होना—समाज की प्रकृति एक जीव रचना की तरह है। जिस प्रकार जीव रचना में सभी अंग दूसरे से घनिष्ट रूप में सम्वन्धित होते हैं उसी पुकार समाज में भी सभी पक्ष एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्वन्धित होते हैं। अतः समाज को हम इसकी विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक सम्वन्ध को समझकर ही समझ सकते हैं क्योंकि समाज के एक भाग में होने वाला परिवर्तन उसके सभी भागों को प्रभावित करता है। समाजशास्त्र को एक विशेष एवं स्वतन्त्र विज्ञान वनाकर समाज का ठीक प्रकार से अध्ययन नहीं किया जा सकता।

2. समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना—समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना इसलिये भी आवश्यक है कि दूसरे सभी सामाजिक विज्ञान समाज के केवल एक विशेष भाग का ही अध्ययन करते हैं। सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करने वाला कोई अन्य सामाजिक विज्ञान न होने के कारण समाजशास्त्र को समाज का सामान्य दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए। सारोकिन, दुर्खीम एवं हॉव हाउस के विचार इस सम्वन्ध में निम्न प्रकार से हैं:—

(i) सारोकिन के विचार—सारोकिन (Pitrius Sorokin) के अनुसार सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं अतः किसी भी सामाजिक ज्ञान को पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से यह कार्य समाजशास्त्र का है कि वह विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्वन्धों अथवा सामान्य तत्वों का अध्ययन करे। अपने कथन को सारोकिन ने निम्नलिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है[1]—

आर्थिक (सम्वन्ध)	a, b, c, d, e, f
राजनीतिक	a, b, c, g, h, i
धार्मिक	a, b, c, j, k, l
वैधानिक	a, b, c, m, n, o
मनोरंजनात्मक	a, b, c, p. q, r

उक्त सूत्र से स्पष्ट है कि हम कोई भी किया करें आर्थिक या राजनीतिक, धार्मिक या वैधानिक या मनोरंजन सम्वन्धी, सभी में कुछ तत्व सामान्य अवश्य होते हैं जैसे कि ऊपर के उदाहरण a, b, c सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। अतः समाजशास्त्र का कार्य इन सामान्य अन्तर्सम्वन्धों का ही अध्ययन करना है। मैकाइवर के अनुसार "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्वन्धों में इसलिये नहीं कि वे सम्वन्ध आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक हैं वल्कि इसलिये है कि वे

1. *Sorokin* : Society, Culture and Personality, p. 7.

साथ ही सामाजिक भी होते हैं। अतः समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना चाहिए।"[1]

(ii) दुर्खीम के विचार—दुर्खीम (Emile Durkheim) ने समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान के माध्यम से एक सामान्य विज्ञान बनाने पर जोर दिया है। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को सर्वप्रथम एक विशेष विज्ञान का रूप मिलना चाहिए जिससे इसके पास भी अन्य विज्ञानों की तरह अपने स्वतन्त्र नियम हो सकें। इसके लिए समाजशास्त्र मे सबसे पहले उन सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया जाये जो सामूहिक प्रतिनिधानों (Collective Representations) का निर्माण करते हैं तथा जिनके द्वारा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। समाजशास्त्र के एक विज्ञान हो जाने पर यह आगे चलकर समाज को समझने के लिए अन्य विज्ञानो का सामान्यीकरण कर सकेगा तथा इससे यह अन्त मे एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बन जायेगा। दुर्खीम के अनुसार "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानो का विज्ञान है।" इसे स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि प्रत्येक समाज मे प्रथाओ व परम्पराओ के आधार पर कुछ सामूहिक विचारधाराएँ विकसित हो जाती हैं तथा समाज के सदस्य इन सामूहिक विचारधाराओ के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। सामज की सामूहिक भावनाएँ एक सामूहिक शक्ति का रूप ले लेती हैं। इस शक्ति को ही 'सामूहिक प्रतिनिधान' कहा जाता है। सामूहिक प्रतिनिधानों में दो विशेषताएँ होती हैं—(i) यह अनिवार्य रूप से सभी सदस्यो पर प्रभाव डालते हैं, तथा (ii) यह व्यक्ति की शक्ति से ऊपर होते हैं। इन सामूहिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करने से समाजशास्त्र समाज का सामान्य अध्ययन ही नहीं होगा बल्कि अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी रखेगा। श्री बाटोमोर (Battomore) के अनुसार, "यद्यपि दुर्खीम समाजशास्त्र की स्वायत्तता पर बल देने तथा समाजशास्त्र द्वारा अध्ययन की जाने वाली घटनाओ के विशिष्ट विस्तार को निर्धारित करने से सम्बन्धित था, फिर भी उसकी यह मान्यता नही थी कि समाजशास्त्र विश्वकोषीय विज्ञान बन सकता है अथवा यह कि इसका अध्ययन अन्य विज्ञानों से पृथक रहकर किया जा सकता है।"

(iii) हॉबहाउस के विचार—हॉबहाउस (Hobhouse) भी समाजशास्त्र को समाज का एक सामान्य विज्ञान मानता है। इस शास्त्र द्वारा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त परिणामों के सामान्य तत्त्वो को ढूंढकर उनका सामान्यीकरण किया जाता है। यह कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(क) सभी सामाजिक विज्ञानो की प्रमुख धारणाओ का सामान्यीकरण करके,
(ख) समाज को स्थायी रखने एवं परिवर्तन करने वाले घटकों को मालूम करके, तथा
(ग) सामाजिक विकास की प्रवृत्ति और दशाओ को ज्ञात क

1. *MacIver and Page* : Society.

उपरोक्त कार्य समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बनकर ही कर सकता है न कि एक विशेष विज्ञान बनकर।

निष्कर्ष

समाजशास्त्रियों के स्वरूपात्मक सम्प्रदाय व समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को क्रमशः विशेष सम्बन्धों व सामान्य सम्बन्धों से सम्बन्धित बताया है। दोनों सम्प्रदायों की धारणा ऊपर से एक दूसरे की विरोधी लगती है लेकिन वास्तविक रूप से देखा जाये तो ये विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक है। जिसे विशेष सम्बन्धों का समाजशास्त्र कहा जाता है उसमें कुछ सामान्य विशेषताएँ भी होती हैं तथा जिसे समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने 'सामान्य सम्बन्धों का समाजशास्त्र' माना है वहां कुछ विशेष सम्बन्ध भी पाये जाते हैं। व्यावहारिक रूप से देखें तो कोई भी समाजशास्त्र न तो पूर्णतः विशेष हो सकता है और न पूर्णतः सामान्य ही। अन्य शास्त्रों का सामान्य ज्ञान रखते हुए किसी एक प्रकार के सम्बन्धों का विशेष ज्ञान रखा जा सकता है। 'सामान्य' एवं विशेष साथ-साथ चलते हैं। उदाहरण के लिए एक हृदय चिकित्सक को हृदय चिकित्सा का विशेष ज्ञान होते हुए भी शरीर व उसके विभिन्न रोगों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार 'सभी रोगों की चिकित्सा करने वाले' चिकित्सक को हृदय रोग की चिकित्सा का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः सामान्य एवं विशेष दोनों ही आवश्यक हैं। इनका अनुपात अलग-अलग हो सकता है लेकिन किसी एक का पूर्ण अभाव नहीं। समाज एक जटिल व्यवस्था है जिसके लिए सामान्य एवं विशेष दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों का समान महत्त्व है। **अतः समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को विशेष या सामान्य सामाजिक सम्बन्धों से सीमित न करते हुए इसे 'सामाजिक सम्बन्धों' का अध्ययन कहना ही उचित है।** श्री मोटवानी के अनुसार "समाजशास्त्र पूर्ण जीवन को देखने की चेष्टा करता है और सम्पूर्ण इकाई को देखता है। यह एक भवन के समान सामाजिक जीवन के तथ्यों का सुव्यवस्थित पूर्ण समन्वय का सिद्धान्त और एक स्वतन्त्र विज्ञान, जो कि विलीनीकरण का अन्तिम परिणाम होता है, दोनों ही है।"[1]

समाजशास्त्र की विषयवस्तु
(Subject Matter of Sociology)

सामान्यतया अध्ययनक्षेत्र व विषयवस्तु को समान मान लिया जाता है लेकिन दोनों में ही आधारभूत अन्तर है। क्षेत्र का अर्थ उन सम्भावित सीमाओं से है जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन किया जा सकता है तथा विषयवस्तु उस निश्चित सामग्री से सम्बन्धित है जिसका कि समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है। अन्य शब्दों में क्षेत्र अनुमानित परिधि है, जबकि विषयवस्तु अध्ययन की वास्तविक सीमा

1. *Motwani K.* : 'Sociology'.

है। समाजशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्ट करने के बाद इसकी विषयवस्तु को समझना भी आवश्यक है। समाजशास्त्र द्वारा जिन सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है वह समाजशास्त्र की विषयवस्तु के अन्तर्गत आती है अर्थात् सभी सामाजिक सम्बन्ध, संस्थायें व प्रक्रियाएँ समाजशास्त्र की विषयवस्तु है। इसे विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया हैं।

गिन्सबर्ग द्वारा वर्गीकरण[1]

गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को चार भागों में विभाजित किया है—

(i) **सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)**—सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत समाज के आकार अथवा स्वरूप का निर्माण करने वाली समस्याएं सम्मिलित की जाती हैं जैसे जनसंख्या का आकार व गुण। इनके अतिरिक्त सामाजिक समूहों व संस्थाओं जिनका सामाजिक रचना पर प्रभाव पड़ता है, का भी अध्ययन किया जाता है।

(ii) **सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Processes)**—यह समाजशास्त्र की एक अन्य शाखा है। इसके अन्तर्गत मनुष्यों के मध्य या समूहों के मध्य पाये जाने वाले अन्तर-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है जैसे सहकारिता, विकास, अनुकरण, संघर्ष, प्रभुत्त्व, प्रतिस्पर्द्धा आदि।

(iii) **सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)**—इसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन में नियन्त्रण बनाए रखने वाले विषयों का अध्ययन किया जाता है जैसे धर्म, परम्परा, राजनीति, लोकनीति, नैतिकता, विश्वास व विधि संहिता (Legal codes) आदि।

(iv) **सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)**—सामाजिक व्याधिकी के अन्तर्गत सामाजिक समस्याओं तथा समाज की विघटित परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है जैसे अपराध, बाल अपराध, बेकारी, बीमारी, आत्महत्या आदि। इसमें अव्यवस्थाओं के सुधारने की पद्धतियों का भी अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त विषयवस्तु के आधार पर गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र के निम्नलिखित चार प्रमुख उद्देश्य बताये हैं—

(i) विभिन्न सामाजिक समूहों की प्रकृति और कार्यों का अध्ययन करना।

(ii) *विभिन्न संस्थाओं के मध्य पाये जाने वाले अन्तर्सम्बन्धों को तुलनात्मक* पद्धति से स्पष्ट करना।

(iii) सामाजिक विकास से सम्बन्धित नियमों को ज्ञात करना व तर्कपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करना।

1. *Ginsberg* : The Problems and Methods of Sociology, An article from the study of Society, p. 436-37.

(iv) जीवन के सामान्य नियमों की पृष्ठभूमि में सामाजिक नियमों की व्याख्या करना ।

दुर्खीम द्वारा वर्गीकरण

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र की विषयवस्तु सामाजिक तथ्य (Social fact) से सम्बन्धित है । उनके शब्दों में "सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह प्रत्येक तरीका है जिसमें व्यक्ति पर एक बाह्य दबाव डालने की क्षमता होती है ।"[1] सामाजिक तथ्य के आधार पर समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में विभाजित किया गया है ।

(i) **सामाजिक रचनाकार** (Social Morphology)—इसके अन्तर्गत जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव तथा सामाजिक संगठन से सम्बन्वित प्रभाव का अध्ययन किया जाता है । जनसंख्या का घनत्व व वितरण का भी अध्ययन किया जाता है ।

(ii) **सामाजिक दैहिकी** (Social Physiology)—इसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जैसे विधि, धर्म, भाषा, पारिवारिक जीवन आदि । ये सभी बड़े महत्त्वपूर्ण विषय हैं तथा इन पर पृथक समाजशास्त्र का निर्माण हो चुका है जैसे धर्म का समाजशास्त्र (Sociology of Religion), परिवार का समाजशास्त्र (Sociology of Family), विधि का समाजशास्त्र (Sociology of Law) आदि ।

(iii) **सामान्य समाजशास्त्र** (General Sociology)—इसके अन्तर्गत उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक नियमों व सामान्य हितों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है । यह समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग है ।

सारोकिन का वर्गीकरण

सारोकिन ने भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में विभाजित किया है—

(i) **विभिन्न वर्गों के मध्य सम्वन्ध**—समाज में विभिन्न वर्ग होते हैं तथा इन वर्गों में परस्पर सम्वन्ध होता है । यह सम्वन्ध समाजशास्त्र की विषय वस्तु है जैसे आर्थिक एवं धार्मिक क्रियाओं का सम्वन्ध, नैतिक एवं पारिवारिक सम्वन्ध, राजनीतिक एवं आर्थिक सम्वन्ध आदि ।

(ii) **असामाजिक एवं सामाजिक घटनाओं का सम्वन्ध**—असामाजिक एवं सामाजिक घटनाओं का पारस्परिक सम्वन्ध भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु है । जैसे भौगोलिक एवं जैविकीय दशाओं का सामाजिक जीवन पर प्रभाव ।

(iii) **सामान्य विशेषतायें**—सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं व लक्षणों का अध्ययन भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु है ।

1. *Durkheim* : The Rules of Sociological Methods.

मेकाइवर के अनुसार विषयवस्तु

मेकाइवर के अनुसार समाजशास्त्र की विषय वस्तु सामाजिक सम्बन्ध है। मनुष्य के जीवन के अनेक पक्ष हैं जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि। इन सबका सामाजिक पक्ष होता है। समाजशास्त्र इनके सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।

केवल मोटवानी का वर्गीकरण

मोटवानी (Motwani) ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को निम्न कार्यों के आधार पर स्पष्ट किया है:—

(i) उन सिद्धान्तों की खोज करना जिनसे सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्वों में सामंजस्य स्थापित है,

(ii) सामाजिक संस्थाओं के विकास, प्रकृति, कार्यों और अन्तःसम्बन्धों की व्याख्या करना;

(iii) सामाजिक सगठन के उन तत्वों की ओर सकेत करना जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं;

(iv) सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत करना;

(v) उन सामाजिक शक्तियों और घटकों के समन्वय पर जोर देना जो व्यक्ति तथा समूह की प्रगति में सहायक है।

जार्ज सिमेल (George Simmel) के अनुसार केवल सामाजिक प्रक्रियाएँ *(Social Processes) ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु हैं।* *रियूटर व हार्ट* (Reuter and Hart) के अनुसार समाजशास्त्र की विषयवस्तु (i) सामाजिक विरासत, (ii) व्यक्तित्व व उसके विकास तथा (iii) सामाजिक प्रक्रिया के रूप में तीन भागों में विभाजित की जा सकती है।

इस प्रकार से समाजशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को स्पष्ट किया है तथा इनमे भिन्नता भी मिलती है। अमेरिका मे आयोजित एक गोष्ठी में कुछ विद्वानो ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को स्पष्ट करने हेतु एक रूपरेखा बनाने का प्रयास किया जिससे उसमें सभी प्रमुख विधियों का समावेश हो सके। इस रूपरेखा के आधार पर अमेरिकन सोसियोलोजिकल रिव्यू (American Sociological Review) में समाजशास्त्र की विषयवस्तु को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है।[1]

समाजशास्त्र की विषयवस्तु की रूपरेखा

I. समाजशास्त्रीय विश्लेषण

1. मानव-संस्कृति और समाज

1. *Ales Inkles* : What is Sociology, Chap. 1.

2. समाजशास्त्रीय स्वरूप
3. सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति

II. **सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयाँ**

1. सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध
2. मानव का व्यक्तित्व
3. समूह (प्रजाति और वर्ग भी सम्मिलित हैं)
4. समुदाय : नगरीय और ग्रामीण
5. समितियाँ तथा संगठन
6. जनसंख्या
7. समाज

III. **आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ**

1. परिवार तथा नातेदारी
2. आर्थिक संस्थाएँ
3. राजनीतिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ
4. धार्मिक संस्थाएँ
5. शैक्षणिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ
6. मनोरंजनात्मक व कल्याणकारी संस्थाएँ
7. कलात्मक तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ

IV. **मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ**

1. विभेदीकरण तथा स्तरीकरण
2. सहयोग, समायोजन तथा सात्मीकरण
3. सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति और युद्ध)
4. संचार (जिसमें जनमत-निर्माण तथा परिवर्तन भी सम्मिलित हैं)
5. सामाजीकरण तथा सैद्धान्तीकरण
6. सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन)
7. सामाजिक व्याधिकी (अपराध तथा आत्महत्या आदि)
8. सामाजिक एकीकरण
9. सामाजिक परिवर्तन

उपर्युक्त तालिका समाजशास्त्र की विषयवस्तु को बड़ी मात्रा में स्पष्ट करती है। इसमें सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश कर लिया गया है लेकिन इसके सम्बन्ध में भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि यह तालिका पूर्ण है। समाजशास्त्र की प्रकृति परिवर्तनशील होने से इसकी विषयवस्तु में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। लेकिन उपर्युक्त विषय ऐसे हैं जिनको सामाजिक संरचना एवं सामाजिक सम्बन्धों से पृथक नहीं किया जा सकता।

समाजशास्त्रीय अध्ययन की सीमाएं
(Limitations of Sociological Study)

समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र व विषय-वस्तु के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इस शास्त्र का दृष्टिकोण अन्य सामाजिक विज्ञानों से भिन्न प्रकार का है। अन्य विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र की भी कुछ सीमाएं हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. सभी प्रकार के व्यापारों का अध्ययन नहीं— समाजशास्त्र मनुष्य के समस्त व्यवहारों का अध्ययन नहीं करता बल्कि केवल सामाजिक व्यवहारों का ही अध्ययन करता है, उदाहरण के लिए समाजशास्त्र मनुष्य की वस्तुओं के क्रय, विक्रय, संगीत आदि के व्यवहार का अध्ययन नहीं करता।

2. समाजशास्त्र केवल मानवीय समाज की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन है।

3. समाज विशेष का अध्ययन नहीं—समाजशास्त्र किसी विशेष समाज की विशेष दशाओं का अध्ययन नहीं करता बल्कि इसके अन्तर्गत समाज के सामान्य नियमों व विशेषताओं का ही अध्ययन किया जाता है।

4. दर्शन एवं आदर्श से सम्बन्धित नहीं—दर्शन का सम्बन्ध 'क्या होना चाहिए' से होता है लेकिन समाजशास्त्र यथार्थ व वर्तमान का ही अध्ययन करता है। साथ ही यह उन्हीं घटनाओं का अध्ययन करता है जिनका विवेक के आधार पर विश्लेषण और परीक्षण किया जा सकता है।

5. विभिन्न शास्त्रों की खिचड़ी नहीं—समाजशास्त्र में किसी घटना को प्रभावित करने वाली सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि घटकों का अध्ययन किया जाता है लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि यह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों की खिचड़ी मात्र है। इसका अपना अध्ययन क्षेत्र है जो सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन से सम्बन्धित है।

समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Sociology)

समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में भी समाजशास्त्रियों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। इसे विज्ञान माना जाय या नहीं। इसके लिए विज्ञान को समझना आवश्यक है। विज्ञान का आशय केवल भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र एवं जीवशास्त्र से न होकर ज्ञान के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। कोई भी विषय जिसमें तथ्यों को विवेकपूर्ण पद्धति से एकत्र करके नियम एवं सिद्धान्तों का निर्माण कर सकते हों उसे विज्ञान कहा जाता है। कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) के अनुसार "तथ्यों का वर्गीकरण, उनका क्रम और तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व प्रदान करना ही विज्ञान का प्रमुख कार्य है"। इसी बात को ग्रूव्ज एवं मूरे (Grooves and Moore) ने भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार "विज्ञान मस्तिष्क की प्रवृत्ति है, अपने चारों ओर संसार को देखने की एक विधि है तथा

दर्शन है।" विज्ञान विचार करने का एक ढंग है। जहाँ भी अध्ययन एवं विचार करने हेतु वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है वही विज्ञान है। वैज्ञानिक पद्धति में निम्न पाँच मुख्य विशेषताएँ होती हैं—

1. वैज्ञानिक पद्धति अवलोकन पर बल देती है।
2. विचारों की वास्तविकता की परीक्षा करने का प्रयास करती है।
3. यह उन विधियों व प्रयोगों को विकसित करती है जिनसे वास्तविकता की परीक्षा हो सके।
4. ऐसी प्रविधियों का आविष्कार करती है जिससे विचारों की परीक्षा एवं उनको मापा जा सके।
5. वैज्ञानिक पद्धति का ध्यान "क्या है" पर होता है न कि "क्या होना चाहिए" पर।

अतः विज्ञान का अर्थ ज्ञान की उस क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित स्थिति से है जो वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित हो तथा निश्चित निष्कर्ष देने की क्षमता रखता हो। कोई भी विषय जिसमें निम्नलिखित विशेषताओं का समावेश हो वह 'विज्ञान' होता है—

1. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया हो,
2. वास्तविक तथ्यों अर्थात् 'क्या है' का विवेचन किया गया हो,
3. निष्कर्ष सार्वभौमिक हो अर्थात् जिनकी सत्यता को हर स्थान पर प्रमाणित किया जा सकता हो,
4. कार्य एवं कारण के सम्बन्ध की व्याख्या हो, तथा
5. वास्तविक घटनाओं के आधार पर भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता हो।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट किया जा सकता है।

क्या समाजशास्त्र विज्ञान है?
(Is Sociology a Science?)

वैज्ञानिक पद्धति एवं विज्ञान की विशेषताओं के आधार पर समाजशास्त्र को 'विज्ञान' माना जाता है तथा इसकी पुष्टि निम्नलिखित तर्कों से की जा सकती है।

1. वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है—प्राकृतिक विज्ञान जैसे भौतिक एवं रसायन विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में भी तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता है। समाज के कुछ तथ्य मूर्त (Concrete) होते हैं तो कुछ अमूर्त (Abstract)। इनका अध्ययन तुलनात्मक पद्धति, निगमन व आगमन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, समाजमिति पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सामाजिक अवलोकन एवं सर्वेक्षण पद्धति व ऐतिहासिक पद्धति आदि के द्वारा किया जाता है। इनके द्वारा तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण व उनकी प्रामाणिकता को स्पष्ट करके

निष्कर्ष के रूप में सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित एवं विवेकपूर्ण अध्ययन होने से समाजशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है।

2. वास्तविक घटनाओं का विवेचन करता है—समाजशास्त्र का 'आदर्श' से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वास्तविक स्थिति 'क्या है' का ही विश्लेषण करता है। 'क्या होना चाहिए' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह सामाजिक तथ्यों को जैसे है वैसे ही प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए समाजशास्त्र केवल यह स्पष्ट करता है कि अपराध क्या है, क्यों होते हैं, कितने होते हैं ? वे होने चाहिये या नहीं होने चाहिए इसमें समाजशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक का विश्लेषण करने से समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।

3. नियमों की परीक्षा व पुनर्परीक्षा सम्भव है—अन्य विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र के नियमों व सिद्धान्तों की प्रमाणिकता की सत्यता की परीक्षा व पुनर्परीक्षा की जा सकती है। उदाहरण के लिये कुछ विशेष परिस्थितियों में जो कारण एक स्थान पर अपराधों को जन्म देते हैं, उन्हीं परिस्थितियों के कारण दूसरे स्थानों पर भी अपराध को जन्म देते हैं तथा कोई भी व्यक्ति इनकी प्रमाणिकता की जाँच कर सकता है। ऐसी परीक्षा सम्भव होने के कारण समाजशास्त्र विज्ञान की परिधि में आता है।

4. कार्य-कारण के सम्बन्ध पर आधारित है—किन कारणों का क्या परिणाम व कार्य होगा यह समाजशास्त्र स्पष्ट करता है। किसी घटना के वास्तविक रूप को स्पष्ट करके ही समाजशास्त्र अलग नहीं होता बल्कि उनके कारणों की भी व्याख्या की जाती है। दुर्खीम का आत्म हत्या का सिद्धान्त व मैक्स वेबर की प्रोटेस्टेण्ट और पूँजीवाद की विवेचना इसके अच्छे उदाहरण हैं। गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने कार्य-कारण के आधार पर ही समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना है।

5. वर्तमान के आधार पर भविष्य का संकेत करता है—समाजशास्त्र वर्तमान घटनाओं की व्याख्या के आधार पर भविष्य की सम्भावित परिस्थितियों की ओर भी संकेत करता है। उदाहरण के लिये समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था में वर्तमान में हो रहे परिवर्तनों की व्याख्या के साथ-साथ उनके आधार पर भविष्य में होने वाली सामाजिक व्यवस्था के बारे में भी बताता है। वर्तमान में हो रहे शिक्षा के प्रसार व जागरूकता से भविष्य में रूढ़िवादिता व कुरीतियों के समाप्त होने की बात कही जा सकती है।

6. नियमों का सर्वव्यापी होना—समाजशास्त्र के नियम व सिद्धान्त भी सर्वव्यापी हैं। निर्धारित परिस्थितियों में वे प्रत्येक स्थान एवं समय पर समान रूप से लागू होते हैं। उदाहरण के लिये 'सामाजिक सम्बन्धों में तनाव सामाजिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न करेगा' साधनों का विकास न होने पर 'अधिक जनसंख्या निर्धनता तथा बेकारी को जन्म देगी' आदि सर्वव्यापी नियम हैं। समाजशास्त्र के

दर्शन है।" विज्ञान विचार करने का एक ढंग है। जहाँ भी अध्ययन एवं विचार करने हेतु वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है वही विज्ञान है। वैज्ञानिक पद्धति में निम्न पाँच मुख्य विशेषताएँ होती हैं—

1. वैज्ञानिक पद्धति अवलोकन पर बल देती है।
2. विचारों की वास्तविकता की परीक्षा करने का प्रयास करती है।
3. यह उन विधियों व प्रयोगों को विकसित करती है जिनसे वास्तविकता की परीक्षा हो सके।
4. ऐसी प्रविधियों का आविष्कार करती है जिससे विचारों की परीक्षा एवं उनको मापा जा सके।
5. वैज्ञानिक पद्धति का ध्यान "क्या है" पर होता है न कि "क्या होना चाहिए" पर।

अतः विज्ञान का अर्थ ज्ञान की उस क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित स्थिति से है जो वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित हो तथा निश्चित निष्कर्ष देने की क्षमता रखता हो। कोई भी विषय जिसमें निम्नलिखित विशेषताओं का समावेश हो वह 'विज्ञान' होता है—

1. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया हो,
2. वास्तविक तथ्यों अर्थात् 'क्या है' का विवेचन किया गया हो,
3. निष्कर्ष सार्वभौमिक हो अर्थात् जिनकी सत्यता को हर स्थान पर प्रमाणित किया जा सकता हो,
4. कार्य एवं कारण के सम्बन्ध की व्याख्या हो, तथा
5. वास्तविक घटनाओं के आधार पर भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता हो।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट किया जा सकता है।

क्या समाजशास्त्र विज्ञान है?
(Is Sociology a Science?)

वैज्ञानिक पद्धति एवं विज्ञान की विशेषताओं के आधार पर समाजशास्त्र को 'विज्ञान' माना जाता है तथा इसकी पुष्टि निम्नलिखित तर्कों से की जा सकती है।

1. वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है—प्राकृतिक विज्ञान जैसे भौतिक एवं रसायन विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में भी तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता है। समाज के कुछ तथ्य मूर्त (Concrete) होते हैं तो कुछ अमूर्त (Abstract)। इनका अध्ययन तुलनात्मक पद्धति, निगमन व आगमन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, समाजमिति पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सामाजिक अवलोकन एवं सर्वेक्षण पद्धति व ऐतिहासिक पद्धति आदि के द्वारा किया जाता है। इनके द्वारा तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण व उनकी प्रामाणिकता को स्पष्ट करके

निष्कर्ष के रूप मे सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं । सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित एवं विवेकपूर्ण अध्ययन होने से समाजशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है ।

2. वास्तविक घटनाओं का विवेचन करता है—समाजशास्त्र का 'आदर्श' मे कोई सम्बन्ध नही है। यह वास्तविक स्थिति 'क्या है' का ही विश्लेषण करता है। 'क्या होना चाहिए' मे इसका कोई सम्बन्ध नही। यह सामाजिक तथ्यो को जैसे है वैसे ही प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए समाजशास्त्र केवल यह स्पष्ट करता है कि अपराध क्या है, क्यों होते हैं, कितने होते हैं ? वे होने चाहिये या नही होने चाहिए इनसे समाजशास्त्र का कोई सम्बन्ध नही है। वास्तविक का विश्लेषण करने से समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है ।

3. नियमों की परीक्षा व पुनर्परीक्षा सम्भव है—अन्य विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र के नियमो व सिद्धान्तों की प्रमाणिकता की सत्यता की परीक्षा व पुनर्परीक्षा की जा सकती है। उदाहरण के लिये कुछ विशेष परिस्थितियो मे जो कारण एक स्थान पर अपराधों को जन्म देते हैं, उन्ही परिस्थितियों के कारण दूसरे स्थानों पर भी अपराध को जन्म देते हैं तथा कोई भी व्यक्ति इनकी प्रमाणिकता की जांच कर सकता है। ऐसी परीक्षा सम्भव होने के कारण समाजशास्त्र विज्ञान की परिधि में आता है ।

4. कार्य-कारण के सम्बन्ध पर आधारित है—किन कारणों का क्या परिणाम व कार्य होगा यह समाजशास्त्र स्पष्ट करता है। किसी घटना के वास्तविक रूप को स्पष्ट करके ही समाजशास्त्र अलग नही होता बल्कि उसके कारणों की भी व्याख्या की जाती है। दुर्खीम का आत्म हत्या का सिद्धान्त व मैक्स वेबर की प्रोटेस्टेण्ट और पूँजीवाद की विवेचना इसके अच्छे उदाहरण हैं। गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने कार्य-[illegible]ण के आधार पर ही समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना है ।

5. वर्तमान के आधार पर भविष्य का संकेत करता है—समाजशास्त्र [illegible]मान घटनाओं की व्याख्या के आधार पर भविष्य की सम्भावित परिस्थितियों की [illegible]र भी संकेत करता है। उदाहरण के लिये समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था में [illegible]र्तमान में हो रहे परिवर्तनो की व्याख्या के साथ-साथ उनके आधार पर भविष्य मे [illegible]ोने वाली सामाजिक व्यवस्था के बारे में भी बताता है। वर्तमान में हो रहे शिक्षा [illegible] प्रसार व जागरूकता से भविष्य में रूढ़िवादिता व कुरीतियों के समाप्त होने की [illegible]त कही जा सकती है ।

6. नियमों का सर्वव्यापी होना—समाजशास्त्र के नियम व सिद्धान्त भी सर्वव्यापी हैं। निर्धारित परिस्थितियों में वे प्रत्येक स्थान एवं समय पर समान रूप से लागू होते हैं। उदाहरण के लिये 'सामाजिक सम्बन्धों में तनाव सामाजिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न करेगा' साधनों का विकास न होने पर 'अधिक जनसंख्या निर्धनता तथा बेकारी को जन्म देगी' आदि सर्वव्यापी नियम हैं। स

नियम सामाजिक होते हुए भी सर्वव्यापी हैं अतः इस आधार पर भी समाजशास्त्र विज्ञान है।

वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध आपत्तियाँ
(Objections against its Scientific Nature)

कुछ विद्वान समाजशास्त्र को वैज्ञानिक प्रकृति का नहीं मानते। उनके अनुसार समाजशास्त्र के सिद्धान्तों व नियमों में निश्चितता का अभाव है। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

1. सामाजिक घटनाओं की जटिलता—सामाजिक घटनाएँ बहुत जटिल होती हैं। इन घटनाओं तथा इनके तथ्यों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। समान प्रकृति के सामाजिक सम्बन्ध भी स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव एवं योग्यता तथा उसके पद की स्थिति में भिन्नता होती है। परिणामस्वरूप अध्ययनकर्ता अपनी भावनाओं व विश्वासों के अनुसार निर्णय करते हुए निष्पक्ष नहीं रहता। अतः तथ्यों की जटिलता परिवर्तनशीलता तथा अनुसन्धानकर्ता में वैज्ञानिक प्रवृत्ति के अभाव से सामाजिक अध्ययनों में वैज्ञानिकता नहीं आ सकती।

खण्डन—समाजशास्त्र एक नया विषय है अतः इस कारण जटिल है लेकिन इस आधार पर वैज्ञानिक न मानना ठीक नहीं क्योंकि जटिल है या नहीं यह अध्ययन करने वाले व्यक्ति के ज्ञान पर निर्भर करता है।

2. सामाजिक घटनाओं की माप में कठिनाई—सामाजिक घटनाओं को ठीक-ठीक नापा नहीं जा सकता केवल सामान्य प्रवृत्ति ही बताई जा सकती है। सामाजिक घटनाओं के अमूर्त होने से गणित द्वारा निष्कर्ष निकालना भी कठिन है। अधिकांश निष्कर्ष अनुमान एवं अवलोकन पर ही निर्भर होते हैं। सही माप के अभाव में समाजशास्त्र को वैज्ञानिक कहना उचित नहीं है।

खण्डन—विज्ञान होने के लिये माप का होना सदैव अनिवार्य नहीं। लुण्डबर्ग[1] (Lundberg) के अनुसार आज से हजारों वर्ष पूर्व रोगी के ज्वर को ठीक-ठीक मापने की आधुनिक विधियाँ नहीं थी तथा अनुमान के आधार ही चिकित्सा की जाती थी तथा चिकित्सा को विज्ञान माना ही जाता था। मापने की सुविधा विज्ञान के लिये एक सहायक तत्त्व ही है न कि आवश्यक तत्त्व।

3. निष्पक्षता का अभाव—सामान्यतः जो व्यक्ति अध्ययन करता है वह भी समाज का एक सदस्य होता है अतः वह अपने पूर्वाग्रहों, धर्म, जाति व परम्पराओं के कारण निष्पक्ष होकर तथ्यों का अध्ययन नहीं कर सकता। लेकिन प्राकृतिक विज्ञान जैसे रसायन शास्त्र व भौतिक शास्त्र में वह निष्पक्ष रहकर अध्ययन कर सकता है। इस आधार पर समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

1. *Lundberg* : Social Research.

खण्डन— समाजशास्त्र के अध्ययन को भी वर्तमान में अध्ययन करने हेतु अपनाई जाने वाली पद्धतियों से निष्पक्ष बनाया जा सकता है, साक्षात्कार की प्रक्रिया प्रश्नावली द्वारा सूचनाओं के संकलन में पक्षपात के अवसर कम किये जा सकते हैं।

4. प्रयोगशाला का अभाव—समाजशास्त्र में अध्ययन करने के लिये प्रयोगशाला का अभाव पाया जाता है जो कि वैज्ञानिक अध्ययन के लिये आवश्यक है। गार्नर (Garner) के अनुसार *जिज्ञासा के समाधान के लिये "हम समाज के किसी* भी भाग को हाथ में लेकर और उसको विभिन्न कारणों से देखकर उस प्रकार का हल नहीं कर सकते जिस प्रकार अन्य विज्ञानों में किया जा सकता है।"[1] सामाजिक *घटना के अध्ययन के लिये न तो भीड़ ही एकत्र की जा सकती है और न समाज पर* एक व्यक्ति का क्या प्रभाव पड़ रहा है इसको देखने के लिये एक व्यक्ति को दस वर्ष तके कमरे में ही रोका जा सकता है । अतः प्रयोगशाला के अभाव में समाजशास्त्र वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता।

खण्डन—यह सत्य है कि समाजशास्त्र में प्रयोगशाला का अभाव है लेकिन इसके वैज्ञानिक अध्ययन होने के लिये यह अनिवार्य भी नहीं है। समाजशास्त्र की प्रयोगशाला तो सम्पूर्ण समाज ही है यदि समाजशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन बन्द प्रयोगशाला में नहीं होता तो इस आधार पर विज्ञान न मानना उचित नहीं है। न्यूटन, गैलीलियो, मारकोनी जैसे वैज्ञानिको ने वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन खुले वातावरण में ही किया था।

5. भविष्यवाणी करने के अयोग्य—समाजशास्त्र के नियमों में भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं है क्योंकि सामाजिक घटनाओं में तेजी से हो रहे परिवर्तनों के कारण समाज की विशेषताओं में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इससे निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती अतः इसे विज्ञान नहीं माना जा सकता।

खण्डन—उपरोक्त तर्क भी एकपक्षीय है। अन्य शास्त्र जिनकी प्रकृति वैज्ञानिक है वहाँ भी पूर्ण निश्चितता सदैव होती हो ऐसा नहीं है। लुण्डबर्ग ने इस आरोप का खण्डन करने के लिये उदाहरण दिया कि गुरुत्वाकर्षण का नियम यह बताता है कि समान भार एवं आकार की वस्तुएँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से समान प्रकार से प्रभावित होंगी लेकिन यदि एक मीनार से कागज के समान भार व आकार के टुकड़े गिराये जाएँ तो देखते हैं कि यह नियम सही रूप में लागू नहीं होता क्योंकि उस समय विद्यमान अन्य भौतिक कारण कागजों के गिरने की स्थिति को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार ऋतुओं के बारे में पूर्णतः सत्य भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अतः इस आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक मानना ठीक नहीं

1. "We cannot take a portion of commodity in hand view it in different aspects and place it in different positions in order to solve social problems and satisfy our speculative curiosity"

है। वास्तविक रूप से देखा जाए तो प्रत्येक विज्ञान के नियम कुछ निश्चित सीमा में ही सत्य होते हैं तथा समाजशास्त्र के नियम भी निश्चित सीमाओं में सत्य पाये जाते हैं। पार्सन्स (Parsons) का यह कथन कि "सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित किसी प्रक्रिया की दशा और गति में तब तक परिवर्तन नहीं होगा जब तक कि कोई विरोधी प्रेरणात्मक शक्ति उसके सामने बाधा न उत्पन्न कर दें।" उतना ही सत्य है जितना कि किसी प्राकृतिक विज्ञान का नियम। अतः समाजशास्त्र की प्रकृति भी वैज्ञानिक है यदि किन्हीं परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने से इसकी भविष्यवाणी पूर्णतः सत्य न निकले तो इस आधार पर इसे अवैज्ञानिक कहना उचित नहीं। कोई भी शास्त्र जहाँ वैज्ञानिक विधि से तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण तथा सत्यापन करके निष्कर्ष निकाले जाते है वह विज्ञान होता है। अतः समाजशास्त्र की प्रकृति भी वैज्ञानिक है। यह उतना निश्चित तो नहीं है जितना कि अन्य प्राकृतिक विज्ञान क्योंकि सामाजिक शास्त्र का सम्बन्ध मानवीय तत्त्व से अधिक होता है। लेकिन इस आधार पर इसे अवैज्ञानिक भी नहीं कहा जा सकता।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति
(Real-Nature of Sociology)

समाजशास्त्र की प्रकृति से सम्बन्धित विवाद का निराकरण करते हुए इसकी वैज्ञानिक प्रकृति की कुछ सीमाओं का उल्लेख बीरस्टीड (Biersted) द्वारा निम्न प्रकार किया गया है।[1]

(1) **समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान है, प्राकृतिक विज्ञान नहीं**—समाजशास्त्र सामाजिक तथ्य एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन है जबकि प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन करते हैं। अतः समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञान कहना चाहिए न कि केवल विज्ञान।

(2) **समाजशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है न कि आदर्श विज्ञान**—समाजशास्त्र वास्तविक परिस्थिति 'क्या है' का ही अध्ययन करता है न कि आदर्श का कि क्या होना चाहिए। समाजशास्त्र वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर क्या परिणाम होंगे? यही बताता है। वे अच्छे या बुरे कैसे भी हो सकते हैं। समाज के हित में क्या होना चाहिए यह नहीं बताना। अतः यह एक वास्तविक विज्ञान है।

(3) **विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं**—विशुद्ध विज्ञान सैद्धान्तिक होता है जबकि व्यावहारिक विज्ञान का कार्य सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करना होता है। उदाहरण के लिये जीव विज्ञान विशुद्ध विज्ञान है जबकि चिकित्सा विज्ञान व्यावहारिक विज्ञान है। समाजशास्त्र भी मानव-समाज से सम्बन्धित ज्ञान का संग्रह है। उसके उपयोग करने से सम्बन्धित नहीं है। इनके उपयोग का कार्य

1. *Robert Biersted* : The Social Order.

अन्य सामाजिक विज्ञानों के द्वारा किया जाता है। अतः समाजशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है।

4. समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है, मूर्त विज्ञान नहीं—समाजशास्त्र में मानव सम्बन्धों का अध्ययन होता है जो कि अमूर्त है। बीरस्टीड के अनुसार "समाजशास्त्र मानवीय घटनाओं के मूर्त-प्रदर्शन में विश्वास नहीं करता बल्कि उन स्वरूपों और प्रतिमानों को मान्यता देता है जो इन घटनाओं से सम्बन्धित है।" अतः समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है।

. 5. समाजशास्त्र तार्किक एव अनुभवसिद्ध विज्ञान है—समाजशास्त्र के अध्ययन में तर्क व अनुभव का विशेष महत्व है। वैज्ञानिक पद्धति का अध्ययन में प्रयोग करने से समाजशास्त्र तार्किक विज्ञान है। कुछ सामाजिक तथा इस प्रकार के भी होते हैं जिन्हें तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता केवल अनुभव के आधार पर उन्हें स्पष्ट किया जा सकता है जैसे धार्मिक विश्वास, लोकाचार आदि। अतः सनाजशास्त्र अनुभव सिद्ध विज्ञान भी है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति को तालिका के रूप में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की प्रकृति

समाजशास्त्र क्या है	समाजशास्त्र क्या नहीं है
1. सामाजिक विज्ञान है	1. प्राकृतिक (Natural) विज्ञान नहीं है।
2. वास्तविक (Position) विज्ञान है	2. आदर्शात्मक(Normative) विज्ञान नहीं है।
3. विशुद्ध (Pure) विज्ञान है	3. व्यावहारिक (Applied) विज्ञान नहीं है।
4. अमूर्त (Abstract) विज्ञान है	4. मूर्त (Concrete) विज्ञान नहीं है।
5. सामान्य (General) विज्ञान है	5. विशेष (Special) विज्ञान नहीं है।
6. तर्किक और अनुभवसिद्ध है (Logical & Empirical) विज्ञान है	

अतः यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान तो है लेकिन प्राकृतिक विज्ञान के समान नहीं है। इसके अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है तथा इसके सिद्धान्त व नियम निश्चित सीमाओं में सत्य प्रसिद्ध होते हैं अतः यह एक विज्ञान है।

समाजशास्त्र का महत्व
(Importance of Sociology)

समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो सामाजिक घटनाओं के विभिन्न कारणों को समाज की विभिन्न दशाओं की पृष्ठभूमि की दृष्टि

समाजशास्त्र के अतिरिक्त जो अन्य सामाजिक विज्ञान है जैसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भूगोलशास्त्र आदि किसी भी समस्या का अध्ययन केवल एक विशेष दृष्टिकोण से ही करते हैं। समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों का विज्ञान होने से प्रत्येक परिस्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण करके समाज की समस्याओं के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र के महत्व का स्पष्ट करते हुए बार्न्स (H. E. Barnes) ने कहा है कि "समाजशास्त्र इतना महत्त्वपूर्ण विषय है जो सभी सामाजिक अन्वेषणों में कार्य करता है, उन्हें घोषित करता है तथा स्वयं भी विभिन्न खोजों से शक्ति प्राप्त करता है, विभिन्न अनुसन्धानों को प्रेरणा देता है, परिणामों को सही बनाता है तथा सम्पूर्ण जीवन को कुछ भागों में विभक्त करके तथा उसके उपरान्त उनका अध्ययन करके सम्पूर्ण जीवन के व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत करता है।" इस प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के समझने में वहुत सहायता प्रदान करता है। विभिन्न शीर्षकों में इसके महत्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता हैं।

1. मानव एकता का आधार (Uniting tie of entire race)—समाजशास्त्र ने हमारे ज्ञान का विकास किया है। मानव का सम्बन्ध एक समूह तक ही सीमित न रहकर राष्ट्रीय स्तर तक होता जा रहा है। समाजशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी मनुष्यों की उत्पत्ति एक ही 'आदि मानव' (Homeo-sapiens) द्वारा हुई है तथा इस आधार पर विभिन्न भेदभावों को छोड़कर सभी समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार किया जाना चाहिए। यह जाति, धर्म व राष्ट्रीयता आदि के बन्धनों को छोड़कर विभिन्न मानव समूहों को एक दूसरे के निकट लाकर मानवीय एकता को बढ़ाने हेतु आधार प्रदान करता है। यह संकीर्णता के घेरे को तोड़कर 'एक विश्व' (One word) की कल्पना का चित्र प्रस्तुत करता है।

2. सामाजिक समायोजन का आधार (Basis of Social Adjustment)–समाजशास्त्र समुदाय, संस्था, संघ के ज्ञान के साथ-साथ समाज की विभिन्न परिस्थितियों जैसे सांस्कृतिक, आनुवंशिक, भौगोलिक आदि को भी स्पष्ट करता है। विभिन्न परिस्थितियों में हम किस प्रकार से समायोजित करें इसे समाजशास्त्र के ज्ञान से समझा जा सकता है। समाजशास्त्र से सामाजिक संरचना (Social structure) के विभिन्न पक्षों और इसका निर्माण करने वाले तत्वों की जानकारी होती है जिससे व्यक्ति सरलता से अपनी परिस्थितियों से समायोजन कर सकता है। वर्तमान समय में समाज का स्वरूप निरन्तर जटिल होता जा रहा है तथा उसमें किस प्रकार से अनुकूलतम समायोजन स्थापित किया जाय। इसमें समाजशास्त्र का ज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

3. सामाजिक कल्याण में वृद्धि (Increases social welfare)–समाज के कल्याण में वृद्धि करने के लिये भी समाजशास्त्र का ज्ञान उपयोगी होता है। समाजशास्त्र समाज का व्यावहारिक ज्ञान कराता है जिससे समाज कल्याण की

योजनाओं के क्रियान्वयन मे सहायता मिलती है। श्रम-कल्याण, जनजातीय कल्याण, परिवार नियोजन, प्रौढ शिक्षा आदि के कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिये समाजशास्त्र का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक होता है, क्योंकि इसका ज्ञान समाज की विभिन्न परिस्थितियों तथा उनके प्रभाव के बारे में सही-सही जानकारी प्रदान करता है।

4. सम्पूर्ण मानव समाज का ज्ञान कराता है (Provides knowledge about the entire human society)—समाजशास्त्र विभिन्न समाजो के मध्य पाई जाने वाली एकता तथा प्रमुख प्रक्रियाओ का अध्ययन करता है जिसके ज्ञान से समाज के वास्तविक रूप को समझना सम्भव होता है। समाज के वास्तविक अर्थ एवं प्रकृति को समझकर ही एक व्यक्ति सफल व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है अतः ससार के सभी समाजो का एक सामान्य ज्ञान प्रस्तुत करता है जिससे समाज के बारे में मनुष्य का ज्ञान संकीर्ण न रहकर उदार एवं प्रगतिशील हो जाता है।

5. सामाजिक समस्याओ के समाधान में सहायक (Helpful in solving social problems)—सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक समस्याओ में भी तीव्रगति से वृद्धि हुई है। ये समस्यायें कुछ गुणात्मक हैं तो कुछ परिमाणात्मक। इन समस्याओ के समझने में समाजशास्त्र का ज्ञान अत्यधिक सहायता प्रदान करता है क्योकि यह तथ्यो के संकलन एव उनके विश्लेषण के द्वारा कारण एवं परिणाम मे ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके ज्ञान से सामाजिक समस्याओ का *समाधान निकालने मे सहायता मिलती है क्योकि समाजशास्त्र का ज्ञान व्यक्ति मे* सामाजिक एव व्यावहारिक दृष्टिकोण का विकास करता है।

6. व्यक्तिगत संगठन मे सहायक (Helpful in individual organisation) व्यक्ति समाज की सबसे छोटी एव महत्वपूर्ण इकाई है। व्यक्ति ही सम्बन्ध स्थापित करता है। यही समूह बनाता है। यही समाज के नियमो का पालन या उनका विरोध करता है। यही अनेक सामाजिक समस्याओ को जन्म देता है। अतः यह आवश्यक माना जाने लगा है कि समाज के हित मे व्यक्तिगत जीवन को संगठित रखा जाय क्योकि वास्तविक रूप से देखा जाय तो व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्र के नियम व्यक्तिगत परिस्थितियो के समाज की परिस्थितियों के सन्दर्भ मे स्पष्ट करके समाज मे व्याप्त समस्याओ का समाधान खोजती हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तत्व जैसे मूल प्रवृत्तियाँ, प्रेरणा, उद्वेग आदि का अध्ययन करके व्यक्ति के जीवन को संगठित करने हेतु उसके आन्तरिक गुणों का भली प्रकार से अध्ययन करता है। समाजशास्त्र व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले बाह्य कारणों जैसे वेशभूषा, प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का भी अध्ययन करता है। इससे व्यक्तिगत जीवन को संगठित करने में सहायता मिलती है

7. पारिवारिक संगठन को स्थायित्व देता है (Stabilizesthe family)—समाज के संगठन में परिवार का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। पारिवारिक जीवन में शान्ति, सुरक्षा, सहयोग एवं स्थायित्व समाज की सामान्य जीवन को प्रभावित करता है। पारिवारिक जीवन अशान्त, असुरक्षित एवं कटु होने पर सामाजिक जीवन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्र पारिवारिक नियमों, मूल्यों व आदर्शों का अध्ययन तो करता ही है लेकिन समय एवं परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक मान्यताओं व मूल्यों को परिवर्तित करने के लिये भी मार्गदर्शन करता है। समाजशास्त्र का विज्ञान परिवार के आदर्शों में परिवर्तन करने में सहायता देता है क्योंकि यह बताता है कि किस परिवर्तन का क्या प्रभाव व्यक्ति पर पड़ सकता है। उदाहरण के लिये विवाह-विच्छेद का व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, प्रेम विवाह कैसे परिवारों में सफल हो सकते हैं बच्चों की भावनाओं में कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं आदि का ज्ञान होने से परिवार को ज्यादा अच्छी प्रकार से एवं सरलता से संगठित किया जा सकता है। समाजशास्त्र के ज्ञान से परिवार के विभिन्न सदस्यों की स्थिति एवं कार्य में सन्तुलन स्थापित करना सम्भव हो जाता है।

समाजशास्त्र के महत्व को इसके विभिन्न कार्यों एवं दिये जाने वाले सहयोग के आधार पर भी स्पष्ट किया जा सकता है। इसके निम्नलिखित कार्य है—

1. प्रारम्भिक कार्य (Introductory functions)—कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर गहन अध्ययन करने वाले व्यक्तियों को समाजशास्त्र उन विषयों का प्रारम्भिक ज्ञान कराता है जिससे उन्हें अपने अध्ययन में सुविधा होती है। ऐसे विषयों के उदाहरण हैं जनसंख्या, परिवार, सामाजिक संस्थायें आदि।

2. सूचना सम्बन्धी कार्य (Informational functions)—समाजशास्त्र विभिन्न समूह, संस्कृति का स्वरूप, परिवार, भौगोलिक दशाएँ, वंशानुक्रम आदि से सम्बोधित महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्रदान करता है जिससे व्यक्ति को समाज का समायोजन (Adjustment) स्थापित करने एवं व्यक्तित्व का विकास करने में सहायता मिलती है।

3. सांस्कृतिक कार्य (Cultural functions)—समाजशास्त्र के सांस्कृतिक कार्य भी हैं। यह व्यक्ति के सामने संस्कृति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करता है तथा उसकी क्षमताओं को अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण बनाने एवं विकसित करने में सहायता देता है। यह व्यक्ति को अपने सांस्कृतिक पर्यावरण का ज्ञान कराकर उसे सफल सामाजिक प्राणी बनाता है।

4. सहिष्णता सम्बन्धी कार्य (Tolerance function)—समाजशास्त्र किसी एक समाज का नहीं बल्कि सभी समाजों की संस्कृति, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं का अध्ययन करता है। इससे व्यक्ति का संकुचित दृष्टिकोण नहीं रहता। वह न केवल अपने समाज के लिये बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति को ध्यान में रखकर सोचता है। इसके अध्ययन से मानव में सहिष्णुता की भावना उत्पन्न होती है।

5. प्रजातान्त्रिक कार्य (Democratic functions)—समाजशास्त्र व्यक्ति में प्रजातान्त्रिक भावनाओं का विकास भी करता है। समाजशास्त्र समाज के गहन अध्ययन द्वारा जोकि वर्ग, धर्म, लिंग व जाति की सीमाओं से ऊपर होता है, सभी को समान रूप में अपनी क्षमताओं का विकास करने का अवसर देता है। इस प्रकार अपने विद्यार्थियों में प्रजातांत्रिक भावनायें उत्पन्न करने का शैक्षणिक कार्य भी समाजशास्त्र करता है।

6. पारिभाषिक कार्य (Technical functions)—समाजशास्त्र पारिभाषिक कार्य भी करता है। हम ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका ठीक-ठीक अर्थ स्पष्टतः नहीं समझते जैसे समुदाय, समाज, परम्परा, लोकाचार, क्रिया, अन्तर्क्रिया आदि। समाजशास्त्र ऐसे शब्दों को परिभाषित करता है तथा इनके अर्थ को समझकर सामाजिक जीवन के वास्तविक रूप को आसानी से समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विज्ञान है जो किसी भी सामाजिक अध्ययन को यथार्थता प्रदान करता है तथा समस्याओं का सूक्ष्म अवलोकन एवं विश्लेषण करके उनके समाधान के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। भारत जैसे विकासशील देश में जो कि सन्धिकाल (Transitional) से गुजर रहा है इसका विशेष महत्व है क्योंकि समाज का व्यावहारिक ज्ञान ही हमें अपनी समस्याओं से अवगत कराकर समाज की उन्नति में सहायक हो सकता है।

2

औद्योगिक समाजशास्त्र : अर्थ, क्षेत्र एवं महत्व

(Meaning, Scope & Importance of Industrial Sociology)

प्रत्येक ज्ञान का उदय एवं विकास प्रारम्भ में सामान्य ज्ञान के रूप में होता है लेकिन अध्ययन की गहनता एवं विभिन्न खोजों के फलस्वरूप उसकी अनेक शाखायें पृथक ज्ञान के रूप में विकसित होती हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है तथा उनका पृथक अध्ययन-क्षेत्र विकसित हो गया है जैसे ग्रामीण समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, अपराध शास्त्र, आर्थिक समाजशास्त्र, व्यवसाय का समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र आदि। उद्योगों के क्षेत्र में बढ़ती हुई प्रगति ने अनेक सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न किया है तथा औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करना तथा उनके लिये समुचित हल निकालना आवश्यक हो गया। जिससे औद्योगिक समाजशास्त्र का उदय हुआ। अतः औद्योगिक समाजशास्त्र समाजशास्त्र की ही एक शाखा है जिसमें औद्योगिक सम्बन्धों का समाजशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है।

औद्योगिक समाजशास्त्र का अर्थ (Meaning of Industrial Sociology)

औद्योगिक समाजशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे औद्योगिक समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट होता है।

डब्लू० ई० मूर के अनुसार औद्योगिक समाजशास्त्र में औद्योगिक तन्त्र अथवा व्यवस्था का सामाजिक संगठन और जीवन-शैली के रूप में विश्लेषण करने का प्रयास किया जाता है। यह औद्योगिक व्यवस्था का सामाजिक विश्लेषण है।[1]

पार्कर, ब्राउन चाइल्ड और स्मिथ के अनुसार "औद्योगिक समाजशास्त्र का सम्बन्ध इस बात से है कि कैसे आर्थिक उपव्यवस्था अन्य उपव्यवस्थाओं से सम्बन्धित है, कैसे वह उपव्यवस्था विशेष कार्य संगठनों और भूमिकाओं के शब्दों में बाँधी

1. *Moore, W. E.* : The Industrial Relations & Social Order.

जाती है, और कैसे व्यक्ति इन भूमिकाओ मे फिट होते हैं।"[1] इन्हीं लेखकों ने यह भी लिखा है कि औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक क्षेत्र में सामाजिक-वैज्ञानिक सिद्धान्तों और प्रणालियो को लागू करता है अर्थात् समाज के लिये आवश्यक उत्पादन, वस्तुओ और सेवाओं के वितरण की आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित अंग का अध्ययन करता है। यह बात उल्लेखनीय है कि यहां औद्योगिक समाज से आशय केवल श्रम वर्ग से ही नही है बल्कि पूंजीपति उत्पादक व उपभोक्ताओ के मध्य विद्यमान सम्बन्धों से है। "औद्योगिक समाजशास्त्र मुख्य रूप से कार्य भूमिकाओ की अन्तर्वस्तु उन कार्य-भूमिकाओ से विभिन्न संगठनों में सम्बन्धित नियम और आज्ञायें, तथा एक ही संगठन में कार्य भूमिकाओ का विश्लेषण है।"[2]

मिलर तथा फार्म के अनुसार "औद्योगिक समाजशास्त्र सामान्य समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जिसको अधिक यथार्थ रूप में कार्य सगठनों का समाजशास्त्र अथवा अर्थ का समाजशास्त्र कहा जा सकता है।"[3] औद्योगिक समाजशास्त्र की यह परिभाषा संकुचित है क्योकि आजकल इसका क्षेत्र अर्थ के समाज विज्ञान से कही अधिक व्यापक है।

जे० एच० स्मिथ ने भी औद्योगिक समाजशास्त्र की एक विस्तृत परिभाषा दी है। उनके अनुसार "औद्योगिक समाजशास्त्र उद्योग से (अथवा कार्य संगठन के किसी भी रूप से) सम्बन्धित है जो एक सामाजिक व्यवस्था माना जाता हो और जिसमें वे कारक (तकनीकी, आर्थिक, राजनैतिक) सम्मिलित हैं जो कि उस अवस्था में संरचना, कार्यों और परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं।"[4] इस प्रकार औद्योगिक

1. "Industrial sociology is concerned with how the economic sub-system is related to other sub-system show that sub-system is structured in terms of particular work organisation and roles, and how persons fit into those roles."
—*Parker, S. R. Brown, R. K. Childs and Smith M. A.*: The Sociology of Industry, p. 14.
2. "Industrial sociology specially analyses the content of work roles the forms and expectations associated with the same work roles in different work organisations and different work roles in the same organisation." —Ibid p. 15.
3. "Industrial sociology is a substantive area of general sociology which might more accurately be termed sociology of work organisation or sociology of the economy."
—*Form W. H. and Miller D. C.*: Industrial Sociology, p. 11.
4. "Industrial sociology is concerned with industry (or any form of work organisations) as a social system including these factors (technical, economic, political) which aff the structure, the function and the changes in that sy
—*Smith J. H.*: Industrial Soc

समाजशास्त्र उद्योग से सम्बन्धित व्यवस्था तथा उसे प्रभावित करने वाले घटकों का अध्ययन है।

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि औद्योगिक समाजशास्त्र समाजशास्त्र की ही एक शाखा है जो औद्योगिक व्यवस्था के फलस्वरूप विकसित हुए सामाजिक सम्बन्धों और उसके प्रभावों का अध्ययन करता है।

औद्योगिक समाजशास्त्र की विशेषताएँ उपरोक्त विवरण के आधार पर औद्योगिक समाजशास्त्र में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं—

1. यह समाजशास्त्र की एक शाखा है।
2. औद्योगिक सम्बन्धों का समाजशास्त्र के दृष्टि से अध्ययन करता है।
3. अध्ययन की पद्धति वैज्ञानिक होने के कारण यह 'विज्ञान' है लेकिन मानव से सम्बन्धित होने के कारण प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न है।
4. यह औद्योगिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में सहायक है।

औद्योगिक समाजशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Industrial Sociology)

औद्योगिक समाजशास्त्र में औद्योगिक समाज का अध्ययन किया जाता है जिसमें सभी प्रकार के औद्योगिक संगठन सम्मिलित हैं जिनके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। इसके क्षेत्र को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से निर्धारित किया है :—

1. मिलर तथा फॉर्म का मत[1] : मिलर तथा फार्म के अनुसार औद्योगिक समाजशास्त्र के निम्नलिखित मुख्य अंग है :—

(i) कार्य समूह तथा कार्य करने के मध्य विकसित होने वाले सम्बन्ध।
(ii) कार्य करने वाले व्यक्तियों के समूहों में कर्मचारियों की भूमिका
(iii) मशीन एवं यंत्र वाले समाज का सामाजिक संगठन।

मिलर तथा फॉर्म द्वारा निर्धारित उपरोक्त क्षेत्र में अनेक अंग छोड़ दिये गये हैं जो कि अन्य विद्वानों द्वारा सम्मिलित किये गये है।

2. स्मिथ का मत : जे० एच० स्मिथ ने औद्योगिक समाजशास्त्र का कार्य क्षेत्र बताते हुए इसे औद्योगिक और संगठनात्मक परिवेश में उन सामाजिक सम्बन्धों और विधियों का अध्ययन माना है जो व्यापक सामुदायिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं तथा स्वयं उनसे प्रभावित होते हैं।

3. नासों तथा फॉर्म का मत—नासों एवं फॉर्म ने औद्योगिक समाज के क्षेत्र को बताते हुए कहा कि व्यावसायिक समाज विज्ञान की एक उपशाखा है जिसका

1. *Miller and Form* : Industrial Sociology, p. 16.

स्वतंत्र उपक्षेत्र है। इस दृष्टि से औद्योगिक समाज विज्ञान के क्षेत्र को व्यावसायिक समाज विज्ञान के रूप में निम्नलिखित भागों मे विभाजित किया जा सकता है:—

(i) कार्य की सामाजिक प्रकृति और उससे सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन जैसे विश्राम, अवकाश तथा बेरोजगारी आदि का अध्ययन।

(ii) व्यक्तिगत व्यावसायो का अध्ययन।

(iii) व्यावसायिक संरचना तथा व्यक्तिगत व्यवसाय की सामाजिक सरचना का अध्ययन।

(iv) व्यावसायिक संरचना का विश्लेषण।

(v) एक विशेष व्यवसाय का सामाजिक सदस्य के रूप में अध्ययन।

4. बर्नस का मत—बर्नस ने औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र को निम्न पांच भागों में स्पष्ट किया है :—

(i) नौकरशाही (Bureaucracy) पर आधारित श्रमिकों की प्रवृत्तियो एवं व्यवहारो का अध्ययन।

(ii) कार्यों का अध्ययन।

(iii) व्यवहार करने वाले समूहो का अध्ययन और श्रमिको व प्रबन्धको के पारस्परिक व्यवहार का अध्ययन।

(iv) औद्योगिक सम्बन्धो का विश्लेषण।

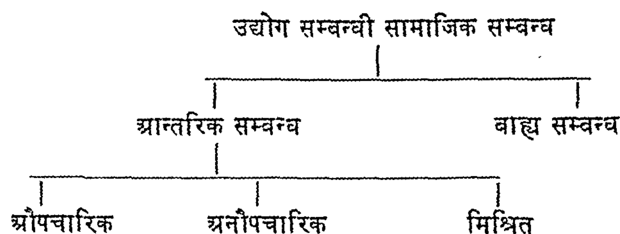
(v) व्यक्ति पर उद्योगवाद के प्रभावों का अध्ययन।

5. स्पाल्डिग का मत[1]—स्पाल्डिग के अनुसार औद्योगिक समाजशास्त्र एक विशेष विज्ञान है जो औद्योगिक समाज के संगठन तथा उसमें विभिन्न भूमिका निभाने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धो और क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। औद्योगिक समाज के ये संगठन उद्योगो, कारखानों, गोदामो, क्रय-विक्रय केन्द्रो तथा प्रशासन कार्य आदि के क्षेत्रों के विभिन्न पहलुओं में देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानो के विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि औद्योगिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु औद्योगिक समाज है जिसमें सम्बन्धों का कोई प्रतिमान होता है जिसे संगठन कहते हैं। उसमें विभिन्न संस्थायें, समितियो व समूह शामिल होते हैं। औद्योगिक समाजशास्त्र में संगठन की प्रक्रियाओं, संस्थाओ, समितियों व समूहो का अध्ययन किया जाता है। यह औद्योगिक समाज की समस्याओ का सैद्धान्तिक अध्ययन के साथ-साथ समस्याओं के समाधान, वांछित सुधारों व परिवर्तनों के विषय में सुझाव भी देता है।

1. *Spaulding C. B.*: An Introduction to Industrial Sociology.

उद्योग सम्बन्धी सामाजिक सम्बन्ध—औद्योगिक समाजशास्त्र की विषय-वस्तु औद्योगिक सम्बन्ध है। इन सम्बन्धों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।



आन्तरिक सम्बन्ध—जब सम्बन्ध एक उद्योग या कारखाने तक ही सीमित होते हैं तो उन्हें आन्तरिक सम्बन्ध कहा जाता है। एक उद्योग के प्रबन्धक एवं श्रमिकों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध इनके अन्तर्गत आते हैं। ये तीन प्रकार के हो सकते हैं :

(i) **औपचारिक आन्तरिक सम्बन्ध**—ये उद्योग के अन्तर्गत वे सम्बन्ध हैं जो विभिन्न व्यक्तियों के मध्य उनके कार्य के द्वारा निर्धारित होते हैं। ये कार्यात्मक व्यवस्था पर आधारित होते हैं जैसे प्रबन्धक एवं कर्मचारियों में तथा उत्पादन की प्रक्रिया में लगे कर्मचारियों के मध्य सम्बन्ध।

(ii) **अनौपचारिक आन्तरिक सम्बन्ध**—उद्योग के विभिन्न कर्मचारियों में निजी या वैयक्तिक सम्बन्धों को अनौपचारिक आन्तरिक सम्बन्ध कहा जाता है जैसे समान कार्य करने वाले या एक जाति या धर्म के कर्मचारियों में मित्रता या शत्रुता के सम्बन्ध होना। जहाँ भी दो या दो से अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं वहाँ अनौपचारिक सम्बन्धों का विकास स्वतः हो जाता है।

(iii) **मिश्रित आन्तरिक सम्बन्ध**—जब उद्योग के कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के मध्य सम्बन्ध न तो पूर्णतः औपचारिक ही हैं और न पूर्णतः अनौपचारिक ही तो उन्हें मिश्रित आन्तरिक सम्बन्ध कहते हैं। ऐसे सम्बन्धों को सामाजिक-प्राविधिक (Socio-technical) या सामाजिक-कार्यात्मक (Socio-functional) भी कहा जाता है। ये सम्बन्ध आंशिक रूप से कार्य से सम्बन्धित होते हैं।

वाह्य औद्योगिक सम्बन्ध—उद्योग अथवा मिल का अन्य मिलों, सरकार, जनता तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं से भी सम्बन्ध होता है। इन सम्बन्धों को वाह्य सम्बन्ध कहा जाता है। उदाहरण के लिये विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं से, राजकीय कार्यालयों से, उद्योग से सम्बन्धित संगठनों से होने वाले सम्बन्ध वाह्य सम्बन्ध ही होते हैं।

उपरोक्त विभिन्न प्रकार के औद्योगिक सम्बन्ध औद्योगिक समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के क्षेत्र में आते हैं।

औद्योगिक समाजशास्त्र के आधार
(Bases of Industrial Sociology)

औद्योगिक समाजशास्त्र का क्षेत्र जिन तत्वों पर आधारित है उन्हें निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

1. **कारखाने की सामाजिक व्यवस्था (Social System of Factory)**—प्रत्येक कारखाने में एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो कि औद्योगिक समाजशास्त्र का मूल क्षेत्र है। इसमें कारखाने में कार्य करने वाले विभिन्न कर्मचारियों के कार्यों एव पदों का विश्लेषण करके उनके पारस्परिक सम्बन्धों की वास्तविक एवं वाछनीय स्थिति की जानकारी की जाती है जिससे कारखाने को अधिक लाभदायक ढंग से चलाने के लिए उसके सामाजिक पुर्नसगठन मे सहायता मिलती है। सामान्यतः कारखाने से सम्बन्धित तीन उपसरचनायें होती हैं—प्रशासन, कर्मचारी एव राजकीय व अन्य वाह्य संगठन। कारखाने की व्यवस्था मे इन तीनों मे परस्पर समायोजन किया जाता है। औद्योगिक समाजशास्त्र यह बतलाता है कि इनमे परस्पर तालमेल किस प्रकार से स्थापित किया जा सकता है।

2. **कार्य व परिस्थितियों में अर्न्तवैयक्तिक सम्बन्ध (Inter-Personal Relationship in Work Situations)**—औद्योगिक समाजशास्त्र में मोरनो द्वारा प्रतिपादित समाज-मिति (Sociometry) विधि से अर्न्तवैयक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इनमें निम्न सम्बन्धों का अध्ययन उल्लेखनीय है।

(i) कार्य एवं व्यक्ति का सम्बन्ध,
(ii) कार्य के प्रकार,
(iii) कार्य के आधार—(अ) मनोवैज्ञानिक एव (ब) सामाजिक,
(iv) विभिन्न कार्यों मे परस्पर सम्बन्ध,
(v) कार्य की श्रेणियां,
(vi) कार्य प्रशिक्षण,
(vii) कार्य परिवर्तन,
(viii) कारखाने की परिस्थितियां जैसे सामाजिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक क्षमताएँ। मजदूरी सम्बन्धी परिस्थितियां, श्रमसंघ तथा उनके कार्य आदि।

3. **व्यवसाय का समाजशास्त्र एवं सामाजिक वर्ग (Sociology of Occupation and Social Class)**—उद्योग के क्षेत्र मे विभिन्न आधारो पर बने अनेक वर्ग पाये जाते हैं जैसे उद्योगपतियों, प्रबन्धकों, श्रमिकों के वर्ग, आय, शिक्षा, एवं व्यवसाय के आधार पर बने वर्ग आदि। इन वर्गों का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक

प्रभाव पड़ता है । अतः औद्योगिक समाजशास्त्र में व्यावसायिक संरचना का अध्ययन किया जाता है । विभिन्न वर्गों का अध्ययन करके तथ्यों एवं सूचनाओं का विश्लेषण करके सामान्य नियमों का निर्माण किया जाता है ।

4. आर्थिक संस्थाओं का सामाजिक विश्लेषण (Social Analysis of Economic Institutions)—आर्थिक संस्थायें औद्योगिक समाज की क्रियाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं अतः इनका भी अध्ययन किया जाता है । आर्थिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण भाग उनकी सम्पत्ति होती है अतः औद्योगिक समाजशास्त्र में सम्पत्ति के विभिन्न रूपों, स्वामित्व के अधिकार व सम्पत्ति के प्रयोग से सम्बन्धित व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है । सामाजिक स्थिति के निर्धारण में उत्तराधिकार जीवनस्तर, व्यवहार एवं कार्य के स्तर महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

5. नगरीय समाजशास्त्र (Urban Sociology)—नगरों के आकार एवं उनकी संख्या में वृद्धि, औद्योगीकरण का एक प्रमुख परिणाम है । जहाँ भी उद्योगों का विकास हुआ है या नवीन उद्योगों की स्थापना हुई है वहाँ नगर बन गये हैं या जहाँ छोटे नगर थे उनका आकार बढ़ गया है । औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में कारखानों की स्थापना होती है व विभिन्न प्रकार के कर्मचारी रोजगार पाते हैं जिससे नगरीकरण होता है । नगरीकरण विभिन्न समस्याओं को जन्म देता है जैसे आवास की समस्या, सफाई, प्रकाश व जल की समस्या आदि । गन्दी बस्तियाँ, वैश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, अपराध, पारिवारिक विघटन, मानसिक रोग आदि के रूप में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । इन समस्याओं का अध्ययन औद्योगिक समाजशास्त्र में किया जाता है ।

औद्योगिक समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Industrial Sociology)

औद्योगिक समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक पद्धतियों से मानव व्यवहार के सामाजिक पहलू का अध्ययन किया जाता है । जिस प्रकार समाजशास्त्र को 'विज्ञान' माना जाता है ठीक उसी प्रकार औद्योगिक समाजशास्त्र भी विज्ञान है । इसमें निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं जिनके आधार पर इसे विज्ञान माना जाता है ।

1. वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग—औद्योगिक समाजशास्त्र में अध्ययन करने की वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रयोग की जाती हैं । इसमें सामाजिक सर्वेक्षण, सूक्ष्म अवलोकन, सत्यापन, लिखना व वर्गीकरण करके सामान्यीकरण के द्वारा सामान्य नियम निकाले जाते हैं । ये सामान्य नियम ही औद्योगिक समाजशास्त्र के सिद्धान्त होते हैं ।

2. तथ्यात्मक है—औद्योगिक समाजशास्त्र सम्बन्धों का तथ्यात्मक अध्ययन करता है । इसका अध्ययन वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करता है इसके निर्णय तटस्थ एवं वस्तुवादी (Objective) होते हैं ।

3. सिद्धान्त सार्वभौमिक है—औद्योगिक समाजशास्त्र के सिद्धान्त समान परिस्थितियाँ होने पर सभी देशों मे तथा सभी समयो पर एकसा परिणाम देते हैं। जैसे कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों में परस्पर अच्छे सम्बन्ध होने पर उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडता है।

4. सिद्धान्त प्रमाणिक है—औद्योगिक समाजशास्त्र के नियम एवं सिद्धान्त परीक्षण एवं पुनः परीक्षण पर सदैव सही सिद्ध होते हैं। इनकी जांच कभी भी की जा सकती है। उदाहरण के लिये श्रमिको में असन्तोष, दमन की नीति व कार्य की खराब दशाएँ श्रमिकों मे तनाव उत्पन्न करते हैं जिससे प्रबन्धक एवं श्रमिको के सम्बन्ध बिगड़ते है। इस तथ्य की कहीं भी तथा कभी भी परीक्षा की जा सकती है। निष्कर्ष में भिन्नता नही मिलेगी।

5. कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या करता है—औद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन कार्य एव कारण की व्याख्या करता है। इससे यह 'क्या' है के साथ-साथ 'कैसे' का भी पता लगता है।

6. भविष्यवाणी कर सकता है—औद्योगिक समाजशास्त्र मानवीय व्यवहार एवं औद्योगिक सम्बन्ध के बारे मे भविष्यवाणी भी कर सकता है जो भविष्य में सही सिद्ध होती है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर औद्योगिक समाजशास्त्र को विज्ञान कहा जाता है लेकिन यह प्राकृतिक विज्ञानो के समान निश्चित नहीं है क्योंकि मानवीय व्यवहार, स्वभाव एवं परिस्थितियों में परिवर्तन मे निष्कर्षों मे परिवर्तन हो जाता है। नवीन एवं वैज्ञानिक पद्धतियों के कारण इसकी यथार्थता में निरन्तर वृद्धि हो रही है लेकिन फिर भी यही कहना उचित होगा कि यह निश्चित सीमाओं मे ही 'यथार्थ' सिद्ध होता है।

औद्योगिक समाजशास्त्र का समाजशास्त्र से सम्बन्ध
(Relation of Industrial Sociology with Sociology)

जैसा कि औद्योगिक समाजशास्त्र के नाम से स्पष्ट होता है-यह समाजशास्त्र की ही एक शाखा है तथा समाजशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। समाजशास्त्र मानव समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है तो औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन है। इनके सम्बन्ध एवं अन्तर को निम्नलिखित रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है।

1. समाजशास्त्र की शाखा—समाजशास्त्र की विषयवस्तु 'औद्योगिक समाज' सामान्य मानव समाज का एक अंग है। समाज के विभिन्न अंगों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया ही जाता है लेकिन आजकल औद्योगीकरण के फलस्वरूप औद्योगिक समाज की समस्याओं में भी वृद्धि हुई है। औद्योगिक समाज की समस्याओं के अध्ययन के महत्व में वृद्धि होने से एक पृथक अध्ययन क्षेत्र की आवश्यकता

औद्योगिक सम्बन्धों का अध्ययन करती है। इस प्रकार मूल रूप से यह समाजशास्त्र की ही एक शाखा है जो एक क्षेत्र विशेष में मानव सम्बन्धों का अध्ययन करती है।

2. विषयवस्तु में समानता—समाजशास्त्र एवं औद्योगिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु में भी समानता है। समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है जबकि औद्योगिक समाजशास्त्र समाज के केवल उस वर्ग का ही अध्ययन करता है जो कि उद्योगों से सम्बन्धित है।

3. समान विधियां—समाजशास्त्र में अध्ययन करने के लिये जो विधियाँ अपनाई जाती है वे ही औद्योगिक समाजशास्त्र में अपनाई जाती है। सामाजिक सर्वेक्षण अवलोकन, साक्षात्कार, प्रश्नावली विधि, मनोवैज्ञानिक परीक्षण, समाजमिति (Sccicmetiy), वैयक्तिक जीवनीविधि आदि दोनों ही शास्त्रों में अपनाई जाती है।

4. सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक—समाजशास्त्र तथा औद्योगिक समाजशास्त्र दोनों ही में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलू पाये जाते हैं। दोनों में कार्य एवं कारण का अध्ययन करके वस्तु स्थिति ज्ञात की जाती है तथा सामाजिक सम्बन्धों में सुधार करने हेतु आवश्यक सुझाव भी दिये जाते है।

5. समान प्रकृति—समाजशास्त्र एवं औद्योगिक समाजशास्त्र दोनों ही की प्रकृति समान है। इनकी प्रकृति वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक प्रकृति होने से इनके सिद्धाँत व नियम यथार्थ एवं निश्चित तो हैं लेकिन उतने निश्चित नहीं है जितने कि प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्त होते हैं। इन दोनों ही शास्त्रों में भविष्यवाणी करने की भी क्षमता है तथा निश्चित सीमाओं में वे सही निकलती है।

6. विकासशील शास्त्र है—समाजशास्त्र एवं औद्योगिक समाजशास्त्र दोनों ही अभी नवीन शास्त्र हैं तथा समाज की वदलती हुई परिस्थितियों में इन दोनों का निरन्तर विकास हो रहा है तथा अध्ययन क्षेत्र में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है।

अन्तर—इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र एवं औद्योगिक समाजशास्त्र में समानता होने से इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है लेकिन उपरोक्त समानता के साथ-साथ इन दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित अन्तर भी हैं।

1. विषयवस्तु का अन्तर—समाजशास्त्र तथा औद्योगिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु में अन्तर है। समाजशास्त्र में सामान्य सामाजिक सम्बन्ध अध्ययन की विषयवस्तु है लेकिन औद्योगिक समाजशास्त्र में अध्ययन की विषयवस्तु औद्योगिक सम्बन्ध है। इस प्रकार एक का अध्ययन सामान्य एवं विस्तृत है तो दूसरे का विशिष्ट।

2. विधियों का अन्तर—समाजशास्त्र में अल्ययन के लिये औद्योगिक समाजशास्त्र में प्रयोग की जाने वाली विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियां भी प्रयोग की जाती है जैसे ऐतिहासिक विधि, तुलनात्मक विधि प्रयोग विधि आदि।

3. प्रकृति का अन्तर—समाजशास्त्र सामान्य सामाजिक विज्ञान है लेकिन औद्योगिक समाजशास्त्र विशिष्ट समाज का विज्ञान है।

4. उपयोगिता का अन्तर—समाजशास्त्र का ज्ञान समाज के सभी क्षेत्रों में उपयोगी है लेकिन औद्योगिक समाजशास्त्र का ज्ञान औद्योगिक क्षेत्र में विशिष्ट रूप से उपयोगी है।

5. क्षेत्र का अन्तर—समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है जिससे इसका क्षेत्र व्यापक है लेकिन औद्योगिक समाजशास्त्र मे केवल औद्योगिक सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाता है अतः इसका क्षेत्र सीमित है।

समाजशास्त्र एवं औद्योगिक समाजशास्त्र का सम्बन्ध एवं अन्तर समझाने के बाद यह कहा जा सकता है कि दोनो में कुछ आधारो पर अन्तर अवश्य है लेकिन इसके आधार पर यह नही कहा जा सकता है कि ये एक दूसरे से सम्बन्धित नही हैं। इन दोनों ही शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये एक दूसरे के पूरक हैं। औद्योगिक सम्बन्धों का अध्ययन बिना समाजशास्त्र के सामान्य ज्ञान के नहीं किया जा सकता तथा दूसरी ओर औद्योगिक सम्बन्धो के अध्ययन को छोड कर समाजशास्त्र के अध्ययन को पूरा नही कहा जा सकता। कार्ल मार्क्स के अनुसार "समाज के विकास-क्रम को समझने के लिये समाज की औद्योगिक व आर्थिक परिस्थितियो का समझना आवश्यक है।"

✓औद्योगिक समाजशास्त्र का महत्व
(Importance of Industrial Sociology)

वर्तमान शताब्दी में औद्योगीकरण की गति बड़ी तीव्र रही है। सभी देशो मे उद्योगों की स्थापना पर विशेष ध्यान देकर अर्थव्यवस्था के विकास के लिये प्रयास किये गये हैं। औद्योगिक क्रान्ति एवं औद्योगीकरण से अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हुए हैं तथा रोजगार के नये क्षेत्रों का विकास हुआ है। लेकिन इसके साथ ही औद्योगीकरण ने अनेक जटिल समस्याओं को जन्म दिया है जिनके कि समुचित अध्ययन के लिये औद्योगिक समाजशास्त्र का ज्ञान आवश्यक होता है। औद्योगिक सम्बन्धो के सन्दर्भ मे औद्योगिक समाजशास्त्र का आजकल बडा महत्व है जिसे कि निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

1. औद्योगिक समाज का वैज्ञानिक ज्ञान—औद्योगीकरण ने औद्योगिक समाज को जन्म दिया है। औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। इसमें यथार्थ वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है। कार्य एवं कारण सम्बन्धों के अध्ययन से उपयोगी नियमो की रचना होती है तथा इनके आधार पर वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिये आवश्यक प्रयास किए जा सकते हैं। औद्योगिक समाजशास्त्र के नियमों के आधार पर भावी घटनाओं के बारे में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। औद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन सामाजिक संरचना, औद्योगिक सम्बन्ध, समाज की विभिन्न संस्थाओं के सम्बन्ध, समाज में प्रचलित विवाह प्रथा, राज्य धर्म, समुदाय आदि के योगदान के सम्बन्ध मे सही सही जानकारी प्रदान

करता है। इससे औद्योगिक सम्बन्धों को सुधारने एवं श्रेष्ठ करने में सहायता मिलती है। औद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन संकीर्णता के स्थान पर उदार एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण बनाने में सहायता देता है।

2. मानव ज्ञान में वृद्धि—औद्योगिक समाजशास्त्र ज्ञान की एक शाखा है तथा औद्योगिक समाज में सम्बन्धों का विशिष्ट रूप से अध्ययन करती है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा का अपना महत्व होता है जो मानव के ज्ञान में वृद्धि करती है—इस दृष्टि से भी औद्योगिक समाजशास्त्र महत्त्वपूर्ण है। औद्योगिक क्षेत्रों में व्याप्त विभिन्न समस्याओं के कारण इससे ज्ञात होते हैं जिससे समस्याओं को समझना सरल होता है।

3. व्यक्तित्व का संकलन—औद्योगिक समाजशास्त्र यह बतलाता है कि औद्योगिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यक्तित्व को संकलित रखने के लिये क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। समाज की व्यवस्था के संचालन में व्यक्तित्व को संकलित रखना आवश्यक होता है। औद्योगिक समाज में व्यक्ति में गतिशीलता होने से व्यक्तित्व का संकलन जटिल होता है लेकिन औद्योगिक समाजशास्त्र उसके संकलन के लिये उचित दिशा देता है।

4. समस्या निवारण में सहायक—औद्योगिक समाजशास्त्र का महत्व औद्योगिक समाज की समस्याओं के सुलझाने की दृष्टि से बहुत अधिक है। प्रमुखतः इन समस्याओं ने ही इस शास्त्र का विकास कराया है। सभी विकसित देशों में औद्योगिक समाज है तथा विकासशील देशों में भी औद्योगीकरण होने से औद्योगिक समाज बढ़ रहे हैं जहाँ एक विशिष्ट प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा समाज पर अपना व्यापक प्रभाव डालती हैं। ये समस्यायें प्रमुखतः निम्नलिखित से सम्बन्धित होती हैं।

(i) श्रमिकों के आवास की समस्या
(ii) श्रमिकों की बीमारी, स्वच्छता तथा स्वास्थ्य की समस्या
(iii) कार्य करने की दशाएँ
(iv) उद्योग में होने वाली दुर्घटनाएँ
(v) श्रमिकों की भर्ती एवं चयन
(vi) श्रमिकों के बालकों की शिक्षा
(vii) श्रमिकों की मजदूरी व भत्ते की समस्या
(viii) श्रमिकों की सुरक्षा—आर्थिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी जैसे बेकारी, वृद्धावस्था आदि
(ix) श्रम कल्याण की समस्याएँ
(x) हड़तालें एवं तालाबन्दी
(xi) श्रमिकों का प्रतिनिधित्व एवं भागीदारी
(xii) यन्त्रीकरण से उत्पन्न समस्याएँ आदि।

इस प्रकार औद्योगिक समाज की अनेक समस्यायें होती हैं। इनका गहन अध्ययन करना तथा वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने एवं समझाने के लिये औद्योगिक समाजशास्त्र आवश्यक है जिससे कि समस्याओं का निवारण किया जा सके।

5. औद्योगिक नियोजन—नियोजन से आशय उपलब्ध साधनों का उपयोग करने की ऐसी योजना से है जिससे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकें। विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक नियोजन आवश्यक होता है। मानवीय साधन का किस प्रकार से उपयोग किया जाय तथा अपव्ययों को रोका जाय इसके कार्यक्रमों व योजनाओं के निर्माण के लिये औद्योगिक समाजशास्त्र के नियमों व सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक होती है। बहुतसी समस्यायें जैसे श्रमिकों के आवास, स्वास्थ्य, भर्ती आदि के निवारण के लिये औद्योगिक नियोजन के समय प्रारम्भ में ही आवश्यक व्यवस्था की जा सकती है।

6. औद्योगिक परिवारों का पुनर्गठन—औद्योगिक समाज में परिवारों के विघटन की ज्यादा सम्भावना रहती है। इसके अनेक कारण हैं जैसे पुरुष श्रमिक का परिवार से अलग रहना, आवास छोटे व गन्दे होना, मनोरंजन के साधनों का अभाव होना, शिक्षा की समुचित व्यवस्था न होना, अपर्याप्त वेतन मिलने से अभाव की स्थिति बनी रहना, बेरोजगारी का भय बना रहना आदि। औद्योगिक समाजशास्त्र परिवारों का सूक्ष्म अध्ययन करके परिवार के विघटन के कारणों को स्पष्ट करता है जिससे परिवारों के पुनर्गठन के लिये आवश्यक प्रयास किये जा सकें।

7. औद्योगिक समाज में स्थायित्व लाना—औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक समाज के स्थायित्व के लिये आवश्यक सुझाव देता है। यहाँ स्थायित्व से आशय परिवर्तनों को रोकने से नहीं है बल्कि अत्यधिक एवं हानिकारक परिवर्तनों पर नियन्त्रण रखने से है जिससे अनावश्यक गतिशीलता न हो क्योंकि गतिशीलता से विघटन होता है।

8. औद्योगिक समाज में शान्ति रखना—औद्योगिक समाज में श्रमिकों का विशेष महत्व होता है। यदि श्रमिक वर्ग में असन्तोष एव अशान्ति होती है तो औद्योगिक कलह एवं विवाद बढ़ते हैं तथा उद्योगों के संचालन में बाधा उत्पन्न होती है। इससे प्रगति रुक जाती है। औद्योगिक समाजशास्त्र में श्रमिकों के असन्तोष एव अशान्ति के कारणों का अध्ययन किया जाता है तथा उन्हें दूर करने के उपाय भी बताये जाते हैं। इन उपायों के अपनाने से श्रमिक एवं पूँजीपति (उद्योगपतियों) में समायोजन बना रहता है जिससे औद्योगिक समाज प्रगतिशील बना रहता है।

9. श्रम विधान—श्रमिकों के कल्याण एवं सुरक्षा के लिये तथा उन्हें उद्योगपतियों के शोषण से बचाने के लिये यह आवश्यक होता है कि उनके लिये कुछ आवश्यक व्यवस्था व सुविधा की उपलब्धि की गारन्टी दी जाय जैसे काम के घण्टे, न्यूनतम वेतन, अवकाश आदि। इसके लिये आवश्यक श्रम विधान बनाना आवश्यक होता है। औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक समाज का अध्ययन करके उन विषयों को स्पष्ट करता है जिनमें कि राज्य द्वारा श्रम विधान बनाने चाहिए।

10. श्रम कल्याण—श्रमिक वर्ग समाज का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है श्रनेकों समस्याओं से ग्रसित रहता है। उसकी कार्यक्षमता को बढ़ाने एवं ान्यतः ठीक जीवन-स्तर को बनाये रखना एक सामाजिक दायित्व भी होता है। मकों के कल्याण हेतु क्या-क्या व्यवस्था सरकार द्वारा करना आवश्यक है—इसके ो यह सरकार को पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। कुछ समाज सुधारक एवं ार दृष्टिकोण के उद्योगपति भी समाजशास्त्र के अध्ययनों का लाभ उठाकर श्रमिकों कल्याण के लिये शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था करते हैं।

11. राष्ट्रीय प्रगति में सहायक—औद्योगिक समाजशास्त्र औद्योगिक क्षेत्रों समाजिक समस्याओं का अध्ययन करके उनके निवारण के लिये आवश्यक सुझाव ा है। इसके अध्ययन के आधार पर श्रमिकों के कल्याण एवं सुरक्षा के लिये विभिन्न वस्थायें की जाती हैं। हड़ताल व तालाबन्दी को रोकने के उपाय अपना कर द्योगिक विवादों को कम करने का प्रयास किया जाता है जिससे औद्योगिक त्पादन बढ़ता है तथा राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती हैं। बढ़े हुए उत्पादन का लाभ म्पूर्ण समाज को ही मिलता है फलस्वरूप राष्ट्र की प्रगति एवं समृद्धि बढ़ती है।

भारत में औद्योगिक समाजशास्त्र का महत्व

(Importance of Industrial Sociology in India)

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रगतिशील देश के लिये जहाँ कि ौद्योगीकरण हो रहा है, औद्योगिक समाजशास्त्र के विद्वानों के सुझावों का विशेष हत्व होता है। भारत भी एक विकासशील देश है जहाँ औद्योगीकरण निरन्तर ़ रहा है। यहाँ औद्योगिक क्षेत्र की समाजिक समस्याओं के अध्ययन एवं उनके िराकरण के लिये औद्योगिक समाजशास्त्र एक आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करता है।

1. सरकार के लिये महत्व—भारतवर्ष में मानवशक्ति एवं अन्य प्राकृतिक ाधनों का अभाव नहीं है। इन साधनों का समुचित प्रयोग करने के लिये सरकार ये उद्योगों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विस्तार के लिये योजनायें बना रही ़। औद्योगिक समाज की क्या-क्या समस्यायें होती हैं तथा उनके क्या कारण होते ं—इसकी जानकारी होने पर उद्योग की स्थापना करते समय या पहले से ही उद्योगों के स्थापित होने पर विद्यमान समस्याओं के निराकरण के लिये सरकार ावश्यक नियम बना सकती है। भारत जैसे देश में श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक ुरक्षा तथा उनके कल्याण के लिये कार्यक्रम बनाने व आवश्यक अधिनियम बनाने में ौद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। भारत जैसे देश में औद्योगिक समाजशास्त्र सरकार को उचित कार्यवाही करने के लिये मार्गदर्शन करता है।

2. उद्योगपति के लिये महत्व—भारत में समाजशास्त्र का उद्योगपति के लिये विशेष महत्व है। इसके ज्ञान से वह यह जान सकता है कि कारखाने में श्रमिकों का मनोबल बनाये रखने के लिये क्या किया जाना चाहिए? कर्मचारियों

की कार्यक्षमता पर कार्य की दशाग्रो का क्या प्रभाव पड़ता है। उन्हें नेतृत्व किस प्रकार का दिया जाना चाहिए। ग्रौद्योगिक विवाद उत्पन्न होने के प्रमुख कारण क्या रहते हैं तथा उनको कैसे कम किया जा सकता है ग्रादि ऐसे विषय हैं जिनका ज्ञान उद्योगपति को होना ग्रावश्यक है। ग्रतः ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र का ज्ञान भारत के उद्योगपति को होना ग्रावश्यक है क्योंकि इसके ग्रभाव मे उत्पादन की किस्म व मात्रा दोनों ही प्रभावित हो सकते हैं। विनियोजित पूँजी का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिये ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र महत्त्वपूर्ण है।

3. श्रमिकों के लिये महत्व—ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र यह बतलाता है कि उद्योग की प्रगति के लिये श्रमिकों के कार्य की दशाएँ, सुरक्षा एव कल्याण की व्यवस्था, श्रम व प्रबन्ध के सम्बन्ध किस प्रकार के होने चाहिए। श्रम संघों के माध्यम से किस-किस प्रकार की माँगों की पूर्ति के लिये ग्रावाज उठाई जाय ग्रर्थात् श्रमिको की क्या-क्या न्यूनतम ग्रावश्यकतायें है जो कि उद्योगपति द्वारा पूरी की जानी चाहिए। एक ही कारखाने या उद्योग में एक से ग्रधिक श्रम संघ के प्रभाव, श्रमिकों के प्रतिनिधित्व के परिणाम ग्रादि भी ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र बतलाता है। ग्रत. श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के मध्य ग्रनुचित विवाद उत्पन्न न हो तथा सम्बन्ध ठीक बने रहें—इसकी दृष्टि से भारतीय श्रमिको के लिये इसका ज्ञान उपयोगी है। भारत में श्रम कल्याण एव सुरक्षा की दृष्टि से ग्रनेक सुधार करने की ग्रावश्यकता है।

4. सामान्य जनता के लिये महत्व—भारत की सामान्य जनता के लिये भी ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र उपयोगी है। ग्रौद्योगीकरण का प्रभाव समूचे समाज पर पड़ता है। उद्योगो में चलने वाली उत्पादन प्रक्रियाग्रो से वातावरण पर तो प्रभाव पड़ता ही है साथ ही ग्रावास की समस्या, स्वास्थ्य एव सफाई की स्थिति, उत्पादित वस्तुएँ, ग्रादि समाज को प्रभावित करती हैं। इसके ग्रतिरिक्त ग्रौद्योगिक सम्बन्धो का प्रभाव सामान्य समाज पर भी पडता है। ग्रत' भारत जैसे देश के सामान्य नागरिको को भी ग्रौद्योगिक समाजशास्त्र का ज्ञान उपयोगी है।

5. नगर नियोजन के लिये महत्व—भारत मे नये उद्योग निरन्तर बढ रहे हैं जिससे बडे-बड़े नगरों का विकास हो रहा है। एक ग्रादर्श नगर किस प्रकार मे विकसित हो इसके लिये ग्रौद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याग्रो के निवारण के लिये प्रारम्भ से ही व्यवस्था की जा मकती है। कारखाने, ग्रावास, शिक्षा सस्थायें, बाजार, यातायात ग्रादि के लिये पहले मे ही समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। एक ग्रादर्श नगर का जन-कल्याण की दृष्टि मे बडा महत्व होता है। ग्रौद्योगिक समाज-शास्त्र ग्रौद्योगीकरण की ग्रनेक समस्याग्रों को स्पष्ट करता है जिनका सम्बन्ध नगर नियोजन से होता है। ग्रत' इस दृष्टि से भी यह भारत के लिये उपयोगी है क्योंकि ग्रब नगरों का यहाँ तीव्र गति से विकास हो रहा है।

3

औद्योगिक क्रान्ति—कारण और प्रभाव

(Industrial Revolution—Causes and Effects)

सामान्यतः क्रान्ति शब्द का प्रयोग राजनैतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं में तीव्रता से आये महान् परिवर्तनों के लिए होता है। ये परिवर्तन रक्तपात एवं हिंसक घटनाओं से भी स्थापित होते हैं लेकिन औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्ति से आशय परम्परागत उत्पादन व्यवस्था के स्थान पर वैज्ञानिक आधार पर एक नई व्यवस्था एवं प्रणाली के स्थापित होने से है जो न्यूनतम व्यय पर समाज को विभिन्न श्रेष्ठ वस्तुएँ प्रदान करती है। यह क्रान्ति पारस्परिक मतभेद व हिंसक घटनाओं पर आधारित नहीं होती बल्कि वैज्ञानिक आविष्कार एवं शोध इसके आधार होते हैं। औद्योगिक क्षेत्र में 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1884 में प्रसिद्ध विद्वान् आरनोल्ड टॉयनवी (Arnold Toynbee) ने किया। उनके अनुसार, "अठाहरवीं शताब्दी में औद्योगिक क्षेत्र में हुए परिवर्तन पूर्ण थे तथा अत्यधिक शीघ्रता से हुए जिससे उन्हें 'क्रान्ति' की उपमा देना उचित है।" टॉयनवी के अतिरिक्त जैवोन्स, इन्गेल्स तथा कार्लमार्क्स के विचारों में भी 'औद्योगिक क्रान्ति' का उल्लेख मिलता है। आज का औद्योगीकरण इस औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है।

औद्योगिक क्रांति का अर्थ
(Meaning of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति से आशय उत्पादन विधियों में हुए महान परिवर्तनों से है। यन्त्रों एवं यन्त्र संचालन शक्ति के आविष्कार से उद्योगों की काया पलटने वाले परिवर्तन ही 'औद्योगिक क्रान्ति' है। अनेक श्रम-संचयी उपायों तथा यन्त्रों के प्रयोग से उद्योगों में हुए सुधार एवं परिवर्तन इसमें सम्मिलित हैं जिनसे उत्पादन, वितरण, श्रम की गतिशीलता, वित्त प्रबन्ध आदि में अनेक सुधार हुए। औद्योगिक क्षेत्र में तीव्रता से आये परिवर्तन ही औद्योगिक क्रान्ति है। नोल्स (Knowles) ने तीव्रता के स्थान पर मौलिकता को अधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार, "औद्योगिक क्रान्ति शब्द इसलिए प्रयोग नहीं किया गया है कि परिवर्तनों की प्रक्रिया बहुत तीव्र थी

बल्कि इसलिए कि पूर्ण होने पर वे परिवर्तन मौलिक थे।"[1] साउथगेट ने नोल्स के विचारों का समर्थन करते हुए लिखा है कि "यदि सन् 1850 के ब्रिटिश उद्योगो की अवस्था की तुलना सन् 1770 की अवस्था से की जाय तो उद्योगों मे परिवर्तनो का महत्त्व अनुभव किया जायगा तथा उन्हे क्रातिकारी कहे जाने का औचित्य स्वीकार किया जायगा।"[2] औद्योगिक क्रान्ति मे हुए परिवर्तन किसी राजनैतिक क्रान्ति की भाँति एक वर्ष या अचानक एक रात्रि मे नही हुए थे बल्कि अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुए थे तथा लगभग 100 वर्ष तक मौलिक परिवर्तनों की शृंखला चलती रही। इन परिवर्तनो से ब्रिटिश उद्योगों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए थे। ब्रिटेन के उपरान्त इनका प्रभाव यूरोपीय देशों पर भी पड़ा।

इतिहासकार डेविस के अनुसार "औद्योगिक क्रान्ति से आशय उन परिवर्तनों से है जिन्होंने यह सम्भव कर दिया कि मनुष्य उत्पादन के प्राचीन तरीको को छोड़कर बड़ी मात्रा मे तथा बड़े कारखानों मे उत्पादन कर सके।" अन्य शब्दों में औद्योगिक क्रान्ति उद्योगो और उत्पादन सम्बन्धी वह क्रान्ति है जिसने श्रम का सामूहिक रूप से उपयोग किया लेकिन जिसका लाभ पूंजी लगाने वालो को अधिक तथा श्रम करने वालो को कम मिला।

क्रान्ति से पूर्व की स्थिति
(Conditions prior to Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व यूरोप एक कृषिप्रधान महाद्वीप था तथा यहाँ सामन्ती व्यवस्था का दबदबा था। कृषि प्रमुख कार्य था। भूमि के स्वामी राजा या सामन्त थे जो मनमाने लगान पर कृषकों को कृषि के लिए भूमि देते थे। किसानो से बेगार ली जाती थी तथा उनकी आर्थिक दशा बहुत खराब थी। मनुष्य के उपभोग की वस्तुओं की संख्या कम थी। उत्पादन गृह उद्योगो द्वारा ही होता था। [illegible] व्यवस्था मे सर्वसाधारण को राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार [illegible] थे। सामन्तो का कृषकों तथा दासो पर पूरा अधिकार था यहाँ तक कि [illegible] की स्वीकृति के बिना अपना गांव छोड़कर अन्यत्र किसी दूसरी [illegible]

था तथा उस संघ के सदस्यों को ही उस धन्धे को करने की अनुमति दी जाती थी। औद्योगिक शिक्षा के लिए कोई पृथक संगठित व्यवस्था नहीं थी बल्कि औद्योगिक शिक्षा के लिए व्यक्ति को आठ दस वर्ष तक किसी कुशल कारीगर की सेवा में रहकर कार्य सीखना पड़ता था। कार्य सीखने के उपरान्त भी उसे अपना कार्य शिक्षक के पास रहकर ही करना पड़ता था। आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में वह अपना स्वतंत्र कारोबार नहीं कर सकता था।

पूँजीपति एवं श्रमिक जैसे वर्ग नहीं थे। उत्पादन के क्षेत्र में कार्य-विभाजन एवं विशिष्टीकरण प्रमुखता नहीं रखते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत ही सीमित एवं नाममात्र को केवल कुछ विशिष्ट बहुमूल्य वस्तुओं में ही होता था। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंगलैण्ड आज के सन्दर्भ में बहुत ही अविकसित एवं कृषि-प्रधान देश था जहाँ सामन्तों द्वारा कृषकों का व कारीगरों द्वारा काम सीखने वालों का शोषण किया जाता था। आर्थिक स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव था।

इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के कारण
(Causes of Industrial Revolution in England)

औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात सर्वप्रथम इंगलैण्ड में ही क्यों हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। इंगलैन्ड की तत्कालीन स्थिति से यह बात स्पष्ट होती है कि वहाँ की प्राकृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ इस क्रान्ति की प्रमुख कारण रही हैं जिनसे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक क्रान्ति को प्रेरित किया। ये विभिन्न कारण निम्नलिखित हैं—

1. काली मृत्यु का प्रकोप—अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इंगलैण्ड में एक भयंकर 'काली मृत्यु' नामक महामारी का प्रकोप हुआ जिससे लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। इससे इंगलैण्ड में किसानों व मजदूरों का अभाव हो गया अतः सामन्तों एवं भूस्वामियों को किसानों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में उदारता लानी पड़ी। बहुत से किसानों ने गाँव की मजदूरी छोड़ नगरों में कार्य की तलाश की जिससे नगरीय जनसंख्या में वृद्धि हुई तथा वे अपनी योग्यता के अनुसार विभिन्न काम-धन्धे करने लगे। इससे नगरों की गिल्ड व्यवस्था का कठोर नियन्त्रण ढीला पड़ गया। फलस्वरूप प्रशिक्षित कारीगर स्वतंत्र रूप से उत्पादन करने लगे। इससे इंगलैण्ड में आर्थिक स्वतन्त्रता का सूत्रपात हुआ जो कि औद्योगिक विकास के लिए एक अनिवार्य एवं स्वाभाविक शर्त है।

2. राजनैतिक परिस्थिति—सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इंगलैण्ड व्यापार एवं वाणिज्य के द्वारा धनी होता जा रहा था। वहाँ शान्ति व व्यवस्था स्थापित थी तथा उसकी सामुद्रिक शक्ति अजेय थी। इंगलैण्ड का औपनिवेशिक साम्राज्य भी काफी बढ़ चुका था वह अपने उपनिवेशों को अपने निर्मित माल के लिए बाजार तथा कच्चे माल की खरीद के लिए प्रयोग कर सकता था। नेपोलियन के विरुद्ध लड़े गए

युद्धों की अवधि में इंगलैण्ड पूरे यूरोप का कारखाना बन गया था। इससे उसके उद्योग धन्धो के विकास में बड़ा योगदान मिला।

3. भौगोलिक स्थिति एव प्राकृतिक सम्पत्ति—इङ्गलैण्ड चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है तथा उसका समुद्र तट कटा-फटा है जिससे वहाँ अच्छे एवं सुरक्षित बन्दरगाह उपलब्ध हैं। विभिन्न देशो के साथ व्यापार करने की दृष्टि मे उसकी स्थिति बहुत ही अनुकूल है। खनिज सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह देश सम्पन्न है। प्रकृति की कृपा से इङ्गलैण्ड में कोयला, लोहा तथा जल-शक्ति प्रचुर मात्रा में है। इस प्रकार श्रम व कच्चे माल की सुविधा ने औद्योगिक क्रान्ति के लिए अच्छी पृष्ठभूमि प्रदान की।

4. अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ—इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति में अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। अन्य देशो की अपेक्षा यहाँ के नागरिको को अधिक स्वतन्त्रता रही है जिससे जोखिम उठाने वाले उद्योगपति एवं व्यापारी यहाँ अधिक विकसित हुए। जनता की व्यावसायिक क्रियाओं जैसे व्यापार करने, उद्योग चलाने तथा पूँजी सग्रह करने आदि की क्रियाओ पर प्रतिबन्ध नही रहे जिससे औद्योगिक क्रान्ति में सुविधा मिली।

5. बाजार की सुविधा—उद्योग एव व्यापार के विकास में बाजार की सुविधा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। निर्मित माल का विक्रय करने तथा निर्मित माल के लिए आवश्यक कच्चे माल हेतु बाजार व मण्डी सुलभ होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से इङ्गलैण्ड को समुद्री यातायात की सुविधा होने व उपनिवेशिक देशों पर नियन्त्रण रहने से बड़ी सुविधा रही है इससे उत्पादन एवं वितरण की समस्या सरल हो गई।

6. आर्थिक सुविधाएँ—इङ्गलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी में ही बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड की व्यवस्था हो गई थी जिसने देश के व्यापार एवं उद्योगो को प्रोत्साहन देने में योगदान दिया। व्यापार के बढ़ने से घनिक व्यापारियो का उदय हुआ जिनमे से अनेक उद्योगपति बने।

7. वैज्ञानिक आविष्कार—इङ्गलैण्ड में उत्पादन विधियो के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए जिनके कारण वहाँ औद्योगिक क्रान्ति का जन्म हुआ। वहाँ सत्रहवी शताब्दी में ही रॉयल सोसायटी की स्थापना हो चुकी थी। इस सोसायटी ने औद्योगिक उन्नति के लिए सहायता दी। वैज्ञानिक विधियो से अनुसंधान कार्य किया गया जिससे महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए। सन् 1765 मे हारग्रीव्ज ने स्पिनिंग जैनी (सूत कातने वाली मशीन) का आविष्कार किया, सन् 1769 में जेम्सवॉट ने भाप से चलने वाले इंजन तथा आर्क राइट ने पानी से चलने वाले करघे का आविष्कार किया। 1779 में क्राम्पटन ने उत्तम किस्म का सूत कातने वाली मशीन बनाई। जान के ने कपड़े बुनने की शटल तथा डर्बी ने कोयले के साथ लोहा गलाने की विधि का आविष्कार किया। हेनरी कोर्ट ने लोहे के दोषों को ज्ञात करने की विधि भी निकाली। इन आविष्कारों ने इङ्गलैण्ड के वस्त्र-निर्माण एवं लोहे के उद्योग

की जाने वाली निर्माण विधियों में महान् परिवर्तन किए जिनसे उत्पादन की लागत में कमी के साथ-साथ उत्पादन की मात्रा बढ़ाने में बड़ा सहयोग मिला।

8. कृषिक्रान्ति द्वारा अच्छी पृष्ठभूमि प्रदान करना—इङ्गलैण्ड प्रारम्भ में कृषिप्रधान देश ही था। वहां कृषि क्रान्ति पहले से चल रही थी। कृषि के क्षेत्र में उन्नत विधियों के प्रयोग से कृषि क्षेत्र से उत्पन्न कच्चे पदार्थ व कृषि में हुई बचतों को उद्योगों में विनियोग करने से औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला।

9. उत्तम जलवायु—इङ्गलैण्ड की जलवायु भी इस क्रान्ति में सहायक रही है। अधिक परिश्रम करने के लिए यहाँ की जलवायु भी अनुकूल है जिससे यहाँ के व्यक्ति अधिक परिश्रम एवं कार्य करने में समर्थ हुए।

औद्योगिक क्रान्ति का विस्तार
(Expansion of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का उद्भव सर्वप्रथम इंगलैण्ड में हुआ। उसके उपरान्त इसका प्रसार यूरोप के अन्य देशों तथा अन्य महाद्वीपों के देश में हुआ तथा क्रान्ति की यह प्रक्रिया अभी तक सक्रिय है। औद्योगिक विकास का अध्ययन करने पर इसके प्रसार की निम्न चार लहरें देखी जा सकती हैं।

1. प्रथम लहर-अवधि सन् 1770 से 1820 तक—इंगलैण्ड में सन् 1770 से लगभग विभिन्न प्रकार की मशीनों के आविष्कारों के कारण औद्योगिक क्रान्ति का उद्भव हुआ जिससे वहाँ के उत्पादन में बड़ी वृद्धि हुई अतः इंगलैण्ड में हुए परिवर्तनों को अपनाने की उत्सुकता अन्य देशों में भी देखी गई। इस अवधि में अमेरिका फ्रान्स तथा स्वीटजरलैण्ड आदि देशों में आविष्कारों को अपनाने एवं औद्योगीकरण के लिए प्रयास किए गए।

2. द्वितीय लहर-सन् 1821 से 1860 तक—इस अवधि में यूरोप के लगभग सभी प्रमुख देशों में औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव देखा गया। फ्रांस, जर्मनी, स्वेडन, रूस तथा बेल्जियम शनैः-शनैः बड़े औद्योगिक राष्ट्र होने लगे।

3. तृतीय लहर-सन् 1861 से 1890 तक—इस अवधि में यूरोप के अन्य देश जैसे डेनमार्क, नीदरलैण्ड, इटली, ग्रीस आदि में भी औद्योगिक क्रान्ति का प्रसार हुआ। इनके अतिरिक्त जापान व कनाड़ा में भी उद्योगों के विकास के लिए नई उत्पादन विधियों को अपनाया गया।

4. चतुर्थ लहर-सन् 1891 के उपरान्त—सन् 1891 से विभिन्न कृषिप्रधान देशों में भी औद्योगिक क्रान्ति का विस्तार हुआ है। भारत, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, अर्जेनटाइना, मैक्सीको, न्यूजीलैण्ड, आदि देशों में औद्योगीकरण के लिए प्रयास किये गये हैं। आजकल एशिया तथा यूरोप, अफ्रीका व अमेरिका आदि के विभिन्न देशों में इस क्रान्ति की लहर देखी जा सकती है।

विभिन्न देशों में औद्योगिक क्रान्ति के कारण
(Causes of Industrial Revolution in other Countries)

संसार के लगभग सभी देशों में औद्योगिक क्रान्ति के प्रसार के सामान्यतः निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं।

1. वैज्ञानिक अनुसंधान (Scientific Research)—शिक्षा के प्रसार से व्यक्तियों के विवेक एवं बुद्धि का विकास हुआ है। परम्परागत रूढ़ियों को छोड़कर वैज्ञानिक आधार पर अनुसंधान कार्य किया गया है जिससे अनेक नई तकनीकों एवं विधियों का आविष्कार हुआ है जिनसे उपयोगी मशीन व यन्त्र बनाये जा सके हैं। इन आविष्कारों को वाष्प एवं विद्युत शक्ति से चलने वाली मशीनों के प्रादुर्भाव ने बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सरल कर दिया है। नवीन आविष्कारों को चकित कर देने वाले परिणामों ने औद्योगिक प्रगति को बड़ी मात्रा में प्रेरित किया है।

2. पूँजी का संचय (Accumulation of Capital)—व्यापार व कृषि के उद्योगों में अर्जित पूँजी का संचय हुआ है तथा इस पूँजी का विनियोग उद्योगों की स्थापना तथा विकास पर किया गया। देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना तथा अन्य बैंकों के विकास ने बिखरी हुई पूँजी को औद्योगिक विनियोगों के लिए उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिससे औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला है।

3. सामाजिक परिवर्तन (Social Change)—समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने औद्योगिक क्रान्ति के आने में बहुत सहयोग दिया है। व्यक्ति जब विविध प्रकार की वस्तुएँ प्रयोग करना चाहता है तथा अधिक श्रेष्ठता की अपेक्षा करता है तो नवीन पद्धतियों को विकसित करना व अपनाना आवश्यक हो जाता है। कृषि व्यवस्था में सामाजिक परिस्थितियाँ उद्योगों के विकास के लिए अनुकूल नहीं होती लेकिन इसके विपरीत औद्योगिक व्यवस्था में समाज का रहन-सहन व आवश्यकताएँ तेजी से बदलती हैं जिससे अनुसंधान कार्यों को प्रेरणा मिलती है।

4. अन्धविश्वासों में कमी (Decrease in Blind Faith)—मध्ययुगीन अवधि में मनुष्य अनेक अन्धविश्वास एवं धार्मिक बन्धनों से घिरा हुआ था। व्यक्ति परम्परागत रूढ़ियों को छोड़ना ही पसन्द नहीं करता था जिससे किसी भी क्रान्ति का मार्ग अवरुद्ध था। वैज्ञानिक अध्ययन एवं खोजों ने समाज में व्याप्त अनेक अन्ध-विश्वासों के गढ़ को तोड़ दिया। व्यक्ति विवेक एवं तर्क के आधार पर सोचने लगा। धार्मिक विश्वासों में भी परिवर्तन आया तथा धर्म-निरपेक्षता बढ़ी। विभिन्न वर्गों के मिलने-जुलने एवं सांस्कृतिक विनिमय से समाज की आवश्यकता में वृद्धि एवं वस्तुओं की माँग होने लगी जिससे औद्योगिक क्रान्ति को बढ़ावा मिला।

5. खनिज सम्पदा का ज्ञान (Knowledge of Minerals)—आधुनिक उद्योगों का मुख्य आधार खनिज सम्पदा है। लोहा, कोयला, चूना, ताँबा, मैंगनीज, खनिज तेल आदि उद्योगों के लिए आवश्यक होते हैं। इन खनिजों का ज्ञान एवं खोज होने से औद्योगिक क्रान्ति आ सकी। जहाँ भी लोहा व कोयला मिला वहीं

उद्योगों की स्थापना होने लगी। लोहा व कोयला उत्पादक क्षेत्र व देश औद्योगिक क्षेत्र व औद्योगिक देश बनकर अन्य सहायक उद्योगों के विकास के लिए अवसर प्रदान करने लगे।

6. भौगोलिक खोज (Geographical Discoverie)—समुद्री यात्राओं से नवीन देशों के अस्तित्व का पता चला। विकसित देशों के व्यक्ति इन नवीन देशों में पहुँचने लगे। इससे उपनिवेश भी स्थापित हुए तथा निर्मित माल के विक्रय एवं कच्चे माल की खरीद के लिए नये बाजार मिलने लगे। यूरोप के देशों का माल एशिया व अफ्रीका में विक्रय होने लगा। बाद में विकसित देश के लोगों ने अविकसित देशों में ही साधनों के विदोहन हेतु उद्योग स्थापित किए तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए अनेक मशीनों का आविष्कार किया गया जो औद्योगिक क्रान्ति का कारण बना।

7. जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population)—जनसंख्या में वृद्धि भी औद्योगिक क्रान्ति के लिए एक प्रमुख कारण रही है। प्रति वर्ष बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति करना केवल परम्परागत कृषि के द्वारा सम्भव नहीं था अतः जनसंख्या को रोजी-रोटी देने व उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये साधनों का विकास करना व उद्योगों की स्थापना करना आवश्यक हो गया। बढ़ती हुई मांग ने मनुष्य को औद्योगिक विकास के लिए प्रोत्साहित किया।

8. फ्रांसीसी क्रांति का योगदान (Contribution of French Revolution)—फ्राँसीसी क्रान्ति ने भी औद्योगिक क्रान्ति के विकास में बहुत योग-दान दिया। फ्रांसीसी क्रान्ति में नेपोलियन ने सम्पूर्ण यूरोप को युद्ध में उलझा दिया। इस उलझन को सुलझाने का भार इंगलैण्ड पर पड़ा। इंगलैण्ड को अपने व अपने साथी देशों के सैनिकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अथक प्रयास करना पड़ा। उस माँग को पूरा करने के लिए नवीन खोजें करना व उत्पादन के तरीकों में सुधार करना आवश्यक हो गया। युद्ध के उपरान्त इंगलैण्ड में बेरोजगारी की स्थिति फैल गई जिसे दूर करने का एकमात्र उपाय उद्योग धन्धों का विकास करना ही था।

9. राष्ट्रीयता (Nationality)—राष्ट्रीयता की भावना ने भी औद्योगिक क्रान्ति को प्रेरणा दी है। प्रत्येक देश के निवासी यही चाहते थे कि उनके देश की उन्नति हो तथा उनके देश का प्रभाव बढ़े। इसके लिए उद्योगों की स्थापना कर उत्पादन बढ़ाना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप ऐसे देश जो पहले केवल कच्चे माल की पूर्ति के ही स्थान थे अपने यहाँ ही उद्योगों की स्थापना करने के लिए प्रयास करने लगे तथा प्रतिस्पर्द्धा में सफलता प्राप्त करने हेतु उत्पादन की विधियों में अनुसंधान करने का निरन्तर प्रयास किया गया।

औद्योगिक क्रान्ति की विशेषताएँ
(Characteristics of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनका कि उत्पादन की

विधियों व उत्पादन की मात्रा पर असाधारण प्रभाव पड़ा। इन प्रमुख परिवर्तनों को औद्योगिक क्रान्ति की विशेषता माना जाता है। नोल्स (Knowles) के अनुसार "तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति में निम्नलिखित छः बड़े परिवर्तन अथवा विकास हुए जो सभी एक दूसरे पर आधारित थे।"

1. इन्जीनियरिंग का विकास (Development of Engineering)—उद्योगों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मशीनों का आविष्कार हुआ तथा आवश्यक औजार व उपकरणों का निर्माण किया गया। इससे उत्पादन की विधियों में मशीनों का प्रयोग बढ़ा। इन्जीनियरिंग के ज्ञान का विकास हुआ तथा प्रशिक्षण आवश्यक हो गया। इन्जीनियरिंग की योग्यता रखने वाले प्रशिक्षित व्यक्तियों का महत्व उद्योगों में बढ़ गया। बड़े पैमाने पर उत्पादन लेने के लिए इन्जीनियरिंग उद्योगों का एक आवश्यक आधार बन गया। मशीन, इन्जन व औजार निर्मित करने व विकसित करने के लिए सतत प्रयत्न किए गये।

2. लोहा निर्माण में क्रान्ति (Revolution in Steel Manufacturing)—मशीन व अन्य सहायक उपकरणों का निर्माण करने के लिए लोहा आवश्यक हो गया था अतः लोहा एवं स्पात निर्माण करने वाले कार्यों में व्यापक सुधार किए गये। इससे लोहा निर्माण उद्योग का उत्पादन बड़ी मात्रा में बढ़ा तथा माल की किस्म में भी बड़े सुधार हुए।

3. भाप शक्ति का प्रयोग (Use of Steam Power)—भाप की शक्ति से मशीनों को चलाना औद्योगिक क्रान्ति की एक प्रमुख विशेषता थी। पहले भाप-शक्ति का प्रयोग नहीं होता था लेकिन इस क्रान्ति में सर्वप्रथम सूत कातने में तथा बाद में बुनने में प्रयोग की जाने वाली मशीनों को भाप की शक्ति से चलाया गया। सबसे पहले ये प्रयोग सूती वस्त्र उद्योग में तथा बाद में ऊनी, रेशमी व अन्य प्रकार के उद्योगों में किया गया। भाप की शक्ति से मशीन संचालित करना एक महान् प्रयोग था जिसने क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किए।

4. रासायनिक उद्योगों का विकास (Development of Chemical Industries)—वस्त्र निर्माण उद्योग की उन्नति के लिए कपड़े को रंगाने व छपाई करने के कार्य में सुधार करने की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः रासायनिक क्रियाओं में अनेक प्रयोग किए गये, जिससे कपड़े की रंगने व छपाई करने का कार्य स्वच्छता के साथ कम समय में तथा उत्तम श्रेणी का होने लगा।

5. कोयला उद्योग का विकास (Development of Coal Industry)—कोयला शक्ति का प्रमुख साधन है जो कि उद्योगों के लिए आवश्यक होता है। अतः कोयले का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक आविष्कार किए गए। कोयले को खान से निकालने, खान खोदने व खानों से पानी को निकालने के लिए नवीन विधियों का प्रयोग किया गया। इन प्रयोगों से कोयले का उत्पादन बढ़ा तथा कोयले के अपव्यय में कमी आई।

6. यातायात के साधनों में परिवर्तन (Change in means of Transport)—नवीन आविष्कारों से उद्योगों का उत्पादन बढ़ा जिससे यातायात एवं विक्रय के लिए आवागमन के साधनों की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः यातायात के लिए समुद्री जहाजों, नहरों व सड़कों के सुधार एवं विकास के लिए अनेक कार्य किए गए। भाप की शक्ति से रेलवे के इन्जन भी चलाये गए। बाद में पैट्रोल की शक्ति के साधन के रूप में प्रयोग करते हुए वायुयान भी चलाये गये। यातायात के क्षेत्र में किए गये सुधार महान् थे। विभिन्न देशों के मध्य व्यापार इन साधनों से ही सम्भव हो सका।

उपर्युक्त सभी परिवर्तन एक दूसरे पर आधारित थे तथा वे परस्पर एक दूसरे के पूरक भी। इन परिवर्तनों ने औद्योगिक स्थिति में महान् परिवर्तन कर दिये जिससे कि आधुनिक प्रकार के विशाल उद्योगों का निर्माण हो सका।

औद्योगिक क्रान्ति का क्षेत्र एवं प्रमुख आविष्कार
(Scope and Major Inventions of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का विकास इंगलैण्ड की व्यावसायिक क्रियाओं को निम्नलिखित क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हुआ—

1. कृषि क्षेत्र,
2. उद्योग,
3. परिवहन एवं संचार,
4. आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति।

1. कृषि क्षेत्र में क्रान्ति (Revolution in Agriculture)

औद्योगिक क्रान्ति का कृषि से घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः कृषि-क्षेत्र में भी वैज्ञानिक विधियों से काम करने और कृषि उपयोगी मशीनों को बनाने की आवश्यकता अनुभव की गई। उद्योगों के लिए ऊन, कपास, सन आदि पदार्थों की माँग कच्चे माल के रूप में थी। बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए खाद्यान्न की भी माँग बढ़ रही थी। पहले खेतों में काम करने वाले किसानों के नगरों में आ जाने से कृषि के क्षेत्र में कृषि मजदूरों का भी अभाव हो गया था। अतः कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए कृषि यन्त्रों का आविष्कार किया गया। इस क्षेत्र में निम्न आविष्कार हुए।

(i) सबसे पहले जैथरोटल ने एक 'बीजवपित्र' (बीज बोने का यन्त्र) बनाया जिससे एक समान रूप से बीज बोये जा सकते थे। इससे किसानों को बीज बोने में कम समय लगने लगा तथा साथ ही अधिक कार्य कम समय में पूरा करना सम्भव हो गया।

(ii) जैथरोटल ने खेतों से घास-पात निकालने तथा भूमि को मुलायम करने के लिए घोड़ों की सहायता से चलाये जाने वाले पटेला (कर्षक) यन्त्र का भी आविष्कार किया।

(iii) टॉउन शैण्ड नामक व्यक्ति ने किसानो को फसलों को बदल-बदल कर उपजाने के लाभ बताये जिससे कि भूमि की उर्वरा शक्ति बनी रहती है।

(iv) जस्टस वौन नामक एक जर्मन ने भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए रसायनिक पदार्थों का प्रयोग बताया। इससे उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई।

(v) रॉबर्ट वेक वैल नामक अग्रेज ने पशुपालन के क्षेत्र में उपयोगी सुझाव दिए। पशुओं का वैज्ञानिक ढग से प्रजनन करके पशुपालन को एक लाभदायक व्यवसाय बना दिया गया।

(vi) साइरस मैक कौमिक नामक व्यक्ति ने फसल काटने की मशीन बनाई।

(vii) खेतो के आकार को चकबन्दी करके बढाया गया जिससे यंत्रों के प्रयोग में सुविधा हो सके। खेती करने के लिए औजारो व मशीनों का प्रयोग बहुत बढ गया था तथा गाहने एवं पटेला (कर्षक) चलाने के लिये वाष्प शक्ति का प्रयोग भी किया गया। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति का प्रसार कृषि क्षेत्र मे भी देखा गया।

2. उद्योगो में क्रांति (Revolution in Industries)

विभिन्न उद्योगो के क्षेत्र मे अनेक मशीनों एवं मशीनी विधियों का आविष्कार एवं प्रयोग हुआ। कुछ प्रमुख आविष्कारो का उल्लेख यहां किया जा रहा है जिनका प्रभाव कुछ विशिष्ट उद्योगों पर विशेष रूप से पडा।

(i) वस्त्र उद्योग—प्रारम्भ में सूत काटने एवं बुनने की समस्त क्रियायें हाथ से ही की जाती थी लेकिन निम्नलिखित आविष्कारो से वस्त्र निर्माण उद्योग की बहुत उन्नति हुई।

लंकाशायर के निवासी जौन के (Johan Key) ने सन् 1738 में उडने वाली ढरकी (Flying Shuttle) का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने सूत बुनने की क्रिया में आश्चर्यजनक सुधार किया तथा एक जुलाहा एक दिन में इतना सूत प्रयोग कर सकता था जितना कि दस व्यक्तियों द्वारा एक दिन मे काता जाता। इससे बुनने की कला मे बहुत प्रगति हुई। इससे सूत कातने वालों की कठिनाइयाँ घट गई।

जेम्स हारग्रीव्स ने सन् 1764 में 'कतन जैनी' (Spinning Jenny) का आविष्कार किया जिससे एक साथ ग्यारह तार निकलते थे। बाद मे इसमें और सुधार किया गया तथा एक साथ सौ तार एक साथ निकलने की व्यवस्था की लेकिन इस चर्खे मे निकला तार मजबूत न होने से बनते समय टूटता अधिक था। अतः तार को मजबूत करने के प्रयास किए गये।

आर्कराइट ने जो प्रेस्टन का निवासी था, सन् 1768 मे 'जल ढाँचा' (Water frame) नामक मशीन बनाई जिससे मजबूत धागा बनाना सम्भव हुआ। सन् 1785 तक यह मशीन बहुत ही लोकप्रिय हो गई थी तथा आर्कराइट को सम्मानित करने के लिए उसे 'लार्ड' की उपाधि प्रदान की गई। 'जल ढाँचा' को

प्रयोग करने के लिए जल प्रवाहित होने की सुविधा का होना आवश्यक था अतः उसके लिए कारखानों की स्थापना आवश्यक हो गई। इस आविष्कार ने कतन जैनी द्वारा कमजोर तागे की समस्या का निवारण कर दिया।

क्राम्पटन ने सन् 1775 में स्पिनिंग म्यूल (Spinning Mule) बनाई जिसमें सूत कातने व उसमें साथ साथ बल लगाने की व्यवस्था थी। इसमें जैनी व 'जल ढाँचे' दोनों ही की एक साथ व्यवस्था थी अतः कम समय में अधिक व श्रेष्ठ सूत कातना सम्भव हो गया। इससे बारीक सूत भी काता जा सकता था जो कि बहुत ही सस्ता पड़ता था। इस आविष्कार से सूत की पूर्ति बहुत बढ़ गई जिसे कि उड़ने वाली ढरकी (Flying Shuttle) द्वारा भी सम्पूर्ण तैयार सूत को नहीं बुना जा सकता था। अतः इंगलैण्ड से अन्य यूरोपीय देशों को सूत का बड़ी मात्रा में निर्यात होने लगा।

कार्टराइट ने सन् 1785 में बुनने के लिए शक्ति चलित करघे (Power Loom) का आविष्कार किया जिसे लशक्ति व वाष्प शक्ति दोनों से ही चलाया जा सकता था। इसमें प्रारम्भ में कुछ दोष थे लेकिन श्री जान्सन ने इन दोषों को दूर कर दिया। इससे बुनाई के क्षेत्र में उत्पन्न समस्या समाप्त हो गई तथा लंकाशायर एवं मैनचेस्टर वस्त्र निर्माण के बड़े केन्द्र बन गये। प्रारम्भ में यहाँ सूती वस्त्र ही निर्मित होता था लेकिन बाद में ऊनी व रेशमी वस्त्र भी बनने लगे।

वस्त्र निर्माण उद्योग की सहायक क्रियाओं में जैसे रुई धुनने तथा पोनी बनाने की क्रियाओं को भी मशीन की सहायता से करने के लिए आविष्कार किए गये। रुई व बिनौले को पृथक-पृथक करने के लिए अमेरिका निवासी व्हिटने (Whitney) ने सन् 1792 में एक मशीन का निर्माण किया जिससे एक दिन में एक मशीन की सहायता से एक हजार पौण्ड कपास तक साफ की जा सकती थी।

वस्त्र छपाई का कार्य सर्वप्रथम भारत के कालीकट बन्दरगाह में विकसित हुआ तथा यहाँ से यह तकनीक इंगलैण्ड पहुँची। इसी दृष्टि से अभी भी छपा हुआ वस्त्र कैलिको कहा जाता है। कालीकट की छपाई विधि के अन्तर्गत रोलरों पर विभिन्न प्रकार के डिजायन बेलबूटे आदि बना दिए जाते थे जिन्हें कपड़ों पर छाप दिया जाता था। यह कार्य सन् 1785 में सिलेण्डर मशीन के आविष्कार से बहुत ही सरल हो गया था।

वस्त्र व्यवसाय के विकास में रसायनशास्त्र की उन्नति ने भी बहुत बड़ा योगदान दिया। कपड़ों की ब्लीचिंग क्रिया में प्रारम्भ में आठ माह लगते थे लेकिन सन् 1746 में श्री ब्रिट्रिप ने ऐसे तेल का आविष्कार किया जिससे बहुत कम समय में ही कपड़े का ब्लीचिंग हो जाता था। इसी क्रम में श्री वॉट द्वारा कपड़ों के ब्लीचिंग के लिए क्लोरीन का उपयोग भी किया गया जिससे यह क्रिया बहुत ही सरल हो गई। रसायनशास्त्र के क्षेत्र में हुए आविष्कारों ने विभिन्न रंगों के निर्माण

कार्य को बहुत ही सरल कर दिया जिससे विभिन्न रंगों की छपाई व रंगाई सम्भव हो गई।

(ii) लोह एवं कोयला उद्योग (Iron and Coal Industry):—मशीनो का निर्माण होने से लोहे की मांग में बहुत वृद्धि हो गई लेकिन कच्चे लोहे को पिघलाकर साफ करने का कार्य बहुत ही श्रम-साध्य तथा खर्चीला था। लोहे को गलाने के लिए लकडी के कोयले का प्रयोग किया जाता था जो बहुत महंगा पड़ता था। अतः सन् 1750 में खनिज कोयले के उपयोग की विधि का आविष्कार किया गया जिससे श्रम एवं मूल्य दोनों मे बचत हुई। सन् 1782 में कोयले मे कोक बनाकर लोहे को पिघलाने हेतु प्रयोग किया जाने लगा। लोहे को पिघलाने का कार्य तो सरल हो गया था लेकिन अब लोगो की रुचि लोहे के स्थान पर स्पात से निर्मित मशीनों की ओर बढने लगी क्योंकि यह ऐसा लोहा होता है जो अपेक्षाकृत अधिक हल्का, अधिक मजबूत, जंग प्रतिरोधक तथा लचकदार होता है लेकिन स्पात का निर्माण भी बहुत खर्चीला था अतः सन् 1856 में हेनरी बैस्मैन ने एक ऐसी भट्टी का निर्माण किया जिससे लोहे को गर्म करने से उसकी अशुद्धियाँ शीघ्र ही दूर हो जाती थी। बाद मे विलियम सीमेंस ने खुली भट्टी का आविष्कार किया जिससे कोयले की लपट व गैस की गर्मी से लोहा शीघ्र ही गल जाता था। इससे इस्पात बनाना सरल व सस्ता हो गया।

लोह एवं स्पात उद्योग के विकास मे कोयले की मांग बहुत ही बढ गई थी अतः कोयला उद्योग के विकास के लिए भी विशेष प्रयास किए गये। अधिक कोयला खोदने के लिए खानो की गहरी खुदाई की जाने लगी लेकिन अधिक गहरा खोदने पर खान में पानी भरने व अँधेरा रहने की समस्या सामने आती थी। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए न्यूकोमन द्वारा खान से पानी को बाहर निकालने के लिए एक पम्प का आविष्कार किया जो भाप की शक्ति से चल सकता था। इससे पानी को खान से बाहर निकालना सरल हो गया। "प्रकाश की सुविधा प्रदान करने के लिए सन् 1816 में हंफ्री डेवी (Humphry Devy) द्वारा एक सुरक्षित दीपक (Safety Lamp) का आविष्कार किया गया जिससे कोयला निकालने का कार्य सरल हो गया तथा कोयला पहले की अपेक्षा अधिक एवं शीघ्रता से निकाला जा सकता था। प्रकाश की व्यवस्था को अधिक श्रेष्ठ करने के लिए श्री एडीसन (Edison) ने 1879 मे बिजली के बल्बों का भी आविष्कार किया था। उपरोक्त आविष्कारो से लोहा एव स्पात तथा कोयला उद्योग का बडा विकास हुआ।

(iii) वाष्प इंजन का निर्माण—उद्योगों के विकास मे वाष्प इंजन के निर्माण ने भी बड़ा योगदान दिया है। बडी व भारी मशीनों को चलाने के लिए तथा रेल परिवहन के लिए इंजन की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् 1769 में जेम्सवाट ने वाष्प से चलने वाले इंजन का आविष्कार किया। इसमें बाद में अनेक सुधार

गये तथा इन इंजनों का प्रयोग रेल के इंजन व वस्त्र निर्माण उद्योग के कारखानों में मशीनों को चलाने के लिए किया गया तथा बाद में विभिन्न उद्योगों में ये प्रयोग किए गये।

(iv) इंजीनियरिंग उद्योग के क्षेत्र में आविष्कार—सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्र उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग तथा इनके विभिन्न सहायक उद्योगों में मशीनों का प्रयोग होने लगा था लेकिन मशीन निर्माण एवं मशीन मरम्मत का कार्य जटिल था। इस कार्य को सरल करने में सन् 1820 में मशीन टूलों के आविष्कार ने बड़ी सहायता की। सन् 1825 में प्लानिंग मशीन तथा सन् 1827 में खराद की मशीन का आविष्कार भी हुआ। इनके अतिरिक्त नैस्मिथ ने 1839 में स्टीम हैमर अर्थात भाप से चलने वाले घन का तथा सन् 1836 में धातु में छेद करने व उसे गोलाकार काटने वाली मशीनों का भी आविष्कार किया गया। इन आविष्कारों से इंजीनियरिंग उद्योग का खूब विकास हुआ तथा विभिन्न प्रकार की मशीनों का निर्माण एवं मरम्मत कार्य सरल हो गया।

उपर्युक्त विभिन्न आविष्कारों से बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव हुआ जिसके लिए कारखानों का निर्माण हुआ जहाँ बड़ी-बड़ी मशीनों के प्रयोग व श्रमिकों की सहायता से उत्पादन किया जाने लगा इससे औद्योगिक नगरों का विकास हुआ।

3. परिवहन एवं संचार के क्षेत्र में क्रान्ति
(Rovolution in means of Communication and Transport)

(i) सड़क परिवहन—परिवहन तथा संचार के साधन बहुत ही अपर्याप्त तथा असन्तोषजनक थे। सड़कें कच्ची होती थी। उन्हें मिट्टी, गारा तथा पत्थर से समतल व पक्की बनाने का कार्य प्रारम्भ किया गया। बाद में सड़कों को पक्का करने के लिये तारकोल का प्रयोग भी किया गया। सड़क निर्माण में मैक ऐडम टैलफोर्ड, ब्रिडले तथा रैली आदि विशेषज्ञों ने बड़ा योगदान दिया। पक्की सड़कों के सन्दर्भ में मैक ऐडम का नाम बहुत ही प्रसिद्ध हो गया तथा पक्की सड़कों को आज भी मैकेडेमाइज्ड के नाम से जाना जाता है।

(ii) जल परिवहन—यातायात के लिए नहरों का भी विकास किया गया। इंगलैण्ड के अतिरिक्त फ्रान्स एवं अमेरिका आदि देशों में भी नहरों का निर्माण किया गया। सन् 1761 में ब्रिज वाटर के ड्यूक ने वरस्ले से मैनचेस्टर तक कोयला के परिवहन हेतु ड्यूक आफ ब्रिजवाटर नामक नहर का निर्माण कराया। सन् 1830 तक इंगलैण्ड में 4000 मील लम्बे नदी एवं नहर जल मार्ग बन गये थे। फ्रान्स में जल मार्गों की लम्बाई 7500 मील तक हो गई थी। इसी अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका में एरी नामक नहर (Erie Canal) का निर्माण भी हुआ। सन् 1869 में फ्रान्सीसी इंजीनियर फर्डिनाद लेस्सेस ने स्वेज नहर का निर्माण कराया। इस नहर के द्वारा भूमध्यसागर और लाल सागर को मिला दिया गया। इस नहर के बन जाने

से यूरोप और भारत के मध्य की दूरी एक तिहाई कम हो गई। सन् 1807 में अमेरिका के राबर्ट फुल्टन ने सबसे पहली वाष्पचलित नौका का निर्माण किया। इससे जल परिवहन में लगने वाले समय में कमी हो गई।

फुल्टन ने अपनी वाष्पचलित नौका का प्रयोग एलबनी से न्यूयार्क तक की यात्रा में किया तथा एक अमेरिका के निवासी द्वारा बनाये गये 'फोनि को जहाज' को न्यूयार्क से फिलाडेलफिया तक की यात्रा में प्रयोग किया गया। सन् 1819 में सर वैनस नामक जहाज द्वारा एटलांटिक महासागर को प्रथम बार पार किया गया।

(iii) रेल पथ—सर्वप्रथम ट्रेविथिक (Trevithick) ने वाट द्वारा निर्मित इंजन का प्रयोग माल ढोने के लिए किया। सन् 1913 मे जॉर्ज स्टीफेन्सन द्वारा एक इंजन का निर्माण किया गया जिसे खान से कारखाने तक कोयला ढोने के कार्य में लाया गया। सन् 1830 में स्टीफेन्सन ने अपने इन्जन का विकास किया जो भाप से चलता था तथा 'राकेट' के नाम से जाना गया। इस इन्जन ने माल से भरे डिब्बों की लाइन को एक घण्टे मे उन्नीस मील की गति से चलकर संसार को चकित कर दिया। इस आविष्कार ने रेल पथ के निर्माण को बड़ा प्रोत्साहन दिया।

(iv) वायु पथ—परिवहन के क्षेत्र में वायु मार्गों का प्रयोग एवं वायुयान का निर्माण भी बहुत महत्व रखते हैं यद्यपि क्रान्ति की शृंखला मे इनका विकास बहुत बाद में हुआ था। जर्मनी के निवासी राइट बन्धुओं ने वायुयान का निर्माण किया जो प्रथम विश्वयुद्ध में तो गोले बरसाने के लिए ही प्रयोग हुए लेकिन युद्ध के उपरान्त माल एवं यात्रियों तथा डाक सेवा मे इनका बड़ी मात्रा मे प्रयोग होने लगा।

(v) संवार व्यवस्था में आविष्कार—संचार व्यवस्था मे भी बड़े परिवर्तन देखने को मिले। सर्वप्रथम रोलैण्ड हिल नामक अंग्रेज ने आधुनिक डाक व्यवस्था की नींव डाली। सन् 1874 में अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ की स्थापना की गई जिससे एक देश से दूसरे देश को पत्र, समाचार-पत्र, पार्सल, मनीऑर्डर आदि आने जाने लगे। सन् 1844 मे सेमुअल मोर्स ने एक व्यावहारिक तार यन्त्र का आविष्कार किया जिसके माध्यम से सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जा सकते थे। सन् 1876 में ग्राहम बैल द्वारा टेलीफोन का आविष्कार किया जिसने संचार व्यवस्था में महान् सुविधा प्रदान की। सन् 1857 में फ्रान्स एवं ब्रिटेन के मध्य तथा 1866 में यूरोप से अमेरिका तक समाचार भेजने हेतु समुद्र मे तार (Cables) बिछाये गये। बीसवीं शताब्दी में बेतार के तार (Wireless) तथा रेडियो के आविष्कारों ने भी सन्देश वाहन के क्षेत्र में बड़ा योगदान दिया।

4. आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति (Business Policy)

औद्योगिक क्रान्ति की अवधि में आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति में भी परिवर्तन हुए। क्रान्ति के पूर्व 'वाणिज्यवाद' (Mercantilism) का सिद्धान्त लागू

एकाधिकार की नीति का बोलवाला था। क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ जिसने सभी प्रकार के व्यापार एवं वाणिज्य से सम्बन्धित प्रतिबन्धों को हटाने की माँग की। अतः स्वतन्त्र व्यापार की नीति (Laissez Fair or Free Trade Policy) अपनाई गई। इस नीति के अन्तर्गत सब चीजों को अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने दिया जाता था। इस नीति से उद्योग एवं व्यापार में बड़ा विस्तार हुआ। इस अवधि में उद्योग एवं व्यापार के लिए बैंकिंग एवं बीमा कम्पनियों का भी विकास हुआ।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के लक्षण अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों में प्रकट हुए थे जिससे औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के लिए एक अनुकूल वातावरण बना।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव
(Effect of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुए परिवर्तनों का प्रभाव बहुत ही व्यापक था। इससे इंग्लैण्ड तथा अन्य सम्बन्धित देशों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इसके फलस्वरूप नये वर्ग, नई नीतियाँ व नये प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इसका प्रभाव आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टियों से पड़ा। यह क्रान्ति आधुनिक औद्योगीकरण की शुरुआत थी जिसने समाज के परम्परागत ढाँचे को बिल्कुल ही बदल दिया है। इसके प्रभावों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है—

आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)

औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक प्रभाव निम्नलिखित रहे—

1. घरेलू उद्योगों का पतन (Decline of Cottage Industries)— औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम विनाशकारी प्रभाव घरेलू उद्योगों पर पड़ा। क्रान्ति के पहले कारीगर अपने घर पर अपने परिवार के सदस्यों के साथ वस्तुओं का निर्माण करते थे। उन्हें सीमित पूँजी की ही आवश्यकता होती थी तथा उनके औजार भी हाथ के बने हुए होते थे। वे स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर थे। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मशीनों की सहायता से जो उत्पादन होता था वह हाथ की तुलना में काफी सस्ता व सुन्दर होता था अतः घरेलू उद्योगों के उत्पादन की माँग बहुत ही कम हो गई। घरेलू उद्योगों में काम करने वाले कारीगर बेकार हो गये तथा कुशल कारीगरों को भी अपने परम्परागत कार्य को छोड़कर कारखानों में कार्य करने के लिए विवश होना पड़ा जिससे उनका स्वतंत्र व्यवसाय एवं व्यक्तित्व दोनों ही समाप्त हो गये।

2. कारखाना प्रणाली का जन्म (Origin of Factory System)— नवीन आविष्कारों ने मशीनों को जन्म दिया। उत्पादन की क्रियाएँ मानवीय श्रम के स्थान पर मशीनों द्वारा की जाने लगी। परिवहन के साधनों का विकास होने से

व्यापार की मात्रा भी बढ़ गई अतः बड़ी मात्रा में उत्पादन कारखानों में होने लगा। प्रो० किम्बाल के अनुसार कारखाना प्रणाली से आशय ऐसी उत्पादन प्रणाली से है जिसमें सामूहिक श्रम तथा मशीनों का उपयोग किया जाता है। इस प्रणाली में श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने पर उत्पादन, प्रमापीकरण, उद्योग के स्वामित्व प्रबन्ध तथा *शिल्पकारों में भेद और संगठन में पूँजीपति का प्रभुत्व आदि विशेषतायें पायी जाती* हैं। कारखाना प्रणाली औद्योगिक क्रान्ति की महान् देन रही है जिसने एक ओर अनेक समस्याओं का समाधान किया है तो दूसरी ओर अनेक नवीन समस्याओं को जन्म भी दिया है।

3. विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन (Specialisation Increased)–औद्योगिक क्रान्ति से विशिष्टीकरण का विकास हुआ। मशीनों व नवीन विधियों के विकास से एक विशिष्ट क्रिया या कार्य को किया जाने लगा। कुछ विशेष कार्यों को करने के लिए विशेषज्ञ होने लगे। विशिष्टीकरण को व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं बल्कि देश भी विशिष्टीकरण की दिशा में सोचने लगे। जो उत्पादन जहाँ भी श्रेष्ठ प्रकार से किया जा सकता था वह वहीं संगठित किया गया। जिन क्षेत्रों में कच्चे माल की अधिकता पायी जाती थी उनका उपयोग करने हेतु औद्योगिक इकाइयों की स्थापना भी वहीं की गई।

4. बड़ी मात्रा में उत्पादन (Large Scale Production) - मशीनों के आविष्कार, शक्ति के साधनों के विकास, परिवहन एवं संचार के साधनों में विकास हो जाने से अधिक मात्रा में उत्पादन करना सम्भव हो गया। माल की किस्म में *वृद्धि एवं कीमत में कमी से उसकी माँग भी बढ़ने लगी जिससे कारखानों का और* अधिक विस्तार किया गया तथा बड़ी मात्रा में उत्पादन होने लगा।

5. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों का विकास (Development of Joint Stock Companies)—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए अधिक भूमि, भवन, मशीन तथा कच्चे माल की आवश्यकता होती है अतः इसके लिए अधिक मात्रा में पूँजी आवश्यक थी जिसका प्रबन्ध करने के लिए संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ बनी। इनके द्वारा हजारों व लाखों लोगों को अंशों का विक्रय करके धन एकत्रित किया जा सकता था। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए कम्पनी एक बहुत ही उपयुक्त संगठन था जिसने पूँजी एवं प्रबन्ध की विभिन्न समस्याओं को हल कर दिया है।

6. स्वामित्व एवं प्रबन्ध का अलग होना (Division of Ownership and Management)—संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के पूर्व उद्योग का स्वामित्व एवं प्रबन्ध एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों की फर्म का होता था। लेकिन कम्पनी की व्यवस्था में हजारों अंशधारियों द्वारा पूँजी लगाई जाती है। वे सभी अंशधारी कम्पनी के प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकते थे अतः वहाँ प्रतिनिधिक प्रबन्ध व्यवस्था हुई। अंशधारियों के प्रतिनिधि संचालक मंडल द्वारा कम्पनी का

लगा जिससे उद्योग के स्वामित्व एवं प्रबन्ध अलग-अलग हो गये। प्रारम्भिक दिनों में तो कम्पनी का प्रबन्ध करने के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली अपनाई गई थी।

7. पूँजीवाद का जन्म (Growth of Capitalism)—उद्योगों में बहुत से श्रमिकों के सहयोग से उत्पादन किया जाने लगा लेकिन उन्हें उनके श्रम का प्रतिफल पर्याप्त नहीं दिया जाता था। लाभ का अधिकांश भाग उद्योगपतियों के पास संग्रह होता गया। उद्योग से हुए लाभों को पुनः व्यवसाय में लगाया जाता रहा जिससे कुछ लोगों के पास बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित होती गई। इससे पूँजीवाद का जन्म हुआ तथा श्रम का शोषण किया गया। उत्पादन के लगभग सभी प्रमुख साधन कुछ गिने-चुने पूँजीपतियों के ही हाथ में एकत्रित हो गये जिससे समाज का आर्थिक सन्तुलन बिगड़ने लगा।

8. जीवन स्तर में सुधार (Improvement in Standard of Living)—बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करने पर वस्तुएँ अच्छी एवं सस्ती बनने लगीं जिससे जनसाधारण को कम कीमत पर अधिक एवं अच्छी वस्तुएँ प्रयोग करने का अवसर मिला। इससे उनके जीवन-स्तर में सुधार हुआ। साथ ही मशीनों पर कार्य करने से श्रमिकों की आय में भी वृद्धि हुई। वे पहले की तुलना में अधिक धन कमाने लगे जिससे वे अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने लगे थे। परिवहन एवं संचार के साधनों में सुधार होने से लोगों के ज्ञान, रुचि एवं इच्छाओं में भी परिवर्तन आया था जिससे उन्हें अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिली।

9. जनसंख्या का शहरों में आना (Move to Cities)—नगर उद्योगों की स्थापना के लिए साधनों की उपलब्धि के कारण अधिक अच्छी स्थिति रखते थे। वहाँ उद्योगों की स्थापना अधिक संख्या में होती गई अतः ग्रामीण क्षेत्रों से जनता शहरों की ओर आने लगी जहाँ कि उन्हें रोजगार प्राप्त हो जाया करता था। उद्योगों की स्थापना से एक ओर शहरों की संख्या में वृद्धि हुई तो दूसरी ओर वहाँ की जनसंख्या भी निरन्तर बढ़ती गई। इससे शहरी क्षेत्रों में आवास, सफाई, स्वास्थ्य आदि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई।

10. आत्मनिर्भरता समाप्त होना (End of Self-efficiency)—क्रान्ति से पूर्व ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भरता की स्थिति में थी। गाँव की आवश्यकताओं को गाँव के द्वारा ही पूरा करने का प्रयास किया जाता था। गाँव में प्रयोग होने वाले औजार आदि भी वहीं बनते थे लेकिन विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन से आत्म-निर्भरता की स्थिति समाप्त हो गई जो वस्तु जहाँ भी अच्छी व सस्ती बन सकती थी वह वहीं बनाई जाती थी तथा परिवहन के साधनों का विकास होने से आवश्यक वस्तुओं को देश-विदेश से आसानी से मंगाया जा सकता था।

11. व्यापार चक्र (Trade cycles)—बड़े पैमाने पर उत्पादन की सुविधा होने से उत्पादन बड़ी मात्रा में होने लगा तथा उत्पादन व विक्रय की मात्रा पर

मौसम, फैशन, तकनीकी अनुसंधान, पूँजी की उपलब्धता आदि का प्रभाव पड़ने लगा जिससे व्यापार एव उद्योगो के क्षेत्र में आर्थिक तेजी-मन्दी देखी गई जिसका प्रभाव उद्योग एवं उद्योग में काम करने वाले वर्ग पर प्रत्यक्ष रूप से पडता था। मन्दी के दिनो मे मांग कम होने से उत्पादन कम करना होता था जिससे बेरोजगारी फैलती थी। दूसरी ओर तेजी के दिनो में मांग बढ़ने से रोजगार के अवसर बढ़ते थे।

12. सगठन कार्य का जटिल होना (Organisation became difficult)–क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन कार्य कारखानो मे मशीन एव मनुष्य के सहयोग से होने लगा लेकिन उद्योग के सगठन का कार्य बहुत ही जटिल हो गया था। पूँजी का प्रबन्ध, श्रमिको का प्रबन्ध, भूमि एव भवन का प्रबन्ध, मशीन व अन्य उपकरणो का प्रबन्ध कर उत्पादन करना तथा उसके विक्रय के लिए बाजारो की खोज करना तथा विक्रय करना ऐसे कार्य थे जिसके लिए विशेष योग्यता एव क्षमता की आवश्यकता थी। अत. उद्योग का सगठन एव उसका सचालन करना एक जटिल कार्य बन गया।

सामाजिक प्रभाव (Social Effects)

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों से समाज अछूता नही रह सकता था क्योंकि समाज का आर्थिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस क्रान्ति ने अनेक प्रकार से समाज को प्रभावित किया। इन सामाजिक प्रभावो को निम्न प्रकार से अनुभव किया गया––

1. प्राचीन परम्पराओं में परिवर्तन (Change in Old Traditions)—औद्योगिक क्रान्ति ने समाज का कायाकल्प कर दिया। प्राचीन रीति-रिवाज, रहन-सहन का तरीका, वेशभूषा, धार्मिक विश्वास, कला, साहित्य आदि सब ही बदल गया। समाज के एक नये रूप का अभ्युदय हुआ जिसका निखरा हुआ रूप आज के समाज मे देखा जा सकता है। समाज ने अन्धविश्वासो को छोड़ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचना व कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

2. आवश्यकताओं में वृद्धि (Wants Increased)—औद्योगिक क्रान्ति ने समाज की आवश्यकताओं को बड़ी मात्रा में परिवर्तित कर बढा दिया। पहले सादा वस्त्र व भोजन ही मुख्य आवश्यकता थी लेकिन क्रान्ति ने उपभोग की अनेक वस्तुएँ प्रदान की। व्यक्ति तडक-भड़क, चमक-दमक और भोग-विलास की वस्तुओं की मांग करने लगा। लिखना-पढ़ना वैज्ञानिक विचारो को समझने के लिए आवश्यक समझा जाने लगा। सम्पन्न लोग समाज मे अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव को बनाये रखने के लिए बहुत ही शान-शौकत से रहने लगे जिसका प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा तथा उसने भी श्रेष्ठ जीवन-स्तर प्राप्त करने के लिए प्रयास किए।

3. संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन (Decline of joint family system)—काम की तलाश मे ग्रामीण जनता के शहरों में आने तथा काम करने से

पवित्र संयुक्त परिवार प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई। संयुक्त परिवारों के स्थान पर छोटे-छोटे परिवारों का विकास हुआ। इन छोटे स्वतन्त्र परिवारों का प्रेम युगल दम्पत्ति तक ही सीमित था। नारी को पहले से अधिक स्वतन्त्रता मिलने लगी। कारखानों में वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने लगी।

4. नैतिकता का ह्रास (Morality Devalued)—औद्योगिक क्रान्ति से समाज में नैतिकता का पतन भी हुआ। शराव, जुआ तथा पर नारी गमन वढ़ गया। व्यक्ति अपनी सुख व सुविधाओं के लिए दूसरे के हितों की उपेक्षा करने लगा। चोरी व झूठ तथा धोखा देना सामान्य कार्य वन गये।

5. मध्यम वर्ग का विकास (Development of Middle Group)—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मध्यम वर्ग का तेजी से विकास हुआ। औद्योगिक विकास के लिए पूँजी व वुद्धि दोनों ही आवश्यक थे। सामन्तों के पास पूँजी तो थी लेकिन उद्योग संचालन के लिए आवश्यक वुद्धि नहीं थी। अतः उन्होंने उद्योगों को लगाने में ज्यादा रुचि नहीं ली। मध्यम वर्ग के पास पूँजी और व्यावसायिक बुद्धि दोनों ही थे अतः उन्होंने व्यापार एवं उद्योगों में खूव रुचि ली जिससे उनका अच्छा विकास हुआ। इसके फलस्वरूप मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति वहुत सुधर गई तथा मध्यम वर्ग शहरी समाज में नेतृत्व करने लगा।

6. श्रम वर्ग का उदय (Growth of Labour Section)—औद्योगिक क्रान्ति से समाज में एक नया वर्ग श्रमिकों का वन गया जिनकी संख्या वहुत ज्यादा थी। समाज में ये अपना पृथक स्थान रखते थे जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्यतः अच्छी नहीं होती थी। श्रमिकों ने अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपने को संगठित करने का भी प्रयास किया। अतः समाज में श्रम संगठन भी विकसित हुए।

7. आर्थिक विषमता (Economic Disparity)—औद्योगिक क्रान्ति से समाज में आर्थिक विषमता वहुत वढ़ गई। पूँजीपति अधिक सम्पन्न होते गये तथा श्रमिक वर्ग की आर्थिक स्थिति वहुत ही दयनीय थी। उन्हें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवश होकर स्त्रियों व छोटे-छोटे वालकों को भी काम पर भेजना पड़ता था। उद्योगपति श्रमिकों की सामान्य सुविधाओं के प्रति उदासीन थे। कारखाने में काम वन्द होने पर श्रमिकों को वैठे रहना पड़ता था तथा मजदूरी भी नहीं मिलती थी। कार्य की अवधि में दुर्घटना हो जाने पर श्रमिकों को किसी भी प्रकार की क्षति-पूर्ति नहीं की जाती थी। श्रमिकों के पास एकता का अभाव था तथा राजनैतिक अधिकार भी नहीं थे जिससे स्थिति में सुधार हेतु शासन भी चिन्तित नहीं था।

राजनैतिक प्रभाव (Political Effects)

1. मध्यम वर्ग को महत्व—औद्योगिक क्रान्ति के राजनैतिक प्रभाव भी देखने को मिले। क्रान्ति के फलस्वरूप सरकार में मध्यम वर्ग एवं पूँजीपतियों का प्रभाव वढ़ गया। प्रारम्भ में मध्यम वर्ग शिक्षा एवं धन की दृष्टि से आगे थे लेकिन उन्हें सरकार में किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व नहीं था यद्यपि उनसे सरकार को

फी आय होती थी। यह एक आश्चर्य की बात है कि औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ङ्गलैण्ड मे हुई परन्तु अमेरिका के मध्यम वर्ग को सबसे पहले राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। इसके बाद फ्रांस के मध्यम वर्ग को राजनैतिक अधिकार मिले। इङ्गलैण्ड मे सन् 1832 में मध्यम वर्ग को अधिकार प्राप्त हुए जब वहाँ उदारवादी दल की सरकार ने प्रथम सुधार बिल पास करवाया था।

2. **श्रमिकों के लिए संघर्ष**—श्रमिकों को अपने अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। सर्वप्रथम राबर्ट ओवेन नामक समाज सुधारक व्यक्ति ने श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने के लिए माग की। बड़ी कठिनाइयो एवं सतत प्रयास के बाद वे सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सके तथा सर्वप्रथम सन् 1802 में एक कानून बनाकर निर्धन एवं अनाथ बच्चों से सप्ताह में केवल 62 घण्टे काम लेने की व्यवस्था की जा सकी। सन् 1819 व 1822 में भी बालकों के कार्य के घण्टो में सुधार किया गया। ये सुधार आज की तुलना में नगण्य थे लेकिन इन कानूनो से श्रमिकों मे जागृति पैदा हुई तथा इनका आत्मविश्वास भी बढ़ा। उन्होंने अपने संगठनो के माध्यम से अपने अधिकारो के लिए संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया।

3. **समाजवादी विचारधारा का उदय**—श्रमिकों एवं उद्योगपतियों में बढ़ती हुई आर्थिक विषमता ने श्रमिकों को आन्दोलन करने के लिए प्रेरित किया। यही आन्दोलन बाद में समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके द्वारा समाज मे समानता स्थापित करने के प्रयास किए गए। वह भी केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही नही बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में भी। समाजवादी विचारधारा को सही रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। उनके प्रयास से ही श्रमिकों में समाजवाद की भावना का प्रचार एवं प्रसार हुआ।

4. **उपनिवेश स्थापित करने की भावना को बल देना**—औद्योगिक क्रान्ति से देश के उद्योगों का उत्पादन बढ़ा। उत्पादन का विक्रय करने के लिए तथा कारखानों को कच्चा माल प्रदान करने के लिए बाजार व मण्डियों की आवश्यकता थी अतः उपनिवेशों की स्थापना करने एवं उन्हें सुरक्षित रखने की भावना आर्थिक हितों की रक्षा के लिए आवश्यक हो गई। यद्यपि उपनिवेशों की स्थापना औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी लेकिन औद्योगिक क्रान्ति ने इस प्रवृत्ति को और अधिक प्रोत्साहन दिया। उपनिवेश बनाने की दौड़ मे इङ्गलैण्ड तो सबसे आगे था ही लेकिन फ्रान्स, रूस, हालैण्ड, बेल्जियम, स्पेन तथा पुर्तगाल आदि ने भी इसके प्रयास किए। जर्मनी और इटली इस दौड़ में पीछे रहे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गए तथा देश अपनी सुरक्षा की चिन्ता से मुक्ति पाने के लिए अपने मित्र देशों से सैनिक सन्धियाँ करने लगे। फलस्वरूप संसार दो परस्पर विरोधी गुटो में विभाजित हो गया जिसका परिणाम बाद मे प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के रूप में देखने को मिला।

औद्योगिक क्रान्ति के लाभ
(Advantages of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति से इङ्गलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों को विभिन्न क्षेत्रों में अनेक लाभ हुए। सूक्ष्म में इन लाभों को निम्न शीर्षकों में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. व्यावसायिक प्रगति (Occupational Progress)—औद्योगिक क्रान्ति से व्यवसाय के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। प्राचीन उत्पादन विधियों के स्थान पर नवीन विधियों को प्रयोग में लाया जाने लगा। इससे उत्पादन की मात्रा बढ़ी तथा उत्पादन लागत कम हुई। प्राचीन उद्योगों के विकास एवं सुधार के साथ-साथ अनेक नवीन उद्योगों की स्थापना हुई, जैसे मशीन निर्माण उद्योग, रसायन उद्योग, कोयले से कोक बनाना, लोहा एवं इस्पात बनाना आदि। वाष्प इंजन के आविष्कार से शक्ति की समस्या सुलझ गई तथा वाष्पचलित नौकाएँ व रेलों का विकास हुआ। इससे माल के परिवहन एवं विपणन का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। इससे अनेक नये व्यवसाय स्थापित हुए तथा प्राचीन व्यवसायों में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

2. व्यापार एवं वाणिज्य में प्रगति (Progress in Trade & Commerce)—औद्योगीकरण से उत्पादन बढ़ रहा था। आवागमन के साधनों में जल व थल मार्गों का विकास होने व सन्देशवाहन की सुविधाओं के बढ़ने से दूर-दूर के क्षेत्रों से सम्पर्क करना सरल हो गया था। अतः व्यापार का क्षेत्र स्थानीय या राष्ट्रीय ही नहीं रहा बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। विश्व के किसी भी देश में निर्मित होने वाली वस्तु का किसी भी देश में बिकना सम्भव हो गया।

3. उच्च जीवन-स्तर (Higher Standard of Living)—औद्योगिक क्रांति से समाज के जीवन-स्तर में बड़ा सुधार हुआ। उत्पादन लागत कम होने व उत्पादों की किस्म की संख्या व गुणों में सुधार होने से पहले की तुलना में अधिक एवं श्रेष्ठ वस्तुओं का उपभोग करना सम्भव हो गया। साथ ही उत्पादन के नये उद्योगों में काम करने पर आय में भी वृद्धि हुई। इससे समाज का जीवन-स्तर पहले की तुलना में श्रेष्ठ हुआ। रहन-सहन के स्तर में सुधार से तथा उद्योगों की सफलता से लोगों में आत्मविश्वास पैदा हो गया अतः अधिक प्रगति के लिए अधिक लगन एवं साहस दिखाया गया।

4. नगरीकरण (Urbanisation)—औद्योगिक क्रान्ति से नगरीयकरण हुआ। पुराने नगरों का विकास हुआ तथा नये नगर बसने लगे। जहाँ भी उद्योगों की स्थापना बड़ी मात्रा में हुई वहीं नगर बन गया। ग्रामीण क्षेत्रों से लोग वहाँ आकर रहने लगे। सम्पन्न वर्ग के नगरों में अधिक होने व निवासियों की संख्या अधिक होने से जीवन की सामान्य सुविधाओं को उपलब्ध कराने के प्रयास यहाँ अधिक किए गए। नगरों की स्थापना से आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं वैज्ञानिक सब प्रकार की प्रगति को प्रोत्साहन मिला। नगरीय जीवन एवं नगरीय व्यवस्था ग्रामीण जीवन

से बिल्कुल ही भिन्न थी। नगरों में विभिन्न भागो के व विभिन्न धर्म व भाषा के लोग रहते हैं अतः इससे संस्कृति संक्रमण का क्रम भी प्रारम्भ हो गया।

5. बैंकिंग व्यवस्था (Banking System)—औद्योगिक क्रान्ति से पूंजी की आवश्यकता तथा पूंजी का आदान प्रदान, मुद्रा में किए जाने वाले व्यवहारों मे बहुत वृद्धि हुई अतः पूंजी एवं मुद्रा बाजार की सुविधा प्रदान करने के लिए बैंको की स्थापना हुई। आज की अर्थव्यवस्था मे बैंकिग प्रणाली का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

6. राष्ट्रीय आय में वृद्धि (Increase in National Income)—औद्योगिक क्रान्ति से देश के उद्योगो एवं व्यापार मे वृद्धि हुई। प्राकृतिक साधनों का आर्थिक कल्याण के लिए अधिक विदोहन किया गया जिससे राष्ट्रीय आय मे बहुत वृद्धि हुई। देश की सम्पन्नता तथा अन्य देशो की तुलना में अधिक उन्नत होने के लिए बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय बड़ा सहयोग प्रदान करती है।

7. श्रम कल्याण (Labour Welfare)—श्रमिको की संख्या के बढ़ने एवं औद्योगिक नगरों में उनका सामूहिक मिलन होने से उन्हें सगठित होने की प्रेरणा मिली। श्रमिको की कठिनाइयो के हल के लिए सामूहिक मांगें प्रस्तुत की गईं। कुछ समाज-सुधारको ने भी श्रमिकों की हीन दशा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया, इससे सरकार द्वारा श्रमिकों के कल्याणार्थ कुछ कानून बनाए तथा उद्योगपतियों को भी कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ बनाने के लिए बाध्य किया गया। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग के लिए यह एक सराहनीय शुरुआत थी। आजकल तो श्रम कल्याण एवं सुरक्षा की योजनाओ की व्यवस्था करना सरकार एव उद्योगपतियों का एक प्रमुख कार्य हो गया।

8. समाज सुधार (Social Reforms)—औद्योगिक क्रांति से ज्ञान एव विज्ञान में प्रगति हुई। विभिन्न देशों के मध्य आवागमन एवं सन्देशवाहन-सुविधाएँ बढ़ी, लोगो का परस्पर मिलना-जुलना व विचारो का आदान-प्रदान हुआ। इससे लोगों ने अपने समाज की बुराइयां पहचानीं तथा उन्हें दूर करने के लिए नियोजित प्रयास किए गए। समाज की उन्नति के लिए शिक्षा एवं वैज्ञानिक विचारो के महत्त्व को समझा गया।

औद्योगिक क्रान्ति के दोष
(Disadvantages of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के कुछ लाभ थे तो दूसरी ओर उससे कुछ हानियाँ भी रही। इस क्रान्ति से विकास की प्रक्रिया में महान गति प्राप्त हुई लेकिन इसके साथ ही कुछ दोष भी उत्पन्न हुए जो कि क्रान्ति के मूल्य के रूप में चुकाने पड़े हैं। इन दोषों को दूर करने के प्रयास भी किए गए लेकिन फिर भी इनसे पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ जा सका।

1. गृह उद्योगों का पतन (Degeneration of Cottage Industries)—औद्योगिक क्रान्ति से बड़े स्तर के उद्योगों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे...

ग्रह उद्योग समाप्त होते गये। ग्रह उद्योगों का उत्पादन बड़े उद्योगों के उत्पादन की तुलना में प्रतिस्पर्द्धा में टिक न सका। उनमें काम करने वाले लोगों में बेरोजगारी फैलने लगी तथा ग्रामीण क्षेत्रों की अर्थ-व्यवस्था को इससे बहुत धक्का लगा।

2. बेरोजगारी में वृद्धि (Increase in Unemployment)—औद्योगिक क्रान्ति ने मशीनों व तकनीकी विधियों का प्रयोग बढ़ा दिया जिससे एक मशीन अनेक श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्य के बराबर कार्य करने लगी। अतः मशीनीकरण से उत्पादन तो बढ़ा लेकिन साथ ही बेकारी भी बढ़ने लगी इससे श्रमिकों की दशा बड़ी खराब हो गई। यह सत्य है कि अनेक सहायक एवं नवीन उद्योगों की भी स्थापना हुई लेकिन पुराने एवं परम्परागत तरीके से कार्य करने वाले इनका लाभ नहीं उठा सकते थे अतः बेकारी की स्थिति भी पैदा हुई।

3. पारिवारिक विघटन (Family Disorganisation)—औद्योगिक क्रान्ति के कारण अनेक ग्रामीण श्रमिक गाँवों को छोड़कर नगरों में रहने लगे। गाँव में उन्हें अपने पपम्परागत उद्योगों में रोजगार नहीं मिल पा रहा था। अतः उनके नगरों में बसने से परिवारों का विघटन हुआ। नगरों में प्रारम्भ में असुविधाएँ होती थीं जिससे परिवार को नहीं लाया जा सकता था। ग्रामीण क्षेत्रों के परिवारों का ही नहीं नगरों में रहने वाले व्यक्तियों के परिवारों का भी विघटन हुआ क्योंकि आवागमन के साधनों में सुधार से व्यापार का क्षेत्र बढ़ रहा था। अतः अधिक लाभ की लालसा में बहुत से व्यक्तियों ने दूसरे नगरों में जाना पसन्द किया। जिन आवश्यकताओं की पूर्ति एक परिवार के संयुक्त जीवन में होती है उनकी पूर्ति अब कई संगठनों द्वारा की जाती है जैसे वृद्धावस्था, पेन्शन, बीमारी एवं बेरोजगारी की स्थिति में सहायता देना आदि जिससे संयुक्त परिवार समाप्त होते जा रहे हैं।

4. गन्दी बस्तियाँ (Slums)—औद्योगिक क्रान्ति ने गन्दी एवं भीड़युक्त बस्तियों को जन्म दिया है। जहाँ न पर्याप्त मकान होते हैं और न सड़क, और न ही सण्डास, पानी, बिजली आदि की समुचित व्यवस्था होती है। रहने के मकान भी इतने छोटे एवं अवैज्ञानिक रीति से बने होते हैं कि उनमें स्वस्थ जीवन बिताया ही नहीं जा सकता। औद्योगिक क्रान्ति के बाद इस प्रकार की बस्तियाँ बड़ी मात्रा में बढ़ गई जहाँ श्रमिकों को नारकीय जीवन व्यतीत करना होता है।

5. कार्य की अमानवीय दशाएँ (Bad Working Conditions)—उद्योगों में श्रमिकों के काम की दशाएँ बहुत ही खराब थीं। महिला व बालकों को भी कार्य करना पड़ता था। काम के घण्टे एक दिन में 12 से भी अधिक थे। मध्यावधि अवकाश एवं छुट्टी की कोई व्यवस्था नहीं थी। जहाँ श्रमिक कार्य करते थे वहाँ भी स्थान, सफाई, स्वच्छ वायु एवं प्रकाश का अभाव रहता था जिससे श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता था तथा वे अनेक रोगों से ग्रसित हो जाते थे।

6. व्यक्तिगत विघटन (Personal Disorganisation)—औद्योगिक क्रान्ति से व्यक्तियों का विघटन भी हुआ। बेरोजगारी के भय, पारिवारिक जीवन की सुविधा न होने, उद्योग में कार्य की अमानवीय दशाओं के होने, आवास समस्या, उद्योगपतियों का कठोर व्यवहार व्यक्ति को अनेक तनाव प्रदान करता है। वह सामान्य स्थिति में नहीं रह पाता जिससे दुर्घटनाएँ होती हैं तथा निरन्तर तनाव व असन्तोष से बहुत से लोग मानसिक रूप से भी विकृत हो जाते हैं। इससे मनुष्य का भी विघटन हुआ है।

7. आर्थिक विषमता से हीनता की भावना उत्पन्न होना (Economic disparity creats inferiority complex)—औद्योगिक क्रांति ने आर्थिक विषमता बढ़ा दी। अमीर व गरीब के दो वर्ग बन गए। अमीर अत्यधिक सुख-सुविधा से विलासता का जीवन व्यतीत करता है तो दूसरी ओर गरीब को अपनी दैनिक आवश्यक आवश्यकताओं के लिए भी कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इससे गरीब व आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग में हीनता की भावनाएँ उत्पन्न हो गई जो कि मानवीय विकास के लिए बड़ी घातक होती हैं।

8. सामाजिक कुरीतियाँ (Bad Tradition in Society)—औद्योगिक क्रान्ति से समाज में अनेक कुरीतियाँ भी पनपी। श्रमिकों में अनेक बुरी आदतें उत्पन्न हो गई। बाल अपराध, यौन अपराध, मद्यपान, जुआ, कपट, वेश्यावृत्ति आदि बढ़ गये। शोषण व अमानवीयता से स्वार्थ व हिंसा ने उग्ररूप धारण कर लिया। भौतिक कल्याण एव सम्पन्नता की लालसा ने समाज के सम्पन्न वर्ग का भी नैतिक पतन किया। व्यक्तिगत स्वार्थ के समक्ष सामाजिक दायित्व की पूर्णतः उपेक्षा की गई।

भारत में औद्योगिक क्रान्ति
(Industrial Revolution in India)

भारत के उद्योग धंधे एवं कलाकौशल 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अपने चर्मोत्कर्ष पर थे। कुटीर उद्योगों में उत्पादित वस्तुएँ देश एवं विदेश में बड़ी लोकप्रिय थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी यहां की वस्तुओं को यूरोप एवं अन्य प्रदेशों को निर्यात किया करती थी। मथुरा, मुर्शिदाबाद, ढाका, तंजौर, पूना, आगरा, लखनऊ, बनारस आदि कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे तथा यहां की वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं। लेकिन प्लासी के युद्ध के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं के कारण आर्थिक शोषण तथा दमन की नीति भारतीय उद्योग धन्धों के पतन का कारण बनी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश शासन की जड़ें भारत में पूरी तरह जम गयी थी। भारतीय उद्योग धन्धे ब्रिटिश नीति के कारण प्रायः समाप्त से हो रहे थे। श्री रानाडे के अनुसार "भारत की औद्योगिक स्थिति पिछली शताब्दी के आठवें दशक के मध्य में अधोगति को पहुँच चुकी थी।" ब्रिटिश शासन यह नहीं चाहता था कि भारत में उद्योगों का विकास हो। वह भारत को ब्रिटेन पर निर्भर रखना चाहता था लेकिन समय की गति प[illegible]

यूरोपीय देशों में आई औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा तथा ऐसी परिस्थितियाँ बनीं कि भारत में भी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। भारत में निर्माणी उद्योगों के पहले बागान उद्योग का विकास हुआ। इनमें नील, चाय तथा कहवा के बाग प्रमुख थे। इन तीनों ही प्रकार के बागान उद्योग की स्थापना भारत में ब्रिटिश पूँजी एवं साहस के द्वारा हुई।

(i) नील उद्योग—ब्रिटिश नागरिकों ने नील की खेती के लिए बंगाल व बिहार में अपनी कोठियाँ स्थापित की थी। ये किसानों को वित्तीय सहायता देते थे तथा उनसे नील के पौधे खरीद कर नील का निर्माण करके यूरोप को भेजते थे। यह धन्धा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरु हुआ था तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चला। बाद में कृत्रिम नील बनने से यह उद्योग समाप्त हो गया।

(ii) चाय उद्योग—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में ही चीन से चाय के कुछ पौधे मंगाकर उन्हें भारतीय चाय के पौधों के साथ कलम करके नए पौधे विकसित किए गए। ब्रिटेन एवं यूरोप के अन्य देशों में चाय की माँग अधिक होने से लाभ की आशा में अनेक ब्रिटिश नागरिकों ने असम व बंगाल में भूमि खरीद कर चाय के बाग स्थापित किए। बहुत समय तक इन बागों का स्वामित्व ब्रिटिश नागरिकों के पास रहा। बाद में धीरे-धीरे वे इनको भारतीयों को विक्रय कर दिया गया। यहाँ की चाय ब्रिटेन को निर्यात की जाती थी। सन् 1866 में ब्रिटेन के चाय आयातों में भारतीय चाय का प्रतिशत 4 था जो 1903 तक बढ़कर लगभग 60 हो गया था।

(iii) कहवा उद्योग—कहवे का पौधा भारत में सत्रहवीं शताब्दी में ही मूर (Moor) व्यापारियों द्वारा लाया गया था लेकिन बागान उद्योग के रूप में इसकी खेती सन् 1840 से ही प्रारम्भ हुई। सन् 1860 के बाद इस उद्योग का तीव्रता के साथ विकास हुआ क्योंकि अन्य देशों में कहवे की कृषि कम हो गई थी। सन् 1860 से 1879 तक भारत से कहवे के निर्यात में दस गुनी वृद्धि हुई। प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने तक भारत में लगभग दो लाख एकड़ भूमि में कहवे की खेती होती थी।

(iv) निर्माणी उद्योग—निर्माणी उद्योग भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुए। इनमें सूती वस्त्र निर्माण उद्योग एवं जूट उद्योग प्रमुख थे। सूती वस्त्र उद्योग का विकास बम्बई में हुआ तथा जूट उद्योग कलकत्ता में। मशीनों से युक्त कारखाने सन् 1854 में बड़े स्तर पर लगाये गए। रेल यातायात का प्रारम्भ सन् 1852 से हुआ। सन् 1854 से रानीगंज की कोयला खानों से कोयला निकालना प्रारम्भ किया गया। इनके अतिरिक्त कागज, चमड़ा कोयला व अन्य खनिज उद्योग भी स्थापित किए गए। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक दियासलाई, काँच, साबुन आदि का निर्माण करने वाले कारखाने भी बन गए थे। अधिकांश उद्योग उपभोक्ता उद्योगों की श्रेणी के थे जिनके लिए मशीन व अन्य उपकरण विदेशों से ही आयात करने पड़ते थे। लोहा निर्माण करने वाला प्रथम कारखाना आसनसोल में बर्न एण्ड

कंपनी द्वारा तथा दूसरा कारखाना टाटानगर में जमशेद जी द्वारा खोला गया। सन् 1911 में हुई औद्योगिक गणना के अनुसार "देश में ऐसे कारखानों की संख्या जिनमें बीस या अधिक श्रमिक कार्य करते थे 7113 थी। इनमें से 4,569 ऐसे कारखाने थे जिनमें यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग किया जाता था। इन कारखानों में कुल मिलाकर बीस लाख श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ था। सात लाख चाय व कहवा बागानों में, तीन लाख सूती वस्त्र उद्योग में, दो लाख जूट मिलों में, एक लाख कोयला खानों में तथा शेष अन्य उद्योगों में थे।" इस प्रकार भारत में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ जिस पर यूरोपीय देशों में हुई औद्योगिक क्रान्ति का पर्याप्त प्रभाव था।

भारत में औद्योगिक क्रान्ति के कारण
(Causes of Industrial Revolution in India)

भारत में कुटीर उद्योगों के प्रायः नष्ट हो जाने के साथ-साथ औद्योगिक क्रान्ति निम्नलिखित कारणों से हुई। इन्हें औद्योगिक क्रान्ति के प्रेरक तत्व भी कह सकते हैं—

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त होना—सन् 1833 में भारत के साथ व्यापार करने का ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया था। ब्रिटेन की अन्य कम्पनियों ने भी यहाँ अपने कार्यालय स्थापित किए। कुछ विदेशी पूँजीपतियों ने यहाँ आकर अपने उद्योग भी स्थापित किए जिससे विदेशी तकनीक एवं पूँजी का आगमन यहाँ हुआ।

2. कम्पनी के अवकाश प्राप्त अधिकारियों द्वारा पूँजी विनियोग—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बहुत से अवकाश प्राप्त अधिकारियों ने भी यहाँ औद्योगिक विकास देखकर अपनी पूँजी उद्योगों में लगाई जिससे उनके अनुभवों का लाभ यहाँ नए उद्योगों की स्थापना को मिला।

3. यातायात के साधनों का विकास—सन् 1850 के बाद भारत में रेल यातायात का श्री गणेश हुआ तथा उसके साथ-साथ सड़कों का निर्माण भी हुआ। इससे देश के बन्दरगाहों का देश के आन्तरिक भागों से सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसके फलस्वरूप उद्योग के स्थानीयकरण की सुविधायें उपलब्ध होने पर देश के आन्तरिक भागों में भी उद्योगों की स्थापना होने लगी।

4. विदेशी घटनाओं का प्रभाव—विदेशों में उत्पन्न राजनीतिक संकट एवं गृहयुद्धों के परिणामस्वरूप भारत के सूती वस्त्र एवं जूट उद्योग के विकास के लिए अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। निर्मित माल के निर्यात से उद्योगपतियों ने बहुत लाभ कमाया जिसे पुनः उद्योगों के विस्तार पर विनियोग किया गया।

5. राष्ट्रीय भावनाओं का प्रभाव—विदेशी शासन एवं विदेशियों की व्यापार नीति से भारत के नागरिकों में असन्तोष फैलने लगा। भारतीयों ने देश में उद्यो

स्थापना पर सोचना प्रारम्भ किया। सन् 1885 में स्थापित राष्ट्रीय काँग्रेस ने धीरे-धीरे स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ाया जिससे देश में ही उद्योगों की स्थापना की माँग उठाई गई जिससे भारत केवल कच्चे पदार्थों की पूर्ति का ही स्रोत नहीं रहे वल्कि स्वयं निर्माता देश वन सके।

6. स्वेज नहर का निर्माण—स्वेज नहर के निर्माण से यूरोपीय देशों के साथ दूरी कम हो गई वहाँ से मशीनें आदि मंगाना सस्ता एवं सुलभ हो गया। इससे विदेशी व्यापार की वृद्धि में भी सहायता मिली।

7. सस्ता श्रम—भारत में श्रम की लागत भी कम थी। कच्चे माल का अभाव भी यहाँ नहीं था। अतः सस्ते श्रम एवं सस्ते कच्चे माल की उपलब्धि का लाभ उठाने के लिए भी यहाँ विदेशी एवं भारतीय साहसियों को उद्योग प्रारम्भ करने की प्रेरणा मिली।

8. ब्रिटिश तकनीक का लाभ—भारत में इंगलैण्ड निवासियों का प्रभाव ज्यादा था। यह उनका उपनिवेश भी था। अतः इंगलैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति तथा बाद में विकसित वहाँ के औद्योगीकरण के प्रभाव से भारत भी अछूता नहीं रहा। वहाँ की तकनीक एवं पूँजी यहाँ आई जिससे आधुनिक प्रकार के वड़े कारखानों की स्थापना यहाँ हो सकी। भारत के नागरिक इंगलैण्ड भी जाते रहे तथा वहाँ की शिक्षा दीक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों को देश के आर्थिक विकास के लिए प्रयोग किया।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से यहाँ औद्योगिक क्रान्ति आई जिसकी प्रगति निरन्तर होती रही है तथा आज देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का जाल सा बिछा हुआ है।

4

औद्योगीकरण—परिभाषा और प्रभाव, औद्योगीकरण की प्रक्रियाएँ, समाज का औद्योगीकरण और मुख्य समस्याएँ

(Industrialisation—Definition and Effects, Processes of Industrialisation, Industrialisation of Society and Main Problems)

औद्योगीकरण शब्द उद्योग से बना है। उद्योग शब्द संकुचित एवं व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। संकुचित अर्थ में इसका आशय कच्चे माल से उपभोक्ता या उत्पादक वस्तुओं का सृजन करना है। व्यापक अर्थ में उद्योग से तात्पर्य उन सभी निर्माण क्रियाओं से है जो उपयोगिता सृजन के लिए की जाती हैं। इसके अन्तर्गत समस्त उत्पत्ति उद्योग, निर्माणी उद्योग, निष्कर्षण उद्योग व रचनात्मक उद्योग आते हैं। उत्पन्न या निर्मित किए जाने वाली वस्तुएँ उपभोक्ता के प्रत्यक्ष उपभोग के लिए हो सकती हैं या वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए जैसे मशीन, रासायनिक पदार्थ आदि। अतः उत्पादक या उपभोक्ता पदार्थों का निर्माण करना ही उद्योग कहलाता है। उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से उपयोगिता का सृजन होता है तथा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उद्योग शब्द को अनेक विद्वानों ने परिभाषित भी किया है। जोन रोबिन्सन के अनुसार "जब किसी भी उद्योग की बात कहते हैं तो हमारा आशय उन फर्मों या व्यावसायिक संस्थाओं से होता है जो किसी विशेष प्रकार का उत्पादन कार्य करती हैं, जिनके कार्य उन विशेष उत्पादित चीजों और उसके बनाने में लगी सामग्रियों पर निर्भर करते हैं।"[1] यह उद्योग की एक सामान्य परिभाषा है। सार्जेन्ट फ्लोरेन्स के अनुसार "सामान्य अर्थ

1. *Robinson Joan* : Imperfect Competition Reviewed, British Economic Journal Sep. 1953.

के अनुसार उद्योग से आशय निर्माण से है तथा कृषि, खनिज और अधिकांश सेवायें इसके अन्तर्गत आती हैं।"[1] यह परिभाषा अधिक व्यापक एवं उपयुक्त है। उद्योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए एफ० जे० राइट ने लिखा है कि "उद्योग ऐसे अनुक्रमों या प्रक्रियाओं का सामूहिक रूप है जिनके द्वारा अनिर्मित पदार्थों को विक्रय योग्य बनाया जाता है। इन प्रक्रियाओं में तीन प्रकार के कार्य प्रमुख होते हैं—किसी पदार्थ को प्राकृतिक अवस्था से निकालना, उसका स्वरूप बदल कर वस्तुओं का निर्माण करना और फिर जिन लोगों को उनकी आवश्यकता हो उन तक पहुंचाने की व्यवस्था करना।"[2] यह परिभाषा उद्योग की सर्वांगीण व्याख्या करती है। अतः यह स्पष्ट है कि उद्योग के अन्तर्गत किसी एक प्रकार की निर्माणी क्रियाएँ ही नहीं आती। निर्माणी क्रियाओं के आधार पर इन्हें निम्न चार प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. प्राकृतिक या उत्पत्ति सम्बन्धी उद्योग (Natural or Genetic Industry)—इनके अन्तर्गत कृषि, वन, मछली आदि उद्योग सम्मिलित हैं जिनमें प्राकृतिक साधनों का विदोहन कर मानवीय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ पैदा की जाती हैं।

2. निष्कर्षण या खनन उद्योग (Extractive or Mineral Industry)—निष्कर्षण या खनन उद्योग में वे उद्योग आते हैं जिनका सम्बन्ध भूमि, वायु या समुद्र में से कोई पदार्थ निकालने से होता है।

3. निर्माणी उद्योग (Manufacturing Industry)—इसमें कच्चे माल या अर्द्धनिर्मित माल को श्रम, मशीन व उत्पादन प्रक्रिया के द्वारा उपभोग करने हेतु नये रूप में निर्मित किया जाता है। उदाहरण के लिए स्पात, चीनी, वस्त्र निर्माण आदि के उद्योग। निर्माणी प्रक्रिया के आधार पर निर्माणी उद्योगों को भी निम्न पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(i) विश्लेषणात्मक उद्योग (Analytical Industry)—इनमें कच्चे माल का विश्लेषण या शोधन करके विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जैसे कच्चे तेल को साफ करके पैट्रोल, डीजल, मिट्टी का तेल आदि बनाना।

(ii) संश्लेषिक उद्योग (Synthetical Industry)—इनमें विभिन्न प्रकार के कच्चे माल को मिलाकर निर्माणी प्रक्रिया द्वारा वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जैसे सीमेंट, साबुन, प्लास्टिक, पेन्ट आदि का निर्माण करना।

1. *Sargent F. P.*: Economics and Sociology of Industry.
2. *Wright F. J.*: The Evolution of Modern Industrial Organisation, p.6.

(iii) प्राविधिक उद्योग (Processing Industry)—इनमे कच्चा माल कई प्रक्रियाओं में से होकर अन्त में नये रूप में पहुचता है जैसे कागज, कपड़ा, चीनी उद्योग।

(iv) संयोजन उद्योग (Assembling Industry)—इनमें विभिन्न कल-पुर्जों को मिला कर एक उपयोगी वस्तु का निर्माण करना आता है जैसे कार, स्कूटर, रेडियो, टेलीविजन आदि।

(v) एकीकरण उद्योग (Integration Industry)—इनमे उत्पादन की विभिन्न प्रविधियों से उत्पादित वस्तुओं को एकीकृत रूप दिया जाता है जैसे रवड़ उद्योग, टायर उद्योग, आदि।

4. रचनात्मक उद्योग (Construction Industry)—रचनात्मक उद्योग स्थायी प्रकृति की ऐसी वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो सार्वजनिक हित में दूसरे उद्योग एवं वाणिज्यिक क्रियाओं के संचालन मे सहयोग देते हैं जैसे भवन, बांध, पुल, सड़क आदि का निर्माण करना।

उद्योगों का अर्थ समझने के बाद औद्योगीकरण का अर्थ समझना सरल है। विभिन्न उद्योगों की शृंखला जब व्यापक रूप धारण कर लेती है तो वह एक प्रक्रिया बन जाती है जहाँ एक के बाद अगला उद्योग लग जाता है। इस प्रक्रिया को ही औद्योगीकरण कहते हैं। औद्योगीकरण की यह प्रक्रिया जहाँ भी प्रारम्भ होती है वहीं देश की अर्थ-व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन ला देती है।

औद्योगीकरण की परिभाषा
(Definition of Industrialisation)

औद्योगीकरण शब्द का प्रयोग भी संकुचित एवं व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। संकुचित अर्थ मे औद्योगीकरण से आशय निर्माणी उद्योगों की स्थापना एवं विकास से है। इस रूप में यह आर्थिक विकास की व्यापक क्रियाओं का केवल एक अंग मात्र है जिसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों की कुशलता बढ़ा कर जीवन स्तर को ऊँचा उठाना है। 'व्यापक अर्थ में औद्योगीकरण से आशय देश की सम्पूर्ण आर्थिक संरचना को परिवर्तित करना है।' इसमें केवल निर्माणी उद्योग ही नहीं आते बल्कि कृषि, परिवहन, वित्त आदि भी सम्मिलित होते हैं। औद्योगीकरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसे विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित किया है।

पी० कांग चांग के अनुसार "औद्योगीकरण एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत महत्वपूर्ण उत्पादन कार्यों की एक शृंखला का जन्म होता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वे समस्त परिवर्तन आते हैं जो किसी उपक्रम के मशीनीकरण, किसी नवीन उद्योग की स्थापना, किसी नवीन बाजार में प्रवेश तथा किसं

विदोहन के परिणामस्वरूप घटित होते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो पूँजी को गहनता ही नहीं प्रदान करती है बल्कि उसे व्यापकता भी प्रदान करती है।"[1]

श्री चांग द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषा औद्योगीकरण की प्रक्रिया के महत्व पर ज्यादा केन्द्रित है। इसके अनुसार उत्पादन कार्यों में होने वाले परिवर्तनों का जन्म इस प्रकिया के कारण ही होता है। नवकरण (Innovation) इस प्रक्रिया का प्रमुख लक्षण है जिससे पूँजी का गहन (deep) एवं व्यापक (Wide) उपयोग सम्भव होता है। नये परिवर्तन विभिन्न प्रकार से हो सकते हैं। इनका सम्बन्ध यन्त्रीकरण, नये उपक्रमों की स्थापना, नये बाजरों की खोज एवं नये क्षेत्रों के उपयोग से हो सकता है।

चांग द्वारा दी गई परिभाषा में पूँजी की गहनता तथा पूँजी की व्यापकता अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रो० हेन्सन ने शब्दों की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि "पूँजी की गहनता से तात्पर्य प्रति इकाई उत्पादन के लिए अधिकाधिक मात्रा में पूँजी के उपयोग से है। इसके विपरीत पूंजी की व्यापकता से तात्पर्य पूंजी के विस्तार एवं प्रसार से है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के अन्तिम उत्पादन एवं पूंजी-निर्माण दोनों में साथ-साथ वृद्धि होती है।"[2] इस प्रकार औद्योगीकरण पूँजी के गहन एवं व्यापक उपयोग के द्वारा एक ऐसी प्रक्रिया को जन्म देता है जो एक शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में सफल होती है। उत्पादन के लिए प्रति इकाई अधिक पूँजी लगाने से श्रमिक की उत्पादकता बढ़ती है। इससे राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है। साथ साथ प्रति व्यक्ति बचत क्षमता में वृद्धि होती है जिससे पूँजी निर्माण एवं उद्योग की स्थापना एवं विस्तार होता है। इस प्रक्रिया से औद्योगीकरण की गति और भी अधिक तेज होती जाती है।

यूजीन स्टेले के अनुसार "उच्च उत्पादकता औद्योगीकरण की प्रक्रिया का अग्रिम अंग है तथा ये दोनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध एवं प्रभावित होते हैं।"[3]

1. "Industrialisation is a process in which of a series of strategical production functions are taking place. It involves those basic changes that accompany the mechanisation of an enterprise the building of a new industry, the opening of a new market and the exploitation of a new territory. This is in a way a process of 'deepening' as well as 'widening' of capital."
   —*Pei Kang Chang* : Agriculture and Industrialisation, p. 69.
2. "Deepening process is one where more capital is used per nit of output, while the widening process means that capital formation grows pari-passu with the increase in output of final goods."
   —*Prof. A.H. Hansen* : Fiscal Policy & Business Cycles, p. 355.
3. "Industrialisation and high productivity are parts of an interlinked process, one does not proceed very far without the other."
   —*Eugene Staley.*

इस आधार पर औद्योगीकरण का अर्थ फैक्ट्रियों, मिलों, खानों, शक्ति संयन्त्रों, रेलवे आदि की निर्माण सम्बन्धी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित क्रियाओं के पूर्ण एवं सम्बन्धित विकास से है जिससे आधुनिक औद्योगिक संरचना का निर्माण एवं संचालन होता है। इस अर्थ में औद्योगीकरण में आर्थिक विकास की विस्तृत प्रक्रिया का विचार निहित है।

कॉनडिल्फे तथा रोसेन्टीन रोडन (Condliffe and Rosenstein Rodan) के अनुसार औद्योगीकरण अति जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए पलायन (Emigration) का विकल्प है जिससे आर्थिक रूप से कम विकसित देशों में राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इस अर्थ में अल्पविकसित देशों में औद्योगीकरण एवं कृषि का पुनर्निर्माण एक ही समस्या के परस्पर सम्बन्धित दो भाग हैं।

औद्योगीकरण की विशेषताएँ
(Characteristics of Industrialisation)

औद्योगीकरण की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

1. उद्योगों से सम्बन्धित—औद्योगीकरण उद्योग सम्बन्धी क्रियाओं से सम्बन्धित है जो उपयोगिता का सृजन करती है।

2. प्रक्रिया है—*औद्योगीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा देश के प्राकृतिक* साधनों का अधिकतम उपयोग किया जाता है।

3. पूँजी का विनियोग—औद्योगीकरण में पूँजी का गहन एवं विस्तृत विनियोग किया जाता है जिससे बड़े पैमाने पर वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन किया जाना सम्भव होता है।

4. औद्योगिक सेवाओं का अंग होना—औद्योगिक सेवायें औद्योगीकरण की प्रक्रिया का आवश्यक अंग होती है। बड़े पैमाने पर उत्पादित माल के परिवहन एवं व्यापार के लिए परिवहन एवं संचार, बैंक बीमा आदि की सेवाओं का प्रसार करना आवश्यक होता है।

5. तकनीकी ज्ञान—औद्योगीकरण के लिए बड़ी मात्रा में श्रेष्ठ स्तर का तकनीकी ज्ञान आवश्यक होता है। उत्पादन के लिए उन्नत मशीन, उपकरण व वैज्ञानिक विधियाँ प्रयोग की जाती हैं।

6. परिवर्तनों की शृंखला—औद्योगीकरण के अन्तर्गत उत्पादन कार्यों में परिवर्तनों की एक शृंखला उदय होती है। इसमें अनुसंधान, मशीनीकरण, आधुनीकरण, नये बाजारों में प्रवेश, अनेक उद्योगों के परस्पर सम्बन्धित विकास का क्रम बन जाता है।

7. नवीन दिशा देता है—औद्योगीकरण एक परम्परागत प्रसित अर्थव्यवस्था में व्याप्त अवरोधों को समाप्त करके

सामाजिक विकास के लिए नई दिशाएँ प्रस्तुत करना है। यह क्रान्तिकारी एवं विकासात्मक होता है।

8. आर्थिक प्रगति—औद्योगीकरण से देश की व्यापक आर्थिक प्रगति होती है। राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है तथा नागरिकों के रहन-सहन का स्तर भी सुधरता है। इसके द्वारा व्यक्तियों को निर्धनता की रेखा से ऊपर उठाकर एक सन्तोषजनक स्तर प्रदान किया जा सकता है।

औद्योगीकरण के स्वरूप
(Patterns of Industrialisation)

औद्योगीकरण का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है। औद्योगीकरण का पूर्व इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि इसके स्वरूप में समानता नहीं है। विभिन्न देशों ने अपनी आर्थिक, भौगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए जो भी स्वरूप उपर्युक्त माना उसे ही अपना लिया। अपनाये गये स्वरूपों को विभिन्न आधारों पर निम्नलिखित भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

1. पूँजी के स्वामित्व के आधार पर (Ownership of Capital)

पूँजी के स्वामित्व के आधार पर औद्योगीकरण का स्वरूप पाँच प्रकार का होता है।

(i) निजी क्षेत्र (Private Sector)
(ii) सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)
(iii) मिश्रित स्वरूप (Mixed Pattern)
(iv) संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector)
(v) सहकारी क्षेत्र (Cooperative Sector)

(i) निजी क्षेत्र—निजी क्षेत्र के स्वरूप में औद्योगीकरण के लिए पूँजी व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों के द्वारा विनियोग की जाती है। उद्योगों का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध भी विनियोक्ताओं के ही हाथ में होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के देश जैसे इंगलैण्ड, संयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस आदि में निजी उद्यम करने वालों के द्वारा ही उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया गया।

(ii) सार्वजनिक क्षेत्र—सार्वजनिक क्षेत्र के स्वरूप के अन्तर्गत राज्य की सरकार को ही उद्यमकर्त्ता के रूप में औद्योगीकरण के लिए पूँजी का विनियोग करना पड़ता है तथा उनका प्रबन्ध व नियन्त्रण भी उसी के हाथ में होता है। सरकार देश के साधनों एवं नागरिकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय करती है कि कब, कहाँ, किसका तथा किस आकार का उद्योग स्थापित किया जाय। विश्व के समाजवादी एवं साम्यवादी राष्ट्रों में औद्योगीकरण के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का स्वरूप ही अपनाया गया है। इन देशों में चीन, रूस, यूगोस्लाविया, चैकोस्लाविया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(iii) मिश्रित क्षेत्र का स्वरूप—निजी क्षेत्र एवं सार्वजनिक क्षेत्र के स्वरूपों के गुणों का लाभ उठाने के लिये मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अपनाई गई जिसके अन्तर्गत निजी क्षेत्र एवं सार्वजनिक क्षेत्र दोनों के द्वारा ही उद्योगो की स्थापना करके देश का औद्योगीकरण किया गया है। मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले देशो में प्रारम्भ में निजी क्षेत्र मे औद्योगीकरण आगे बढ़ा तथा बाद में राष्ट्रीयकरण के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र को भी अपनाया गया। वहाँ निजी क्षेत्र एव सार्वजनिक क्षेत्र दोनों के उद्योग रहे तथा उद्योगो को दोनों क्षेत्रों में बाँट दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन मे तथा योजनाकाल मे भारत में मिश्रित व्यवस्था का स्वरूप अपनाया गया। नये विकासशील देशों मे यह स्वरूप बड़ा लोकप्रिय हुआ है।

(iv) संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector)—निजी क्षेत्र के स्वरूप के दोषो से मुक्ति पाने के लिए तथा उसके गुणों का लाभ उठाने के लिए यह स्वरूप अपनाया गया। इसके अन्तर्गत उद्योग के स्वामित्व मे पूँजी सरकार एव निजी उद्यमी दोनो ही के द्वारा लगाई जाती है लेकिन सरकार का भाग ज्यादा होता है। इससे सरकार को प्रभावशाली नियन्त्रण रखने मे सुविधा होती है। भारत जैसे विकासशील देशों मे यह स्वरूप अपनाया गया है।

(v) सहकारी क्षेत्र—नागरिको मे स्वावलम्बन एवं अलग-अलग व्यक्तियों के अल्प साधनों को मिलाकर पारस्परिक कल्याण के लिये सहकारी क्षेत्र अपनाया गया है। डेरी, कृषि पदार्थों का परिष्करण, चीनी उद्योग आदि की स्थापना सहकारी संस्थाओ के द्वारा की गई है। भारत के अलावा डेनमार्क, फ्रान्स, हालैण्ड आदि विकसित देशों में भी औद्योगीकरण का यह स्वरूप अपनाया गया है।

2. विकास की गति के आधार पर स्वरूप (Growth Rate Pattern)

विकास की गति के आधार पर औद्योगीकरण का स्वरूप दो प्रकार का हो सकता है।

(i) विकासात्मक (Evolutionary)—औद्योगीकरण मे हुए परिवर्तनों की शृंखला यदि स्वाभाविक गति से एक लम्बी अवधि में पूरी होती है तो उसे विकासात्मक स्वरूप कहा जाता है। इंगलैण्ड, जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में औद्योगीकरण विकासात्मक गति से ही हुआ है वहाँ जो स्थिति वर्तमान में है उसमें पर्याप्त समय लगा है।

(ii) क्रान्तिकारी (Revolutionary)—यदि औद्योगीकरण के लिए पूर्व सुनिश्चित योजना के अनुसार एक नियोजित विधि मे शीघ्रता के साथ अल्प अवधि में ही उद्योग स्थापित किये जाते हैं तो उसे औद्योगीकरण का क्रान्तिकारी स्वरूप कहते हैं। सोवियत रूस, चीन आदि देशो में क्रान्तिकारी स्वरूप ही अपनाया गया है जिससे वहाँ कम अवधि मे ही औद्योगीकरण हुआ।

3. गहनता के आधार पर स्वरूप (Intensity Pattern)

गहनता के आधार पर औद्योगीकरण का स्वरूप दो प्रका

(i) पूंजीपरक (Capital intensive)—यदि औद्योगीकरण के लिए ऐसे उद्योग अधिक मात्रा में लगाये जाते हैं जिनमें पूँजी अधिक मात्रा में विनियोग की जाती है तथा पूँजी का अनुपात श्रम से बहुत ज्यादा होता है अर्थात् बड़ी एवं अत्यधिक आधुनिक मशीनों के द्वारा उत्पादन बढ़ाने का प्रयास रहता है तो उसे पूँजीपरक स्वरूप कहते हैं। इसमें आधारभूत एवं भारी उद्योग सम्मिलित होते हैं।

(ii) श्रमपरक (Labour intensive)—इस स्वरूप में औद्योगीकरण के लिये लघु एवं कुटीर तथा मध्यम आकार के उपभोक्ता उद्योगों को प्राथमिकता दी जाती है जिनमें पूँजी की तुलना में श्रमिकों की आवश्यकता होती है। सीमित साधन होने पर यह आवश्यक होता है कि देश के हितों को देखते हुए पूँजी परक एवं श्रम परक दोनों ही प्रकार के उद्योगों की स्थापना करके देश का औद्योगीकरण किया जाय। विकासशील देशों में दोनों ही प्रकार के स्वरूप अपनाये गये हैं। जहाँ पूँजी का अभाव हो तथा श्रमिकों का अभाव न हो वहाँ श्रमपरक उद्योगों को ही प्राथमिकता देनी चाहिये।

4. आकार के आधार पर स्वरूप (Size Pattern)

उद्योगों के आकार के आधार पर भी औद्योगीकरण का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। आकार के सम्बन्ध में यह विवाद अवश्य रहता है कि आकार किस आधार पर निर्धारित किया जाय पूँजी के आधार पर या उद्योग के उत्पादन के आधार पर या उद्योग में लगे श्रमिकों की संख्या के अनुसार। आकार का माप-दण्ड क्या माना जाय यह एक विवादपूर्ण विषय है। विनियोजित पूँजी के आधार पर उद्योगों को निम्न चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) भारी एवं आधारभूत उद्योग (Heavy & Basic Industries)
(ii) मध्यम आकार के उद्योग (Medium Size Industries)
(iii) लघु उद्योग (Small Scale Industries)
(iv) कुटीर उद्योग (Cottage Industries)

उपरोक्त उद्योगों के आधार पर ही आकार के अनुसार औद्योगीकरण का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस आदि देशों ने भारी एवं आधारभूत उद्योगों के आधार पर तथा जापान, स्विटजरलैण्ड आदि देशों ने लघु एवं कुटीर उद्योगों के आधार पर औद्योगीकरण किया है। भारत में भारी, आधारभूत, मध्यम आकार के तथा लघु एवं कुटीर उद्योग का समन्वित स्वरूप अपनाया जा रहा है।

5. उत्पादित वस्तु के प्रकार के आधार पर स्वरूप (Product Pattern)

उद्योगों में निर्मित की जाने वाली वस्तुओं के प्रकार के आधार पर भी औद्योगीकरण का स्वरूप वर्गीकृत किया जाता है। इस आधार पर उद्योग दो प्रकार के होते हैं।

(i) उपभोक्ता वस्तु उद्योग (Consumer goods Industries)—जैसे कपड़ा, चीनी, जूट, चमड़ा, चाय, तम्बाकू, वनस्पति, तेल उद्योग आदि तथा

(ii) पूंजीगत वस्तु उद्योग (Capital goods industries)—जैसे लोहा एवं स्पात उद्योग, मशीन एवं मशीन टूल्स उद्योग, सीमेन्ट उद्योग, भारी विद्युत सामान उद्योग, रसायन उद्योग आदि । आजकल सामान्यतया दोनों ही प्रकार के उद्योगों को स्थापित करके औद्योगीकरण किया जाता है ।

6. स्थानीयकरण के आधार पर स्वरूप (Locational Pattern)

स्थानीय कारण के आधार पर औद्योगीकरण का स्वरूप दो प्रकार का होता है ।

(i) केन्द्रीकृत औद्योगीकरण (Centralised Industrialisation)—इसके अन्तर्गत जिन स्थानो पर उद्योग के स्थानीयकरण की सुविधाएँ सुलभ होती हैं वहाँ अधिकाश उद्योग स्थापित कर दिये जाते हैं तथा नवीन इकाइयों को भी वहीं स्थापित किया जाता है जहाँ कि पहले से ही उद्योग लगे हुये हैं । इससे कुछ स्थानों पर बड़ी मात्रा में उद्योग स्थापित हो जाते हैं ।

(ii) विकेन्द्रित औद्योगीकरण (Decentralised Industrialisation)—जब कुछ स्थानों पर उद्योगो का बड़ी मात्रा में केन्द्रीयकरण हो जाता है तो वहाँ कुछ समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा एक सीमा के बाद वहाँ उद्योगो का लगाना लाभप्रद नही रहता । अतः देश के अन्य भागो में उद्योग स्थापित किये जाते हैं । क्षेत्रीय विकास की दृष्टि से भी उद्योगो का केन्द्रीयकरण ठीक नहीं माना जाता । अतः क्षेत्रीय सन्तुलित विकास के लिए उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण का स्वरूप अपनाया जाता है ।

1. विकास दर के आधार पर स्वरूप (Growth Trend Pattern)

विकास की दर धनात्मक है या ऋणात्मक, इसके आधार पर औद्योगीकरण का स्वरूप दो प्रकार का होता है ।

(i) अग्रगामी औद्योगीकरण (Forward Industrialisation)—इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के विकास की दर धीरे-धीरे बढती जाती है ।

(ii) पृष्ठगामी औद्योगीकरण (Backward Industrialisation)—यदि विकास की दर बढ़ने के स्थान पर घटती है तो इसे पृष्ठगामी औद्योगीकरण कहते हैं । कभी-कभी प्राकृतिक कारणों से या गलत नियोजन से या आर्थिक मन्दी आदि किसी भी कारण से विकास की दर घट जाती है । ऐसी स्थिति से बचने एवं विकास दर को बढ़ाने के लिए सरकार एव उद्योगपतियों को नियोजित प्रयास करने पड़ते हैं ।

इस प्रकार औद्योगीकरण के विभिन्न स्वरूप होते हैं । यह आवश्यक नहीं है कि किसी देश मे कोई एक ही प्रकार का स्वरूप अपनाया जाय । एक देश में उसकी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओ के अनुसार एक या एक से अधिक स्वरूप भी अपनाये जा सकते हैं ।

औद्योगीकरण की गति
(Speed of Industrialisation)

औद्योगीकरण की गति सभी देशों में समान नहीं पाई जाती। कुछ में औद्योगीकरण तीव्र गति से होता है तो कुछ में बहुत ही मन्थर गति से धीरे-धीरे होता है। औद्योगीकरण को गति में भिन्नता अनेक कारणों से होती है। यहाँ कुछ कारणों का उल्लेख किया जा रहा है—

1. प्रारम्भिक स्वरूप—औद्योगीकरण की प्रारम्भिक स्थिति में यदि उत्पादक वस्तुओं के उद्योग लगाये जाते हैं तो विकास की गति तेज रहती है क्योंकि इनसे अन्य उद्योगों की स्थापना में सहयोग मिलता है। इसके विपरीत यदि प्रारम्भ में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग लगाये जाते हैं तो उपभोग की वस्तुओं का अभाव तो नहीं रहता लेकिन विकास की गति मन्द रहती है। उदाहरण के लिए सोवियत रूस में क्रान्ति के उपरान्त तीन पंचवर्षीय योजनाओं में कुल विनियोग तीन चौथाई भाग उत्पादक वस्तु के उद्योगों में विनियोग किया गया जिससे वहाँ के विकास की गति तीव्र हो गई।

2. जनसंख्या की स्थिति—अधिक जनसंख्या एवं जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर रखने वाले देशों में विकास की दर धीमी होती है। ऐसे देशों में उपभोग की समस्या को हल करना ही बड़ा कार्य होता है। अतः उत्पादक वस्तुओं के उद्योग स्थापित करने की पर्याप्त व्यवस्था नहीं कर पाते तथा ऐसे देशों में जनता का व्यावसायिक ढाँचा बदलने में भी समय लगता है।

3. विदेशी सहायता की उपलब्धि—अविकसित एवं आर्थिक दृष्टि से कमजोर देशों में विकास एवं औद्योगीकरण, विदेशी सहायता एवं तकनीकी सहयोग पर निर्भर करता है। यदि पूँजी एवं तकनीक सम्बन्धित पर्याप्त मात्रा में विदेशों से प्राप्त नहीं होती तो विकास की गति ज्यादा नहीं हो पाती।

4. विकसित तकनीकों का लाभ—प्रारम्भ में जिन देशों में औद्योगिक क्रान्ति आई वहाँ तकनीकी आविष्कार करने तथा उनका विकास करने में समय लगा अतः वहाँ औद्योगीकरण की गति धीमी रही। इसके विपरीत औद्योगिक क्रान्ति के बाद जिन अन्य देशों में औद्योगीकरण हुआ वहाँ समय कम लगा क्योंकि उन्हें अन्य देशों में विकसित आविष्कार एवं वैज्ञानिक विधियों का लाभ मिल गया। उन्हें स्वयं इनके लिए कार्य नहीं करना पड़ा। अतः बाद के देशों में औद्योगीकरण की गति तीव्र रही है।

5. मानवीय साधन की कुशलता—औद्योगीकरण की गति में मानवीय साधनों के गुण एवं कुशलता भी महत्त्वपूर्ण हैं। बिना मानवीय सहयोग के औद्योगीकरण में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। प्रोफेसर रेगनर नर्क्स (Prof. Regnar Nurkse) के अनुसार "मानवीय भावनाओं, सामाजिक दृष्टिकोणों, राजनीतिक दशाओं एवं ऐतिहासिक दुर्घटनाओं का आर्थिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विकास के लिए केवल पूंजी के बल पर ही औद्योगिक विकास सम्भव नहीं होता जब तक कि उच्च स्तर के मानवीय साधनों का सहयोग न मिले।" देश के नागरिकों में लगन, निष्ठा, ईमानदारी एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं का औद्योगीकरण की गति पर प्रभाव पड़ता है। जहाँ इन गुणों का अभाव पाया जाता है वहाँ पूँजीगत साधन होने पर भी विकास की गति ज्यादा नहीं हो पाती।

6. सामाजिक परम्पराएँ—औद्योगीकरण की प्रक्रिया के शुरू हो जाने के बाद सामाजिक परम्पराओं में भी परिवर्तन आता है लेकिन यदि यह परिवर्तन तेजी से नही आता तो औद्योगीकरण की गति भी ज्यादा नही हो पाती। प्राचीन रीति, रिवाज, रूढ़ियाँ, सामाजिक संस्थाओं आदि का प्रभाव इस प्रक्रिया की गति पर पड़ता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को बदलने का कार्य आसान नही होता। इसके लिए नागरिकों की शिक्षा एवं सहयोग बहुत आवश्यक होता है।

7. राजकीय नीति—देश के औद्योगीकरण की गति में राजकीय नीति का भी बड़ा योगदान होता है। सरकारी संरक्षण, सरकार की पहल, राज्य की औद्योगिक नीति, प्रशुल्क एवं कर नीति आदि का औद्योगिक विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। आजकल राज्य की सरकार स्वयं एक उद्यमी के रूप में भारी एवं आधारभूत उद्योगों की स्थापना करके विकास करने के लिये पहल करती है तथा उद्योगों के समक्ष उत्पन्न बाधाओं को हल करने में सहयोग देती है। इससे औद्योगीकरण की गति बढ़ती है।

8. प्राकृतिक साधन—यदि देश में ही आधारभूत उद्योगों के लिए पर्याप्त खनिज सम्पदा एवं शक्ति के साधन उपलब्ध होते है तो देश के औद्योगीकरण की गति तीव्र रहती है।

9. अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का प्रभाव—औद्योगीकरण की गति पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का प्रभाव भी पड़ता है। विदेशों में हुए युद्ध से दूसरे देशों को अपना उत्पादन बढ़ाने व निर्यात बढाने के अवसर बढ़ जाते हैं जिससे उद्योगों का [illegible] होता है। युद्ध छिड़ने पर युद्ध में संलग्न देश की आवश्यकताएँ बढ़ जाती है [illegible] उसे भी अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयास करना होता है।

औद्योगिक विकास के निर्धारक तत्व

(Determinants of Industrialisation Growth)

किसी भी देश के औद्योगीकरण पर निम्नलिखित तत्वों का प्रभाव [illegible] है जिन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (i) आर्थिक [illegible] (ii) गैर आर्थिक तत्व।

(i) आर्थिक तत्व (Economic factors)

आर्थिक तत्व के अन्तर्गत अग्रलिखित साधनों का औद्योगि[illegible] पड़ता है—

1. प्राकृतिक साधन (Natural Resources)—देश की प्राकृतिक सम्पदा में सम्पन्नता औद्योगिक विकास को प्रभावित करती है। देश में पाये जाने वाले खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन, समुद्री तट, नदियाँ, कृषि योग्य भूमि, वन सम्पदा आदि देश के औद्योगीकरण में सहायक होते हैं। यदि देश में इन प्राकृतिक साधनों का अभाव होता है तो विकास के लिए अच्छी स्थिति नहीं होती। जब तक देश में प्राकृतिक साधन न हो तब तक उनके उपयोग एवं विदोहन के लिये प्रयास नहीं किए जा सकते। प्रोफेसर लेविस के अनुसार **"अन्य बातें समान रहने पर अल्प साधनों की तुलना में प्रचुर साधनों का उपयोग अधिक उत्तम ढंग से किया जा सकता है।"**[1] यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि प्राकृतिक साधनों के साथ-साथ उस देश के नागरिकों में अपने साधनों का विदोहन करने की लालसा एवं लगन भी होनी चाहिए अन्यथा साधनों के प्रचुर मात्रा में होने पर भी औद्योगीकरण नहीं हो सकता।

2. पूँजी निर्माण (Capital Formation)—औद्योगिक विकास के लिए पूँजी निर्माण की गति भी तेज होनी चाहिए। औद्योगिक विकास के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। देश के उत्पादन का पूर्णतः तात्कालिक उपभोग पर व्यय न करके कुछ पुनः विनियोग के लिए बचाना भी चाहिए। बचत एवं पूँजी संचय की प्रक्रिया जितनी ज्यादा होगी देश का औद्योगीकरण उतना ही जल्दी होगा। बचतों को नये उद्योगों में लगाने पर उत्पादन बढ़ता है तथा बचतें भी बढ़ती हैं। एक बार यह प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर बराबर बढ़ती जाती है। पूँजी निर्माण की दर अधिक होने पर औद्योगीकरण करना ज्यादा सरल हो जाता है।

3. साहस की मात्रा (Enterprise)—औद्योगीकरण के लिए साहसी होना आवश्यक होता है जो कि पूँजी विनियोग के लिए योजना तैयार करता है तथा उद्योग में पूँजी लगाकर जोखिम उठाता है। प्रारम्भ में साहसियों की संख्या कम होती है लेकिन एक बार औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर साहसी उद्योगों में ज्यादा रुचि लेते हैं। यदि देश में पूँजी व अन्य साधन उपलब्ध भी हों तो साहसियों के अभाव में औद्योगिक विकास नहीं हो सकता।

4. मानवीय पूँजी (Human Capital)—औद्योगीकरण के लिए मानव पूँजी का होना भी आवश्यक होता है। मानव पूँजी से आशय अधिक जनसंख्या से नहीं है बल्कि इसका आशय ऐसे मानव समूह से है जो कुशल एवं ज्ञानवान हों तथा औद्योगीकरण के लिए प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते हों। औद्योगीकरण के लिये मानव पूँजी का निर्माण किया जाना चाहिए। हारबिसन तथा मेयर्स के अनुसार "देशवासियों के ज्ञान, कुशलता एवं क्षमताओं में वृद्धि करने की प्रक्रिया को ही

1. "Other things being equal, we can make better use of rich resources than we can of poor."
—*Prof. W. A. Lewis* : The Theory of Economic Growth.

मानव पूंजी निर्माण की संज्ञा दी जाती है।"[1] उत्पादन की तकनीकों को समझना तथा उन्हें संशोधित करके आधुनिकतम बनाना मानव शक्ति का ही कार्य है। इस क्षमता को उत्पन्न करने के लिए शिक्षा एवं ज्ञान के विकास पर विशेष ध्यान देना होता है।

5. तकनीकी प्रगति (Technical Progress)—उद्योगों के विकास एवं आधुनिक उत्पादन प्रक्रियाओं के अपनाने के लिए नवीनतम तकनीक का उपलब्ध होना आवश्यक होता है। पश्चिमी देशों में औद्योगिक विकास का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटक रहा है। उन्नत तकनीक एवं अन्वेषण के बिना देश के अन्य साधनों का भी समुचित उपयोग नहीं किया जा सकता।

(ii) अनार्थिक तत्व (Non-Economic Factors)

औद्योगीकरण अनार्थिक तत्वों से भी प्रभावित होता है। प्रो० रेगनर नर्कसे के अनुसार "आर्थिक विकास से मानवीय गुणों, सामाजिक प्रवृत्तियों, राजनैतिक दशाओं एवं ऐतिहासिक घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।" अतः औद्योगीकरण की प्रक्रिया मे निम्न आर्थिक तत्व भी महत्वपूर्ण होते हैं—

1. सामाजिक स्थिति (Social Conditions)—अप्रगतिशील एवं रूढ़वादी सामाजिक रीतियाँ औद्योगीकरण के लिए बाधक होती है। औद्योगीकरण के लिए यह आवश्यक है कि समाज में नवीन परम्परायें एवं मनोवृत्तियाँ स्थान लें जिससे औद्योगीकरण के लिए उचित सामाजिक वातावरण बन सके।

2. सांस्कृतिक एवं धार्मिक वृत्तियाँ (Cultural and religious attitudes)—धार्मिक कट्टर विचार, अन्धविश्वास, अवैधानिक सोचने का ढंग, भाग्यवाद आदि औद्योगीकरण के लिए बाधक होते हैं। अतः इनमें परिवर्तन लाना बहुत आवश्यक होता है। इन परिवर्तनों को लाने के लिए अथक प्रयास एवं लगन आवश्यकता होती है।

3. राजनैतिक एवं प्रशासनिक दशाएं (Political and Administrative Conditions)—देश में राजनैतिक स्थिरता एवं कुशल प्रशासन का होना भी औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक होता है। समाज में शान्ति एवं व्यवस्था न होने पर औद्योगिक विकास की प्रक्रिया ठीक प्रकार से नहीं चल सकती।

✓ औद्योगीकरण के प्रभाव
(Effects of Industrialisation)

एक राष्ट्र में औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाने के बाद उद्योगों की मात्रा एवं आकार निरन्तर बढ़ता जाता है। इससे वहाँ अनेक परिवर्तन होते हैं।

1. "Human capital formation is the process of increasing knowledge the skills and the capacities of all people of the
—*Harbison*"

इन परिवर्तनों का वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। औद्योगीकरण देश की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक संरचना को बिल्कुल बदल देता है। इसके गम्भीर एवं क्रान्तिकारी प्रभावों को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

1. **सामुदायिक जीवन का ह्रास**—औद्योगीकरण से सामुदायिक भावना घटी है इससे समूह का आकार बढ़ गया है तथा समूह के सदस्यों में 'हम' की भावना के स्थान पर 'मैं' की भावना ज्यादा बलवती हो गई है। नगरों के आकार के बढ़ने के साथ-साथ वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्ध क्षीण हो गये हैं। जितना बड़ा नगर होता है वहाँ के व्यक्तियों में पारस्परिक घनिष्टता तथा सामुदायिक भावना कम होती जाती है। व्यक्ति अपनी ही निजी समस्याओं में ज्यादा उलझा रहता है।

2. **परिवार का विघटन**—औद्योगीकरण से परिवारों का विघटन हुआ है। लोगों के खर्चे व आवश्यकताएँ बढ गई हैं जिनकी पूर्ति एक व्यक्ति की आय से नहीं हो सकती अतः परिवार के अन्य सदस्य अर्थात पत्नी व बच्चे भी काम करने एवं धन अर्जित करने के लिए बाध्य होते हैं। इससे परिवार का विघटन हुआ है। प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने औद्योगीकरण से प्रभावित परिवार का वर्णन करते हुए लिखा है कि "प्रातःकाल वे घर से डिब्बों में परांठे डालकर निकलते हैं और शाम को लौटकर आते हैं। रात को वे सोते हैं। आपस में घुल मिलकर बैठने का समय उनको नहीं मिलता। एक ही मकान में रहते हुए भी, रुधिर का सम्बन्ध होते हुए भी वे एक दूसरे से इतने ही मिलते हैं जितने पड़ौस के अन्य व्यक्तियों से। भोजन का कार्य होटलों को, कपड़े धोने का लाउन्ड्री को। घर का कार्य कोई भी नहीं करता। अब तक परिवार इसलिए तो बना हुआ था कि कुछ लोग घर पर रहते थे तथा कुछ कमाते थे। घर रहने वाले घर के कार्य करते थे। अब घर पर कोई नहीं रहता जिससे परिवार टूटता चला जा रहा है।" औद्योगीकरण से एक ओर लोगों के खर्चे बढ़े हैं तो दूसरी ओर कार्य करने के अवसर भी बढ़े हैं जिससे सभी लोग काम पा सकते हैं।

3. **परिवारों का आकार छोटा होना**—औद्योगीकरण से परिवारों का आकार छोटा हो गया है। रोजगार की तलाश में लोग शहरों में आकर बस जाते हैं जहाँ काम मिलने पर रहते हैं। इससे व्यक्ति अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर अलग रहने को बाध्य होता है। इसके अतिरिक्त जब परिवार के सदस्य पृथक रूप से उद्योगों में काम करते हैं तथा अपने कार्य का पृथक से वेतन पाते हैं तो परस्पर साथ रहने की बात समाप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पत्नी व बच्चों के साथ अलग रहकर स्वतन्त्र रूप से रहना पसन्द करता है। ज्यादा कमाने वाला व्यक्ति एवं उसकी पत्नी यह पसन्द नहीं करते कि उनकी आय का कुछ अंश परिवार के अन्य सदस्यों पर खर्च किया जाय। अतः इस पारिवारिक के दायित्व से बचने के लिये वे

पृथक रहना प्रारम्भ कर देते हैं। इसके फलस्वरूप परिवार का आकार जहाँ बहुत बड़ा होता था, माता पिता, चाचा, ताऊ, बहिन, भाई एवं उनके बच्चे सब साथ-साथ थे वहाँ अब परिवार छोटे हो गये हैं पति पत्नी एवं उनके बच्चे ही साथ रह पाते हैं। बड़े होकर रोजगार पाते ही बच्चे भी अलग हो जाते हैं।

4. नगरों की संख्या में वृद्धि—औद्योगीकरण से नगरों की संख्या भी बड़ी मात्रा में बढ़ गई है। जहाँ भी उद्योग स्थापित हुए वहाँ नगर बन गया क्योंकि उद्योगों के कारण आवश्यक सुविधाओं का विकास करना, उद्योगों में लगे जन समूह को आवास की सुविधा देना, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु अन्य सहायक व्यवसायों की स्थापना करना आदि के विकास का एक क्रम प्रारम्भ हो जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी लोग काम की तलाश में नगरों में आ जाते हैं जहाँ कार्य मिलने पर स्थाई रूप से रहना प्रारम्भ कर देते हैं। भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया में अनेक नये नगरों व औद्योगिक बस्तियों का निर्माण हो गया है। भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर आदि नये नगर बन गये हैं। पुराने नगरों में भी उद्योगों का विस्तार होने से उनका आकार बहुत बढ़ गया है।

5. धर्म के प्रभाव में कमी—औद्योगिक व्यवस्था में मनुष्य भौतिकवादी अधिक हो गया है वह हर प्रकार से अधिक से अधिक धन अर्जन करना चाहता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर हुई औद्योगिक प्रगति ने केवल विश्वास के आधार पर चलने वाली धार्मिक भावनाओं को समाप्त कर दिया है। व्यक्तियों के धार्मिक विश्वासों में कमी होती जा रही है। वे धर्म को केवल एक अन्ध-विश्वास मानने लगे है। इससे पहले धर्म एवं भगवान के नाम पर व्यक्ति बहुत से गलत, अनैतिक एवं असामाजिक कार्यों को नही करता था। वहाँ अब वह उन्हें न करने का कोई औचित्य नही मानता।

6. आवश्यकताओं में वृद्धि—औद्योगीकरण ने विविध प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन सम्भव बनाया है उनसे मानवीय जीवन की सुलभता बढी है अतः हर व्यक्ति पहले की अपेक्षा अब अधिक वस्तुओं की आवश्यकता रखता है। उसके भोजन, शिक्षा, आवास, वस्त्र, मनोरंजन, सामाजिक सत्कार आदि सभी से सम्बन्धित आवश्यकताएँ पहले की तुलना में बहुत बढ गई हैं। जिन वस्तुओं की पहले कल्पना भी नही की जाती थी वे आजकल सामान्य आवश्यकता की वस्तुएँ बन गई हैं जैसे घड़ी, रेडियो, स्कूटर, धूप के चश्मे, सुगन्धित साबुन एवं पौडर आदि।

7. पुरुष स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन होना—उद्योगों में स्त्री व पुरुष दोनों ही कार्य करते हैं तथा वेतन पाते हैं। काम के आधार पर उनके वेतन व पद में समानता होती है इससे ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री के प्रति जो सम्मान पाया जाता है वह नगरों में नही पाया जाता। ग्रामीण क्षेत्र में महिलाओं में पुरुष के आश्रय पर रहने की भावना होती है। इस प्रकार की हीन भावना औद्योगिक नगरों में नहीं पाई जाती। महिलायें कार्यालयों एवं कारखानों में काम करती हैं। स्कूल व

कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करती हैं तथा अपनी बुद्धि एवं ज्ञान के आधार पर प्रगति करती हैं। इससे स्त्री व पुरुष में समानता की भावनायें पाई जाती हैं।

8. वैवाहिक विघटन—औद्योगीकरण से विवाह प्रथा का भी विघटन हुआ है। औद्योगिक नगर बड़े होते हैं। लड़कियाँ कॉलेजों में लड़कों के साथ पढ़ती हैं। उद्योगों में व कार्यालयों में साथ काम करती हैं। इससे पुरुष व महिलाओं का परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना होता है तथा परस्पर निकटता बढ़ती है। फलस्वरूप परम्परागत रीति से विवाह करने की प्रथा कम होती जा रही है। न्यायालय में विवाह करना या माता-पिता की असहमति होने पर भी विवाह करना प्रचलित होता जा रहा है। ऐसे बहुत से विवाह ज्यादा दिन नहीं चल पाते थोड़ी थोड़ी सी बातों पर पुनः वैमनस्य व मतभेद हो जाते हैं तथा न्यायालय में तलाक दिया जाता है। प्रेम विवाह व तलाक बहुत बड़ी सीमा में औद्योगीकरण व शिक्षा की देन है।

9. सामाजिक समस्याओं में वृद्धि हुई है—औद्योगीकरण से बड़े नगरों में अनेक सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। बहुत से मजदूर अपना परिवार गाँव में रखते हैं स्वयं नगर में रहते हैं। इससे वैश्यावृत्ति की बुराई पैदा हुई है। यौन अपराध, अनैतिक मनोरंजन, किशोरापराध, मध्यपान, जुआ आदि की अनेक बुरी आदतों को प्रोत्साहन मिला है। चोरी, कपट, धोका, विश्वासघात करने की प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। ग्रामीण जीवन की सरलता, सादगी तथा नियमित जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति नष्ट हो गई है। व्यक्ति का नैतिक पतन औद्योगिक नगरों में ज्यादा मिलता है। व्यक्ति मानसिक तनाव की स्थिति में रहता है तथा निरन्तर तनाव की स्थिति उनमें अनेक मानसिक विकार पैदा कर देती है। औद्योगीकरण ने समाज के मूल्यों को ही बदल दिया है।

10. जाति प्रथा के बन्धनों में शिथिलता—औद्योगीकरण से जाति प्रथा के कठोर बन्धनों में शिथिलता आई है। एक ही उद्योग में विभिन्न जाति के लोग कार्य करते है। साथ बैठते उठते हैं। अवकाश के क्षणों में साथ जलपान भी करते हैं तथा उद्योग के बाहर एक दूसरे के सुख व दुख के क्षणों में भी साथ रहते हैं। उद्योग में भी वे बिना अपनी जाति का पूर्वाग्रह लिए कार्य करते हैं। चमड़े के उद्योग में ब्राह्मण व वैश्य भी संलग्न होते हैं तो दूसरी ओर बेकरी, चाय की दुकान व होटल-रेस्टोरेन्ट आदि में हरिजन भी काम करते मिलते हैं। इस प्रकार औद्योगिक नगरों में जाति के आधार पर ऊँच-नीच के भेद समाप्त होते जा रहे हैं। सभी को अपनी शिक्षा ग्रहण करने तथा अपनी योग्यता के आधार पर कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता है। यही नहीं परस्पर साथ काम करने व मिलने जुलने का यह भी प्रभाव देखने को मिलता है कि विवाह भी अब जातीय सीमाओं में नहीं रहा है। लोग अपनी इच्छानुसार किसी भी जाति के परिवार में विवाह करने में संकोच

नहीं करते। नवीन युवक वर्ग जाति-पांति के परम्परागत कठोर बन्धनों की अब चिन्ता नहीं करता।

11. आवास की समस्या तथा गन्दी बस्तियों की वृद्धि—ग्रौद्योगिक नगरों में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है तथा उसके रहने के लिए मकानों की समुचित व्यवस्था नहीं हो रही है। नये मकान बनने की गति बहुत ही मन्द हैं। फलस्वरूप नगरों में मकान का मिलना एक कठिन समस्या है। जो मकान वहाँ मिलते भी हैं वे पुराने छोटे व आधुनिक सुविधाओं से वंचित स्थानों पर हैं। परिणामस्वरूप एक छोटे से कमरे में भी कई व्यक्तियों को रहना होता। एक पूरा परिवार भी एक कमरे मे ही गुजारा करता है तथा उसी एक कमरे मे रहना, सोना, खाना, अपना सामान रखना तथा आवश्यक पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों को भी निभाया जाता है। श्रमिकों के आवास की वस्तियों मे तो जल, प्रकाश, नाली, गन्दगी डालने के स्थान, दैनिक सफाई, सड़क आदि की भी व्यवस्था नहीं पाई जाती उस घुटन एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण में लोगों को अपना जीवन व्यतीत करना होता है जहाँ वे अनेकों रोगो से पीड़ित हो जाते हैं। तपेदिक, दमा, खुजली, मलेरिया, हैजा आदि इन बस्तियों की सामान्य बीमारी है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "भारतीय ग्रौद्योगिक केन्द्रों की हजारों बस्तियों में बिना बात ही पुरुषत्व को नपुंसक बनाया जाता है, स्त्रीत्व को निरादृत व अपमानित किया जाता है और बाल्यावस्था मे उत्पत्ति के समय ही विष दे दिया जाता है।" इन बस्तियों व मकानों में रहना बड़ा अमानवीय एवं मानवता का अपमान सा लगता है।

12. श्रमिक वर्ग का उदय—ग्रौद्योगीकरण की प्रक्रिया से समाज मे एक नये वर्ग का उदय हुआ है। बड़ी मात्रा मे कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिक एक नये वर्ग के रूप में विकसित हुए हैं। इन वर्ग की आय पूँजीपतियों की तुलना में बहुत कम होती है। श्रमिक उत्पादन के साधनों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनकी संख्या इतनी अधिक हो गई है कि समाज में श्रमिकों का एक पृथक वर्ग ही बन गया है जिसकी समस्यायें, रहन, सहन, खानपान, शिक्षा आदि भिन्न प्रकार की होती है। यह वर्ग उद्योगपतियों के उद्योगों में काम करता है लेकिन अनेक बार इनमें और उद्योगपतियों मे संघर्ष देखने को मिलते हैं। यह वर्ग यह अनुभव करने लगा है कि उद्योगपति अपनी पूँजी के बल पर इनके श्रम का शोषण करते हैं। अतः ये उनका संगठित होकर विरोध करते हैं।

13. श्रम संगठनों का विकास—श्रम नाशवान पदार्थ होता है। श्रमिक की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती है साथ ही अपने एव परिवार के जीवन के पालन-पोषण का भार उस पर होता है। उसकी सौदेबाजी की शक्ति (Bargaining power) उद्योगपति की तुलना में बहुत कम होती है। उनकी इस कमी का उद्योगपतियों द्वारा अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है। वे उन्हें कम से कम देना चाहते है तथा अधिक से अधिक उनसे काम लेना चाहते हैं। श्रमिकों के

कठोरता का व्यवहार करना, उन्हें कार्य से निकालने की धमकी देना, उनके कल्याण एवं सुरक्षा के प्रति उदासीन रहना अभी भी सामान्य बातें हैं। अतः उद्योगपतियों के ऐसे व्यवहार का विरोध करने, अपनी माँगों को सामूहिक रूप से रखने तथा अपनी कार्य की दशाओं में सुधार के लिए श्रमिक वर्ग संगठित हुआ है। अब प्रत्येक बड़े संगठन में श्रम संघ मिलता है इसके बाद औद्योगिक नगर एवं राज्य के स्तर पर श्रमिकों के संगठन मिलते हैं। इन संघों के द्वारा श्रमिक के हितों की सुरक्षा के लिए संघर्ष किया जाता है। ये श्रमिकों की शक्ति के प्रतीक हैं तथा सरकार एवं नियोक्ता वर्ग को श्रमिकों की समस्याओं से अवगत रखते हैं तथा श्रमिक के हितों के लिए उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रम संघ जितना अधिक सुसंगठित होता है श्रमिक उतना ही अधिक सुरक्षित होता है। औद्योगिक अर्थव्यवस्था में श्रम संघ बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अनेक श्रम सन्नियमों का निर्माण, सुरक्षा व कल्याण की व्यवस्था, कार्य की दशाओं में सुधार, श्रमिक के प्रति सम्मान प्रदर्शन आदि श्रम संघों की संगठन शक्ति का ही परिणाम है।

14. सामाजिक जीवन एवं रहन-सहन पर प्रभाव—औद्योगीकरण की प्रक्रिया में अनेक आविष्कार हुए हैं, अनेक प्रकार की नवीन वस्तुएँ बनने लगी है। इन वस्तुओं के प्रयोग से समाजिक जीवन एवं रहन सहन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। रेडियो, टेलीविजन, फ्रिज, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, सिनेमा, गैस के चूल्हे, बर्तन साफ करने की मशीन, कपड़े धोने की मशीन, वायुमार्ग से यात्रा आदि का प्रयोग बड़ी मात्रा में बढ़ गया है। इससे परम्परागत जीवन एवं रहने का तरीका बिल्कुल ही बदल गया है। आज हर क्षेत्र में श्रम संचय यन्त्रों का प्रयोग बढ़ रहा है। भोजन की सामग्री एवं वस्तुओं में तथा वस्त्रों की किस्मों में भी परिवर्तन आया है। बना हुआ भोजन, ब्रेड, बिस्कुट, आचार व मुरब्बे तैयार स्थिति में उपलब्ध होते हैं। सूती व ऊनी वस्त्रों के स्थान पर कृत्रिम रेशे के वस्त्र बड़े लोकप्रिय हो गये हैं। मनोरंजन के लिए व्यापारिक स्तर पर चलने वाले छविगृहों का प्रयोग होता है तथा सामाजिक समारोहों की व्यवस्था के लिये होटलों की सेवा लेना सामान्य बात होती जा रही है। बड़े नगरों में मृत्यु के बाद शव की अन्त्येष्टि करने की विधि भी बदल गई है। अब लकड़ी व घी का प्रयोग शव को जलाने के लिये नहीं किया जाता बल्कि विद्युत की भट्टी में शव की अन्त्येष्टि कुछ ही क्षणों में कर दी जाती है। इस प्रकार औद्योगीकरण ने सामाजिक जीवन व रहन-सहन का रूप ही बदल दिया है।

15. ग्रामीण उद्योग-धन्धों का ह्रास—औद्योगीकरण ने परम्परागत कुटीर उद्योगों का ह्रास किया है। सूती वस्त्र निर्माण, सूत कातना, तेल निकालना, वस्त्र रंगना व छापना, कपड़ों पर कढ़ाई व जरी का काम आदि के कलात्मक उद्योग अब प्राय: नष्ट हो गये हैं। उनके उत्पादन की लागत अधिक आने से उनका टिकना कठिन हो गया। छोटे कुटीर उद्योग बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकते

अतः धीरे-धीरे पहले कुटीर उद्योग प्रायः नष्ट हो गये हैं। उनके स्थान पर अब कुछ नये कुटीर उद्योग जो मशीनों की सहायता से चलते हैं विकसित हो रहे हैं जैसे मशीन से स्वेटर बुनना, मोजे व बनियान बनाना, रेडियो के छोटे-छोटे पुर्जे बनाना, प्लास्टिक का सामान तैयार करना आदि।

16. राजनीतिकरण—औद्योगिक नगरों में शिक्षा की अच्छी सुविधाएँ होती हैं। श्रमिक एवं पूँजीपतियों के संघ होते हैं अतः अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए ये भी राज्य की राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेना पसन्द करते हैं। इस प्रकार की राजनैतिक चेतना औद्योगिक नगरों में ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक मिलती है।

17. राष्ट्र की सम्पन्नता में वृद्धि—औद्योगीकरण का प्रभाव राष्ट्र की सम्पन्नता पर भी पड़ता है। देश में अनेक नये उद्योगों के लगने की शृंखला प्रारम्भ होने से उत्पादन, रोजगार व व्यापार में वृद्धि होती है। विदेशों से मशीन व अन्य आवश्यक सामग्री का आयात करने से विकासशील देशों में प्रारम्भ में विदेशी व्यापार का शेष विपक्ष में हो सकता है लेकिन उत्पादन बढ़ने पर उपभोग के लिए किए जाने वाले आयात कम होते हैं तथा देश निर्यात करने की स्थिति में भी आने लगता है। देश के प्राकृतिक साधनों का औद्योगीकरण में समुचित विदोहन होता है जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। सामान्यतः कृषि अर्थव्यवस्था की तुलना में औद्योगिक अर्थव्यवस्था में देश की राष्ट्रीय आय ज्यादा होने के अवसर रहते हैं। साथ ही विभिन्न देशों के नागरिकों से मिलने-जुलने से व विचारों के आदान-प्रदान से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक परिवर्तन होते हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव : शहरों की विस्फोटक स्थिति

इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट के प्रो० नारायण सेठ ने दिसम्बर 1976 में आकाशवाणी से औद्योगीकरण के प्रभावों के एक विशिष्ट पहलू पर अपना भाषण प्रसारित किया था जो औद्योगीकरण के प्रभावों के अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

हममें से जो लोग बड़े शहरों और महानगरों में रहते हैं उन्हें इस तथ्य का स्वयं ज्ञान है कि अधिकांश ऐसे शहरों की हालत इस तरह के दबावों के कारण लगभग विस्फोटक हो गई है। उनके लिए यह जरूरी नहीं है कि कोई विशेषज्ञ इस बात को सिद्ध करे। हमारे शहरों में सीमित जगह पर निरन्तर बढ़ती हुई आबादी का बोझ शहर के सामाजिक जीवन में भाग लेने वाले सभी नागरिकों को सहज ही महसूस होता है।

प्रशासकों और नियोजकों के सामने आसन्न शहरी विस्फोट की जो विभीषिका मुँह फैलाए खड़ी है उसके कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू हैं : परिवहन, स्वास्थ्य और शिक्षा-प्रणाली। साथ ही साफ स्वच्छ हवा और स्वच्छ जल जैसे प्राकृतिक साधन जिन पर अब बहुत ज्यादा दबाव पड़ रहा है।

एक नागरिक ने अभी हाल में समाचार-पत्रों में अपने अनुभव का जो ब्यौरा प्रकाशित किया था उससे पता चलता है कि सामान्य नागरिक इस विभीषिका को किस प्रकार देखता है। इस रिपोर्ट के अनुसार, अब आप शाम को जरा जी बहलाने के विचार से सिनेमा का टिकट खरीदने जाते हैं तो हो सकता है टिकट के बजाय आपको टिकट खरीदने वालों की भीड़ को नियन्त्रित करने की कोशिश कर रहे सिनेमा के चौकीदारों की गालियां या डंडे खाने को मिलें।

यह समझना बिलकुल मुश्किल नहीं है कि हमारे शहरों में विस्फोट का जो खतरा पैदा हो गया है उसका मुख्य कारण यह है कि शहरों में, विशेष रूप से बड़े शहर-समूहों में, वाणिज्य और उद्योग केन्द्रित होते जा रहे हैं।

हमारे प्राचीन नगर-नगरियों का वह जमाना गुजर गया है जब वे सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र हुआ करती थीं और तत्कालीन हिन्दू सभ्यता की मशाल संसार के अन्य देशों को रोशनी दिखाती थी। अंग्रेजी शासन स्थापित होने और आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद से भारतीय नगर उत्तरोत्तर आधुनिक व्यापार और उद्योग की ओर उन्मुख होते जा रहे हैं।

किसी भी देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया अमुक महत्त्वपूर्ण तत्वों की सुलभता पर निर्भर करती है। ये हैं :—(1) परिवहन, संचार व्यवस्था, जल तथा बिजली जैसी भौतिक सुविधाएँ, (2) तकनीकी और प्रबन्धक योग्यताओं वाले व्यक्तियों की पूर्ति, वित्तीय साधनों की उपलब्धि तथा उत्पादित सामग्री के निपटाने के लिए वितरण-व्यवस्था का जाल, शिक्षा-संस्थाएँ तथा बैंकों के रूप में संस्थागत व्यवस्था, और (3) उत्पादित माल और सेवाओं के लिए बाजार।

यह निःसन्देह सही दिशा में उठाया गया कदम है। लेकिन यह भी जानी हुई बात है कि 'ये सुविधाएँ औद्योगिक विकास की मूल आवश्यकताएँ हैं और परम्परागत रूप से ये सुविधाएँ अन्य जगहों के मुकाबले बड़े-बड़े शहरी केन्द्रों में ज्यादा सुलभ रही हैं। तथ्य तो यह है कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में इन सुविधाओं की मौजूदगी ही वह विशेषता रही है जिसने शहरों को गांवों से अलग स्वरूप प्रदान किया है।

बड़े शहरों की अर्थव्यवस्था उद्योग और वाणिज्य-मूलक है जबकि गांवों की अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान है। अर्थव्यवस्थाओं के इस भेद ने इन दोनों की सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनशैलियों में असमानताएँ उत्पन्न कर दी हैं। कृषि की अपेक्षा औद्योगिक कार्य-कलापों में कहीं ज्यादा नियोजन और संगठन की आवश्यकता होती है।

शहरों का स्थानीय प्रशासन गांवों के स्थानीय प्रशासन की अपेक्षा ज्यादा प्रभावकारी है। शहर वालों के लिए स्वच्छता-सफाई, शिक्षा, मनोरंजन के आधुनिक साधन आदि के रूप में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हो जाना सम्भव है, किन्तु ये ही सुविधाएँ गाँव वालों को उतनी सुलभ नहीं हैं। छोटे शहरों और गांवों की अपेक्षा शहरी इलाकों में उच्च वर्ग और मध्य वर्ग के लोगों का अनुपात कहीं ज्यादा है।

शहरी रहन-सहन ग्रौर ग्रपेक्षाकृत ज्यादा सम्पन्नता शहरी लोगों को गांव वालों के मुकाबले ग्राथिक रूप से ज्यादा सुदृढ़ स्थिति में कर देती है। शहरी ग्राबादी की ग्रामदनी ग्रौर खर्च का दर्रा यह दिखाता है कि शहर के लोग ज्यादा पैसे कमाते हैं ग्रौर खर्च करते हैं ग्रौर वे बुनियादी जरूरतों के ग्रलावा ग्रौर बहुत-सी चीजों पर भी पैसा खर्च करते हैं।

इसके सिवा, चूँकि शहरी लोग ग्राधुनिक वस्तुग्रों, ग्राधुनिक विचारों ग्रौर ग्राधुनिक मूल्यों से बराबर प्रभावित होते रहते हैं, इसलिए उन्हें ग्रपने सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन स्वीकार करने में ग्रन्तर्बाधा नहीं महसूस होती।

बेशक एक सीमा तक शहरी ग्रौर ग्रामीण समाज में ग्रसमानता होनी लाजमी है ग्रौर वह वांछनीय भी हो सकती है। देश के समग्र ग्राथिक विकास में शहरों का प्रमुख योगदान है। यही नहीं, विदेशों के सामने भारतीय समाज की जो तस्वीर पेश होती है उसे शहरी क्षेत्र ही पेश करते हैं।

दूसरी ग्रोर, ऐसा सम्भव है कि बहुत से शहर ग्रपने ग्रास-पास के गाँवों पर निर्भर करते हों, लेकिन बदले में वे उन गाँवों को ज्यादा कुछ भी न देते हों। ऐसे शहर गाँवों के ऊपर पराश्रयी के रूप में जीवित रहते हैं। इन शहरों का विकास शहरी ग्रौर ग्रामीण जनता के बीच सामाजिक ग्रौर ग्राथिक खाई को चौड़ा कर सकता है।

सामाजिक ग्रौर ग्राथिक विकास की इस ग्रसमानता के सन्दर्भ में हमें भारतीय शहरों की विस्फोटक स्थिति को समझने की कोशिश करनी चाहिए। यह समस्या इस तथ्य के कारण ग्रौर भी ज्यादा चक्करदार हो जाती है कि स्वयं शहरी केन्द्रों के बीच भी बड़े शहर बहुत तेजी से बढ़ते जा रहे हैं जबकि छोटे कस्बे हाल के वर्षों में जहाँ थे वहीं हैं। एक ग्रोर जहाँ महानगरों की जनसंख्या 1961 ग्रौर 1971 के बीच 58 प्रतिशत से भी ज्यादा बढ़ी है, वहाँ छोटे से छोटे कस्बे की ग्राबादी में दो प्रतिशत से ज्यादा की कमी हुई है।

इस प्रवृत्ति का एक मुख्य कारण यह है कि ग्रौद्योगिक गतिविधि बड़े शहरों में ही केन्द्रित हो गई है ग्रौर परिणामस्वरूप छोटे शहरों से लोग ग्रौद्योगिक केन्द्रों की ग्रोर खिंचते जा रहे हैं। ग्रगर बड़े शहरों के विकास की यह गति जारी रही तो शहरों के विस्फोटन की बात लाक्षणिक न रहकर वास्तविक हो जाएगी।

शहरी विकास में यह ग्रसन्तुलन हमारे देश में कोई ग्रनोखी चीज नहीं है। ग्रधिकांश ग्रौद्योगिक समाजों ने इसी प्रकार समस्याग्रों का सामना किया है ग्रौर उन्हें ग्रपने ढंग से ग्रौर ग्रपने उपलब्ध साधनों से हल करने की कोशिश की है।

पश्चिम के सम्पन्न देशों को, जहाँ शहरी ग्राबादी ग्रामीण ग्राबादी से ज्यादा है, बड़े शहरों के ग्रस्वास्थ्यकर विकास को नियन्त्रित करने में कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसे कई देशों ने सामाजिक-ग्राथिक विकास की समस्याग्रों

दृष्टिकोण अपनाया है । इस दृष्टिकोण का फलितार्थ यह है कि शहरी केन्द्र के बारे में जो भी योजना बनाई जाए वह उस शहरी केन्द्र के आसपास के सम्पूर्ण क्षेत्र के आर्थिक विकास के कार्यक्रम के सन्दर्भ में बनाई जाए ।

रूस सहित सभी पूर्वी देशों ने शहरों और गांवों में शहरों और गांवों के बीच सुसंगत वितरण और औद्योगिक कार्यकलापों के ख्याल से विभिन्न आकारों के विकास केन्द्रों की एक रूपरेखा बनाई है । अभी हाल में ऐसी रिपोर्ट थी कि रूस के मास्को और लेनिनग्राद जैसे शहरों में छोटे शहरों के मुकाबले आबादी की वृद्धि का अनुपात बहुत कम था ।

हमारे देश में शहरों और महानगरों के ऊपर जो जबर्दस्त दबाव पड़ रहे हैं और उनके फलस्वरूप जो समस्याएँ पैदा हो रही हैं और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में जो असन्तुलन है, उसे नगर-नियोजकों और प्रशासकों ने स्वीकार कर लिया है ।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के समय से ही छोटे शहरों और नए शहरी केन्द्रों में औद्योगिक विकास को बढ़ाने की कौशिश की जाती रही है ताकि बड़े शहरों पर दबाव कम हो और इसके अतिरिक्त भौगोलिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों के आधार पर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने की कौशिश की जा सके ।

इसी नीति के अन्तर्गत अधिकांश नगरों और उनके आसपास के क्षेत्रों के विस्तृत और सुसंगत विकास के लिए मास्टर-प्लान तैयार किए गए हैं । इन मास्टर-प्लानों का एक मुख्य पहलू यह है कि बड़े शहरी क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना को नियन्त्रित किया जाए और छोटे शहरों या कस्बों और देहाती क्षेत्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित किया जाए ।

बम्बई जैसे महानगर में बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना सर्वथा निषिद्ध है और सरकार ने प्राचीन नगर से सटे-सटे एक नए नगर-समूह का विकास करके और छोटे शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में नए औद्योगिक कार्यकलापों को आरम्भ करने के लिए प्रोत्साहन देकर बम्बई महानगर में बहुत ज्यादा भीड़-भाड़ को खत्म करने के लिए गम्भीर प्रयत्न किया है । यह निश्चय ही सही दिशा में उठाया गया एक कदम है । इसके साथ ही यह सर्वविदित है कि देश के विभिन्न भागों में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की इस प्रकार की योजनाओं को बहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई है ।

उदाहरण के लिए, बड़े-बड़े शहरों में जमे हुए उद्योगपति अपने विशाल उद्योग का विस्तार लघु उद्योग क्षेत्र में नई इकाइयां खोलकर कर सकते हैं जिसकी कि कानून अनुमति देता है और इस प्रकार नई औद्योगिक गतिविधियों पर लगाए गए प्रतिबन्धों से बचने की कौशिश करते हैं । इसके सिवा, अक्सर ही उन क्षेत्रों में औद्योगिक गतिविधि का सूत्रपात होते देखा जाता है जो प्रशासनिक दृष्टि से शहरी सीमा के

बाहर अवस्थित होने हुए भी नगर-समूह के ही एक ग्रंग हैं। बड़े शहरो पर दवाव कम करने में ऐसे कदमों से कोई मदद नहीं मिलती।

शहरी विकास सम्बन्धी ऐसे प्रतिबन्धों को लाँघने में ऐसे सुविधाजनक तरीको का इस्तेमाल करने के लिए उद्योगपतियों की ग्रालोचना करना तो ग्रासान है, लेकिन यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि वे ऐसा क्यो करते हैं? दरग्रसल कोई भी व्यापारी सहज रूप से इसी बात की चिन्ता करता है कि उसके पूँजी-निवेश पर उसे क्या मुनाफा मिलेगा। उसके व्यापार के ग्रार्थिक पक्ष की यह माग है कि वह उन्ही क्षेत्रो में उद्योगो की स्थापना करे जो पहले से ही ग्रौद्योगिक केन्द्रो के रूप में प्रतिष्ठित हैं ग्रौर जहाँ कारगर ढग से उद्योग चलाने के लिए सारी बुनियादी जरूरतें उपलब्ध हैं। बिजली, परिवहन ग्रौर संचार की सुविधाए छोटे स्थानो पर भी उपलब्ध हो सकती हैं। लेकिन व्यापारी को तो यह भी देखना पडता है कि तकनीकी ग्रौर प्रवन्ध विषयक मामलो में दक्ष लोग भी उसे कहाँ सरलता से मिल सकते हैं, बैंको की सुविधा कहाँ है ग्रौर उसके उत्पादन के लिए बाजारो के व्यवहार्य रास्ते कहाँ है?

इन साधनों के विचार से उसको ऐसा लग सकता है कि बडे शहरी क्षेत्रो से निकलना ग्रार्थिक दृष्टि से लाभप्रद नही है। उसे इस बात का भी ज्ञान हो सकता है कि पहले से ही भीड-भाड़ वाले शहरी क्षेत्रों मे ग्रौद्योगिक गतिविधि के विस्तार के कारण सचार, परिवहन, शिक्षा, ग्रावास तथा चिकित्सा जैसे बुनियादी नागरिक साधनो के ऊपर बहुत ज्यादा दवाव पड़ेगा।

समाज की दृष्टि से देखें तो इस दवाव के कारण किसी उद्योगपति को होने वाले ग्रार्थिक लाभ के मुकाबले जो ग्रार्थिक ग्रौर सामाजिक कीमत समाज को चुकानी होगी वह बहुत ज्यादा होगी। लेकिन जब इन वृहत्तर सामाजिक मूल्यो का व्यापारिक उद्देश्यो से टकराव होता हो, तब किसी उद्योगपति के लिए उस मूल्य की चिन्ता करना जरा मुश्किल होता है।

कानूनी प्रतिवन्धो ग्रौर परोपकार की भावना से दिए गए प्रबोधनों से यह समस्या शायद थोड़ी-बहुत हल हो सके। किन्तु इस समस्या का कारगर हल इस बात पर निर्भर करेगा कि किसी क्षेत्र विशेष के लिए नियोजित सघठित ग्रौद्योगिक विकास पर ग्राधारित ग्रौद्योगीकरण किस प्रकार किया जाना है।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि थोड़ा-बहुत ग्रौद्योगिक विकास शायद संस्थापित शहरी क्षेत्रो मे ही करना जरूरी है, विशेष रूप से यदि किसी उत्पादित सामग्री की खपत शहरी क्षेत्रों में ही सीमित हो, जैसा कि कुछ उपभोक्ता ग्रौर विलास-सामग्रियों के बारे में सच भी है। लेकिन इसके साथ ही इस्पात रासायनिक खादों ग्रौर ट्रैक्टरों का उत्पादन करने वाले उद्योगो की स्थापना कस्बों ग्रौर ग्रामीण इलाको मे करना ग्रार्थिक दृष्टि से व्यवहार्य होना चाहिए।

ग्रौद्योगिक विकास मे क्षेत्रीय दृष्टिकोण रहते समय

भौगोलिक और राजनीतिक इकाइयों के बीच आर्थिक और सामाजिक अन्तर को भी ध्यान में रखना जरूरी होगा। कभी-कभी उद्योगों को ग्रामीण और पिछड़े हुए इलाकों में लगाना शुद्ध आर्थिक दृष्टि से घाटे का सौदा सिद्ध हो सकता है।

तथापि, एक दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो ऐसे इलाकों में औद्योगिक गतिविधियों के कारण जो आर्थिक, शैक्षणिक और सामाजिक अवसर उत्पन्न होंगे उनकी तुलना में अल्पकालिक आर्थिक हानि शायद कुछ नहीं ठहरेगी। इसी भावना से सरकार विशेष रूप से अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों की जनता की आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक गतिविधियों में सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश करती रही है।

चूँकि स्थानीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति राजनीतिक दलों के जरिये होती है, इसलिए कभी-कभी ऐसा लगता है कि सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की योजनाओं के पीछे राजनीतिक उद्देश्य है। तथापि हमारे जैसे लोकतान्त्रिक समाज में इसे क्षेत्रीय विकास की समस्या से निपटने का एक वैध तरीका माना जा सकता है।

संक्षेप में, शहरों पर दवाव कम करने और देश का सन्तुलित आर्थिक विकास करने की योजनाओं को विभिन्न भौगोलिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों के व्यापक आर्थिक और सामाजिक विकास की दृष्टि से बनाया जाना चाहिए। आर्थिक लाभ का महत्व अपनी जगह पर है, लेकिन यह परमावश्यक नहीं है।

औद्योगीकरण के लाभ
(Advantages of Industrialisation)

औद्योगीकरण किसी देश की अर्थव्यवस्था का कायाकल्प करने का अच्छा साधन है। इससे देश के मानवीय एवं प्राकृतिक साधनों का प्रयोग बढ़ता है। पूंजी का व्यावसायिक लाभ व शिक्षा का श्रेष्ठ उपयोग होता है। इससे प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है व देश में सम्पन्नता आती है। औद्योगीकरण के लाभों को बताते हुए शाही कृषि आयोग ने लिखा था "औद्योगीकरण समस्त राष्ट्र के लिए अत्यधिक लाभदायक होगा, क्योंकि यह पूंजी के नये साधनों को उत्पन्न करेगा, पूंजी की बचतों को बढ़ावा देगा, सरकार की आय में वृद्धि करेगा, श्रमिकों को जीविका प्रदान कर सकेगा, कृषि के अनिश्चित लाभों पर राष्ट्र की निर्भरता को कम करेगा तथा राष्ट्रीय जीवन को प्रेरणा प्रदान करेगा।" आयोग का यह कथन सत्य है। औद्योगीकरण से निम्नलिखित लाभ होते हैं।

1. **कृषि पर जनसंख्या के भार में कमी**—उद्योगों की स्थापना से कृषि पर जनता का भार कम हो जाता है। उद्योगों के अभाव में जनसंख्या के सामने जीवन-यापन का कोई दूसरा साधन नहीं होता। कृषि की उत्पादकता कम होने पर भी लोग उसी में लगे रहने को बाध्य होते हैं लेकिन देश में औद्योगीकरण होने पर वे कृषि

को छोड़ कर उद्योगों में काम करने लगते हैं जिससे जो लोग कृषि के उद्योग में बच रहते हैं उनकी उत्पादकता भी बढ़ती है तथा रहन-सहन का स्तर भी सुधरता है।

2. कृषि का विकास—औद्योगीकरण से कृषि का विकास भी होता है। कृषि यंत्र, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक दवायें, सिंचाई व्यवस्था के लिए आवश्यक यंत्र एवं उपकरण आदि का निर्माण होने से उन्नत कृषि करना सम्भव हो जाता है। कृषि के विकास के लिए भी उद्योगों की स्थापना की जाती है। एक अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास के लिए कृषि एव उद्योग दोनों का ही विकास आवश्यक होता है।

3. बहुमुखी विकास—औद्योगीकरण से देश का बहुमुखी विकास होता है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाने पर विविध प्रकार के उद्योगों की स्थापना होती है। उपभोग की वस्तुएँ व उत्पादक वस्तुएँ दोनों के ही उद्योग विकसित होते हैं तथा देश के प्रत्येक भाग मे इन्हें स्थानीय सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए स्थापित किया जाता है। इनके सहारे अनेक सहायक कुटीर उद्योग व लघु उद्योग भी विकसित होते हैं। इनकी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए शिक्षा, आवागमन के [illegible] व सचार व्यवस्था भी विकसित की जाती है। अतः देश का बहुमुखी विकास होता है।

4. राष्ट्रीय आय में वृद्धि—औद्योगीकरण से देश के [illegible] साधनों का विदोहन होता है। रोजगार के अवसर बढने से अप्रयुक्त एव [illegible] मानवीय शक्ति को काम मिलता है। उत्पादन बढ़ने पर निर्यात व्यापार में भी वृद्धि होती है। यदि जनसंख्या को नियन्त्रित रखा जाता है तो इससे राष्ट्रीय आय [illegible] के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है जिससे उनका रहन-सहन का स्तर भी सुधरता है।

काम तो मिलता ही है उनकी उत्पादकता बढ़ती है तथा अपने पुरुषार्थ के प्रति विश्वास भी बढ़ता है। एक देश के सभी नागरिकों को रोजगार मिलता रहे ये बहुत बड़ी बात होती है। यह औद्योगीकरण से ही सम्भव होता है।

8. **पूँजी एवं श्रम की गतिशीलता**—देश के विभिन्न भागों में उद्योगों का विस्तार होने पर तथा आवागमन के साधन व संचार व्यवस्था होने से पूँजी के लाभदायक उपयोग के लिए उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग को भेजना सम्भव हो जाता है। श्रमिक भी अपनी योग्यतानुसार जहाँ भी कार्य मिलता है वहाँ जाकर काम करने लगता है। वह अपने गाँव से बाहर न जाने की बात अब नहीं सोचता। देश में औद्योगीकरण पूँजी व श्रम की गतिशीलता में वृद्धि करता है। पूँजी व श्रम एक देश से दूसरे देश को जाने में भी अब संकोच नहीं करते। अतः उत्पादन के इन साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी गतिशीलता बढ़ी है।

9. **प्रतिरक्षा में सहायक**—औद्योगीकरण संकट एवं युद्ध काल में भी सहायक सिद्ध होता है। भारी इस्पात, मशीन, रासायनिक उद्योग, वायुयान, जलयान, प्रतिरक्षा सामग्री आदि के उद्योग युद्ध के समय देश की रक्षा करने हेतु आवश्यक सामग्री प्रदान करके महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इनसे देश की सामरिक क्षमता सुदृढ़ होती है।

10. **आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यातों में वृद्धि**—विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन कर देश की माँग पूरी की जाती है। इसके साथ-साथ देश में उत्पादित माल का निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। आयात कम करने एवं निर्यात वृद्धि से देश के व्यापार का भुगतान शेष पक्ष में हो जाता है। इससे देश में आत्मनिर्भरता आती है एवं स्वावलम्बन की स्थिति प्राप्त होती है।

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Modern Industrial System)

औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने से औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है तथा औद्योगीकरण के क्षेत्र में निरन्तर बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। अनुसंधान एवं शोध द्वारा प्रस्तुत वैज्ञानिक विधियां उद्योगों की उत्पादन विधियों, उत्पादों तथा उद्योगों के प्रकार में प्रतिदिन नवीनता ला रहे हैं। आजकल की औद्योगिक व्यवस्था में मुख्यतः निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती है।

1. **औद्योगिक नियोजन (Industrial Planning)**—उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के पहले नियोजन किया जाता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों की उपलब्धि, स्थानीयकरण की सुविधाएँ, राज्य की नीति, बाजार की माँग तथा उद्योग में व्याप्त प्रतिस्पर्द्धा आदि बातों को ध्यान में रखते हुए पहले योजना बनाई जाती है उसकी सुदृढ़ता की जाँच की जाती है। योजना

के सुदृढ़ होने पर ही उसे क्रियान्वित किया जाता है। उद्योग की स्थापना में ही नही उद्योग की विभिन्न क्रियाओं में भी नियोजन अपनाया जाता है जैसे उत्पादन नियोजन, विक्रय नियोजन, वित्तीय नियोजन आदि।

2. कारखाना पद्धति (Factory system)—कारखाना पद्धति आज की औद्योगिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता है। बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाता है। मशीनों व शक्ति के साधनो का प्रयोग किया जाता है। अधिक मात्रा में पूँजी का विनियोजन किया जाता है तथा श्रमिको की सेवायें ली जाती हैं। श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण अपनाया जाता है। मशीन, कच्चे माल, शक्ति के साधन आदि की दृष्टि से अन्य उद्योगो पर निर्भर करते हैं।

3. मशीनीकरण (Mechanization)—उत्पादन के लिए बड़ी मात्रा में मशीन व मशीनी उपकरणो का प्रयोग किया जाता है। आजकल प्रत्येक उद्योग में मशीनें देखी जा सकती हैं। बिना इनके बड़ी मात्रा मे उत्पादन करना सम्भव नहीं रहा है।

4. स्वचालन (Automation)—मशीनें स्वचालित होती हैं। आधुनिक कारखानों में ऐसी मशीनें हैं जो स्वत. ही कार्य करती रहती हैं। इनके द्वारा की जाने वाली बहुतसी क्रिया व उपक्रिया स्वयं मशीन ही करती रहती हैं इससे श्रमिक की सेवाओं की उपयोगिता नही रही है।

5. प्रमापीकरण (Standardization)—उत्पादन की वस्तुओं मे, उत्पादन की क्रियाओ में तथा उत्पादन की मशीनों मे प्रमापीकरण अपनाया गया है। वस्तुएँ एक ही आकार व समान गुणों की मिलती हैं। इससे वस्तुओं का विज्ञापन एव विपणन सरल होता है।

6. विशिष्टीकरण (Specialization)—कारखानो मे विशिष्टीकरण अपनाया गया है। एक कारखाना कुछ विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का ही निर्माण करता है तथा उसमे भी एक श्रमिक से किसी कार्य की केवल एक विशिष्ट क्रिया या उपक्रिया ही कराई जाती है जिससे श्रमिक की कार्यक्षमता तो बढ़ती ही है वस्तु का उत्पादन भी अधिक मात्रा में होता है।

7. श्रम विभाजन (Division of Labour)—उत्पादन की विधियो में श्रम विभाजन मिलता है। श्रमिको को उनकी कार्य क्षमता एवं रुचि के अनुसार कार्य विभाजित कर दिए जाते हैं। एक श्रमिक एक वस्तु के उत्पादन में केवल एक या दो क्रियायें ही करता है। इससे श्रमिक किसी एक या दो क्रियाओं में तो कुशल हो जाता है लेकिन वह पूरी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता।

9. श्रम सुरक्षा एवं कल्याण (Safety & labour welfare)—उत्पादन के कार्य में श्रम के स्वास्थ्य व जीवन की सुरक्षा तथा उसके कल्याण के महत्व को स्वीकार किया जाता है तथा इनके लिए आवश्यक व्यवस्था की जाती है जैसे मशीनों की घेराबन्दी, उचित प्रकाश की व्यवस्था, बीमार होने पर चिकित्सा की व्यवस्था वृद्धावस्था के लिए प्रोविडेन्ट फन्ड, ग्रेच्यूटी आदि। कारखाने में जलपानगृह, स्नानगृह, वाचनालय आदि की व्यवस्था भी श्रम कल्याण के लिए की जाती है।

10. प्रशिक्षण एवं शोध (Training and Research)—उत्पादन की किस्म में निरन्तर सुधार करने के लिए शोध कार्य की व्यवस्था की जाती है तथा कर्मचारियों को कार्य करने से पहले प्रशिक्षण दिया जाता है। उत्पादन की विधियों में मशीनों के प्रयोग से तकनीकी ज्ञान आवश्यक होता है। अतः श्रमिकों के लिए प्रशिक्षण आवश्यक होता है। आजकल प्रबन्ध के क्षेत्र में भी कुशल प्रबन्ध के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है।

11. औद्योगिक संयोग (Industrial combination)—पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने व उत्पादन की अन्य कठिनाइयों को दूर करने के लिए विभिन्न औद्योगिक इकाइयाँ परस्पर मिलकर उत्पादन कार्य करने लगी हैं। इससे उत्पादन तो बढ़ा ही है, साथ ही कच्चे माल के क्रय व निर्मित माल का विक्रय आदि की समस्यायें भी हल हुई हैं।

12. श्रमिकों की भागीदारी (Worker's Participation)—प्रबन्ध के क्षेत्र में औद्योगिक उपक्रम की समस्याओं को हल करने के लिए श्रमिकों के साथ विचार विमर्श करना, उनके सुझावों को स्वीकार करना तथा प्रबन्धकीय निर्णयों में उन्हें भागीदार बनाने के महत्व को स्वीकार किया जाता है। इससे श्रम एवं प्रबन्धकों के सम्बन्धों में सुधार होता हैं।

13. अधिक लाभ की भावना (More profit motive)—आज के उद्योगों में अधिक से अधिक लाभ कमाने की होड़ लगी हुई है। अधिक लाभ के आकर्षण में अनुचित प्रतिस्पर्द्धा तथा उपभोक्ता के हितों की भी उपेक्षा कर देने की प्रवृत्ति मिलती है।

14. संगठित वर्ग (Organised Groups)—उद्योगों में श्रमिकों एवं नियोक्ताओं के संगठन मिलते हैं तथा ये दोनों वर्ग अपने को एक दूसरे से पृथक मानते हुए अपने अपने हितों की दृष्टि से ही सोचते हैं जिससे मतभेद होने पर औद्योगिक कलह—हड़ताल व तालाबन्दी आदि देखे जाते हैं। श्रम एवं प्रबन्ध में झगड़े आजकल एक सामान्य बात हो गई है।

15. राजकीय हस्तक्षेप (Govt. Interference)—औद्योगिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ गया है। उद्योगों की स्थापना में अनुज्ञापन देना, बाजार से पूँजी लेना, उत्पादन की मात्रा आदि के सम्बन्ध में सरकार का हस्तक्षेप पहले की तुलना

में अब अधिक है। यह हस्तक्षेप उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों के ही हितों की रक्षा की दृष्टि से आवश्यक समझा जाने लगा है।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाएं
(Processes and Stages of Industrialisation)

औद्योगीकरण की एक प्रक्रिया होती है जिसमें विभिन्न चरणों में होकर अर्थव्यवस्था गुजरती है। कोई भी देश एक साथ आधुनिक औद्योगिक स्वरूप पर एक साथ नहीं आ पाया है। औद्योगीकरण के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में जीवनयापन के उद्योग ही विकसित होते हैं तथा बाद में बड़े निर्माणी उद्योग स्थापित होते हैं। श्री कुच्छल के अनुसार, "समाज जीवन निर्वाह की अवस्था से व्यापार एवं वाणिज्य की ओर, और फिर औद्योगिक अवस्था की ओर बढ़ता है। व्यवहार में ये अवस्थाएँ कठिनाई से ही स्पष्ट होती हैं तथा आसानी से पृथक नहीं की जा सकती।"[1] सामान्यत निरन्तर हुई आर्थिक प्रगति में ये अवस्थाएँ बिल्कुल मिली हुई होती हैं तथा किसी एक समय पर विकास की दो अवस्थाओं के मध्य विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण के निरन्तर विकास की प्रक्रिया में सभी अवस्थाएँ मिल जाती हैं लेकिन मोटे रूप में विकास की इन अवस्थाओं को तीन चरणों में देखा जा सकता है।

(i) प्रथम अवस्था—औद्योगिक विकास की प्रथम अवस्था में सामान्यतः प्राथमिक उत्पादनों के परिष्करण (processing) का कार्य ही होता है, जैसे अनाज पीसना, तेल निकालना, सूत कातना, धातुओं को गलाना, चमड़ा तैयार करना, पशुओं से प्राप्त चीजों को तैयार करना, खानें खोदना आदि।

(ii) द्वितीय अवस्था—दूसरी अवस्था में ऐसे उद्योग पनपने लगते हैं जो प्राथमिक उत्पादनों का रूपान्तर करने के बाद एक नवीन प्रकार की वस्तु का निर्माण करते हैं, जैसे वस्त्र निर्माण, कागज निर्माण, फर्नीचर निर्माण, जूते निर्माण, विद्युत उत्पादन, इस्पात निर्माण आदि।

(iii) तृतीय अवस्था—औद्योगिक विकास की तीसरी अवस्था में पूँजीगत सामान का उत्पादन किया जाता है जैसे मशीनों का निर्माण, भारी विद्युत यन्त्रों का निर्माण, रासायनिक पदार्थों का निर्माण आदि। इस अवस्था में बैंकिंग, बीमा व यातायात आदि की सेवाओं का भी विस्तार होता है। इस अवस्था में ऐसी वस्तुओं का निर्माण किया जाता है जो अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक एवं सहायक है। इससे औद्योगीकरण की प्रक्रिया और तेज होती है।

1. "Society progresses from the subsistence phase, th commercial phase, to an industrial phase, though in these phases are rarely distinct and easily separable."
—*S. C. Kuchhal* : The Industrial Economy of Ind

प्रथम अवस्था में उत्पादित वस्तुओं का अधिकाँश निर्यात कर दिया जाता है क्योंकि समस्त उत्पादित वस्तुओं का देश में ही उपभोग नहीं हो पाता तथा प्राकृतिक साधनों की सुविधा होने से उत्पादन अधिक होता है। दूसरी अवस्था में निर्माणी उद्योगों का विकास होता है जिनके विकास के लिए अल्पविकसित देशों को पूँजीगत सामान का आयात करना होता है। तीसरी अवस्था में देश के अन्दर ही इस प्रकार के उद्योगों का विकास किया जाता है जो कि अन्य उद्योगों के लिए पूँजीगत सामान प्रदान करें।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया एवं औद्योगीकरण की विभिन्न अवस्था या चरणों के अध्ययन के आधार पर प्रो० कोलिन क्लार्क, प्रो० हॉफमेन तथा प्रो० डब्लू० डब्लू० रोस्टोव के विचार भी इस प्रक्रिया की अवस्थाओं को स्पष्ट करते हैं।

प्रो० कौलिन क्लार्क के विचार

प्रो० कोलिन क्लार्क ने औद्योगीकरण की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उद्योगों को निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा है[1]—

1. प्राथमिक वर्ग (Primary Group)—प्राथमिक उद्योगों में प्रमुखतः स्थानीय साधनों का ही प्रयोग किया जाता है। इनमें कृषि, मछली पकड़ना तथा जंगलों से वस्तुओं को प्राप्त करना इत्यादि सम्मिलित किया जाता हैं।

2. द्वितीयक वर्ग (Secondary Group)—द्वितीयक उद्योगों में विदेशों से आयातित माल का उपयोग निर्माण कार्य में होने लगता है। खनिज व्यवसाय, जनोपयोगी उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण तथा जनोपयोगी सेवाएँ जैसे बिजलीका उत्पादन आदि सम्मिलित हैं।

3. तृतीयक वर्ग (Tertiary Group)—तृतीयक वर्ग के उद्योगों की अवस्था में औद्योगिक स्थिति में गुणात्मक सुधार होने लगता है तथा उच्चकोटि के तकनीकी उत्पादनों की प्रधानता इस अवस्था की विशेषता होती है। किसी देश में औद्योगीकरण की गति जैसे-जैसे तीव्र होती जाती है जनसंख्या का भाग प्राथमिक वर्ग के उद्योगों से हटकर द्वितीयक एवं तृतीयक वर्ग के उद्योगों में क्रमशः बढ़ता जाता है।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं को भारत की शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product) के सन्दर्भ में विभिन्न वर्गों के योगदान के आधार पर अग्रांकित आँकड़ों द्वारा देखा जा सकता है।

1. *Colin Clark* : The Conditions of Economic Progress.

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (N. N. P.) में विभिन्न क्षेत्रों का योगदान[1]

वर्ग	1960–61	1972–73
प्राथमिक वर्ग	52·5	41·4
द्वितीयक वर्ग	19·2	23·8
तृतीयक वर्ग	28·3	34·8
	100·0	100·0

प्रोफेसर वाल्टर होफमैन (Prof. Walter Hoffmann) के विचार

प्रो॰ होफमैन ने भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया है। उनके अनुसार औद्योगीकरण की प्रक्रिया उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों से प्रारम्भ होती है तथा क्रमशः पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास होता जाता है तथा उपभोक्ता उद्योगों का उत्पादन कम होता जाता है। विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए प्रो. होफमैन ने उद्योगों को दो भागों में विभाजित किया है—(i) उपभोक्ता उद्योग एवं (ii) उत्पादक या पूँजीगत उद्योग। विकास की प्रगति के साथ-साथ इन दोनों के उत्पादनों के अनुपात में परिवर्तन होता जाता है। विकास प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं में इन परिवर्तनों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है।[2]

प्रथम अवस्था—प्रथम अवस्था में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादनों की प्रधानता रहती है। पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन पाँच गुना रहता है अर्थात उपभोक्ता व उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात 5:1 रहता है।

द्वितीय अवस्था—औद्योगीकरण की प्रक्रिया की द्वितीय अवस्था में उपरोक्त अनुपात 2½:1 का हो जाता है अर्थात उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन पूँजीगत वस्तुओं की तुलना में कम हो जाता है।

तृतीय अवस्था—तृतीय अवस्था में उपरोक्त दोनों वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात 1:1 अर्थात् बराबर हो जाता है। विकास की गति में तेजी आने पर उत्पादक वस्तुओं का अनुपात उपभोक्ता वस्तुओं की तुलना में अधिक हो जाता है।

1. Economic Survey 1973-74, p. 58.
2. *Hoffmann W. G.*: The Growth of Industrial Economics

प्रो० डब्लू० डब्लू० रोस्टोव (Prof. W. W. Rostow) के विचार

प्रो० रोस्टोव ने भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। एक पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था से पूर्ण विकसित अवस्था तक पहुँचने में अर्थव्यवस्था को पाँच चरणों में गुजरना होता है। प्रत्येक चरण में औद्योगीकरण के स्तर में सुधार होता चला जाता है। विभिन्न चरणों में होने वाले विकास को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **परम्परागत चरण** (The Traditional stage)—विकास के परम्परागत चरण में कृषि प्रधान व्यवसाय होता है। विनियोग की दर पाँच प्रतिशत से भी कम होती है। बचत का स्तर बहुत कम होता है तथा की गई बचत का अधिकांश भाग अन-उत्पादक कार्यों पर व्यय कर दिया जाता है। उद्योग अधिकांशतः कुटीर एवं लघु स्तर पर ही संचालित होते हैं। उच्च स्तर की तकनीक के अभाव में कृषि एवं उद्योग दोनों की ही उत्पादकता कम होती है। उद्योग प्रायः उपभोक्ता वस्तुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। **रोस्टोव** के अनुसार, "परम्परागत समाज एक ऐसी अवस्था है जिसके ढांचे का विकास भौतिक विश्व के प्रति न्यूटन के पहले के दृष्टिकोणों पर आधारित साधारण उत्पादन कार्यों के क्षेत्र तक ही सीमित होता है।"[1]

2. **पूर्व उत्थान चरण** (Pre-take off Stage)—पूर्व उत्थान काल एक संक्रमणकालीन अवस्था है। इसमें सतत विकास की पूर्व दशाओं का निर्माण होता है। इस चरण में स्वयं स्फूर्ति अवस्था के लिए एक अच्छी पृष्ठभूमि का निर्माण किया जाता है तथा भावी विकास के लिए तैयारियाँ की जाती हैं जैसे आधुनिक तकनीकों का उपयोग, शिक्षा चिकित्सा, अनुसंधान कार्यों का आयोजन आदि। विकास के इस चरण में औद्योगिक विकास के आवश्यक घटक जैसे श्रम, पूँजी और कच्चे माल आदि एकत्रित कर लिये जाते हैं तथा तकनीकी ज्ञान का विकास किया जाता है। रोस्टोव के अनुसार पूर्व दशाओं का निर्माण तीन औद्योगिक क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन करके किया जाता है—(i) सामाजिक उपरिव्यय पूँजी का निर्माण जैसे विद्युत शक्ति परिवहन के साधन व खनिज आदि उद्योगों का विकास, (ii) कृषि क्षेत्र में तकनीकी क्रान्ति लाना जिससे कृषि उत्पादकता में क्रान्ति लाई जा सके, (iii) देश के भौतिक साधनों का विदोहन एवं क्रय विक्रय तथा वित्त व्यवस्था में सुधार करना। इससे निर्यात बढ़ाकर आयात करना सम्भव होता है। इस चरण में बचत एवं विनियोग में भी वृद्धि होती है, लेकिन विकास की गति धीमी होती है तथा परम्परागत समाज की अनेक विशेषतायें बनी रहती हैं।

1. "The tradition society is one whose structure is developed within limited production functions based on pre-Newtonian attitudes towards the physical world."
—*W.W. Rostow* : The Stages of Economic Growth, p 4.

3. स्वयंस्फूर्ति चरण (Take-off Stage)—पूर्व उत्थान चरण में किये गए कार्यों का लाभ इस चरण में मिलता है। रोस्टोव के अनुसार "स्वयंस्फूर्ति की अवस्था या चरण एक ऐसी औद्योगिक क्रान्ति है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादन के साधनों में आमूल परिवर्तनों से होता है जिनका सुपरिणाम निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही दिखलाई देने लगता है।"[1] कोई अर्थव्यवस्था स्वय-स्फूर्ति चरण में प्रविष्ट हुई है या नही इस बात का निर्णय स्वयं-स्फूर्ति अवस्था की तीन विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है। स्वयं-स्फूर्ति चरण में ये विशेषतायें आवश्यक रूप से पाई जाती हैं।

(i) राष्ट्र मे विनियोग की दर दस प्रतिशत या इससे अधिक होनी चाहिए।

(ii) कुछ ऐसे निर्माणकारी क्षेत्रों का विकास जो महत्त्वपूर्ण है तथा जिनमे वृद्धि की उच्च दर प्रदान करने की स्पष्ट सम्भावनाएँ हैं।

(iii) ऐसे राजनीतिक, सामाजिक एव संस्थागत ढाँचे की स्थापना जो आधुनिक क्षेत्र मे विस्तार को प्रेरणा दे सके तथा सम्भावित उत्पादन के स्तर को बढा सके।

विकास के स्वय-स्फूर्ति चरण मे आधारभूत एव पूँजीगत उद्योगो की उन्नति तेज गति से होती है। उत्पादन की नवीन तकनीक एव विधियो को अपनाया जाता है और राष्ट्रीय आय मे विनियोगों का प्रतिशत बढ़ जाता है।

4. परिपक्वता का चरण (The Stage of Drive to Maturity)—औद्योगिक विकास की स्वयं स्फूर्ति की अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त विकास परिपक्वता की स्थिति या चरण को प्राप्त करने लगता है। रोस्टोव के अनुसार "परिपक्वता एक ऐसी स्थिति है जब कि समाज आधुनिक तकनीक वृहत साधनो के लिए प्रभावपूर्ण रीति से संयोग करता है।"[2] औद्योगीकरण की प्रगति की गति तीव्र होने से कृषि में पूर्ण रोजगार न पाने वाले श्रमिक भी उद्योगो की ओर आकर्षित होने लगते हैं। इस चरण में विनियोग की दर में वृद्धि हो जाती है तथा यह राष्ट्रीय आय की तुलना में 10 से 15 प्रतिशत व इसमें भी अधिक होने की प्रवृत्ति रखती है। समाज की नवीन आवश्यकताओं मे भी वृद्धि होती है। प्रशिक्षित एव कुशल श्रमिको की संख्या में वृद्धि होती है। उद्योगपतियों एवं प्रबन्धको की संख्या मे भी

1. "It is an industrial revolution, tied directly to radical changes in the methods of production, having their decisive consequence over a relatively short period of time."
—*W.W. Rostow*

2. "A stage when a society has effectively applied the range of modern technology to the bulk of its resources."
—Prof. *W. W. Ros*

वृद्धि होती है। विकास के इस चरण में पूँजीगत माल एवं तकनीकी कुशलता के क्षेत्र में विदेशों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती।

5. **प्रचुर उपभोग का चरण** (The stage of High Mass Consumption)—इस चरण में औद्योगिक विकास अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है। औद्योगिक उत्पादन अत्यधिक मात्रा में होने लगता है। मात्रा ही नहीं, वस्तुओं की विविधता तथा नवीनता में भी बहुत वृद्धि होती है। उत्पादन उपभोग से बहुत ज्यादा होता है। उपभोग में भी वृद्धि होती है लेकिन उसके उपरान्त भी उत्पादित वस्तुएँ शेष रहती है अतः माँग में और अधिक वृद्धि एवं विक्रय करने के लिए उच्च कोटि की विक्रय कला एवं विज्ञापन की आवश्यकता होती है। औद्योगीकरण से लोगों की आय में भी वृद्धि होती है अतः वे और अधिक सुख एवं सुविधायें तथा श्रेष्ठ वस्तुओं का उपभोग करना प्रारम्भ कर देते हैं। विलासता का सामान व श्रम बचाने वाली मशीनें व उपकरण प्रयोग किए जाने लगते हैं। ऐसे देश के नागरिकों व देश की सम्पन्नता में बहुत वृद्धि हो जाती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा व साख बढ़ जाती है। एसी अवस्था में देश से निर्यात बढ़ाने के भी विशेष प्रयास किए जाते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका विकास के इस चरण में पहुँच चुका है।

औद्योगीकरण की समस्याएँ
(Problems of Industrialisation)

योजनाकाल में देश में विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों का विस्तार किया गया है। देश में अनेक नवीन उद्योग विकसित हुए हैं जिसने विदेशों से आयातों को कम करने तथा विदेशों को निर्यात बढ़ाने में बड़ा योगदान दिया है लेकिन अभी यहाँ उद्योगों के विकास के लिए बहुत क्षेत्र हैं। प्रो० रोस्टोव ने जिस उत्थान अथवा स्वयंस्फूर्ति अवस्था (Take off stage) का वर्णन किया है अभी भारत उस तक भी नहीं पहुँचा है अतः औद्योगीकरण की गति को अभी निरन्तर बल देने की आवश्यकता है। औद्योगीकरण के कार्यक्रम में भारत के समक्ष प्रमुखतः निम्नलिखित समस्याएँ हैं जिनके हल के लिए समुचित प्रयासों की आवश्यकता है।

1. **विवेकीकरण की समस्या** (Problems of Rationalisation)—देश के उद्योगों में विवेकीकरण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। इससे अपव्यय पर रोक लगती है तथा उपलब्ध साधनों का समुचित प्रयोग होता है। लेकिन इससे कुछ कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं जैसे यंत्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ने का भय रहता है तथा पूँजी के केन्द्रीयकरण, एकाधिकार की स्थापना व पूँजीवाद के दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के बिना इसके उत्पादन की लागत में कमी व उत्पादन की किस्म में सुधार भी नहीं किया जा सकता। अतः भारतीय परिस्थितियों में जहाँ जनसंख्या व बेरोजगारी की समस्या भयंकर रूप में उपस्थित है वहाँ इसे बड़ी मात्रा में अपनाने पर समाज के कुछ वर्गों पर इसके बुरे प्रभाव किस प्रकार से रोके

जायें यह एक कठिन प्रश्न है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता काल मे उद्योगों के विकास के लिए इसे अपनाया तो गया है लेकिन प्रगति बहुत ज्यादा नही हो पाई है।

2. वित्तीय कठिनाइयां (Difficulties of Finance)—देश के औद्योगीकरण व उद्योगों के आधुनीकरण के लिए बड़े पैमाने पर दीर्घकालीन व अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वित्त (Finance) की आवश्यकता पड़ती है। सरकार ने वित्तीय कठिनाइयो को हल करने के लिए भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम, राज्य वित्त निगम, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम एवं भारत का औद्योगिक पुर्ननिर्माण निगम, विनियोग प्रन्यास एवं यूनिट ट्रस्ट जैसी अनेक संस्थाओं का निर्माण किया है लेकिन बढते हुए उद्योगों की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में ये संस्थाएँ असफल रही हैं। भारत में औद्योगिक वित्त के अभाव के अनेक कारण हैं जैसे आय एवं बचत का निम्न स्तर, पूँजी की संकोचशील प्रकृति, सुव्यवस्थित द्रव्य एव पूँजी, बाजार का अभाव, औद्योगिक प्रतिभूतियों की ओर जनता का कम झुकाव होना, व्यापारिक बैंकों का उदार दृष्टिकोण न होना तथा ऋण के समझौतो में शर्तों का कठोर होना आदि है। अतः उद्योगों की दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करना बहुत ही आवश्यक है तथा इसके लिए देश में पर्याप्त साधन व सुविधाओं का होना आवश्यक है।

3. राष्ट्रीयकरण का भय (Problems of Nationalisation)—स्वतन्त्रता काल में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से एवं निजी क्षेत्र के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने मे निजी क्षेत्र के उद्यमियों की पूँजी विनियोग करने एवं जोखिम उठाने की भावनायें निरुत्साहित हुई हैं। वे बड़े एवं जोखिमपूर्ण उद्योगो में पूँजी नहीं लगाना चाहते, क्योंकि पता नहीं कब सरकार उनके उद्योग को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करके राष्ट्रीयकरण द्वारा अपने नियन्त्रण में ले ले। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित में सरकार कभी भी किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर सकती है।

4. सरकार की कर नीति (Tax policy)—सरकार द्वारा अपनाई गई कर नीति भी उद्योगपतियों को निरुत्साहित करती है। बढते हुए लाभों पर बढी हुई दर से कर लगाने तथा करों की दर ऊँची होने से निजी क्षेत्र के साहसियो को प्रेरणा नहीं मिलती तथा वे उद्योगों में पूँजी का विनियोग कर जोखिम नहीं उठाना चाहते।

5. राजकीय नियन्त्रण (Govt. Control)—औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 तथा लाइसेंसिंग प्रणाली के अन्तर्गत किसी स्थान पर उद्योग स्थापित करने से पूर्व अनेक औपचारिकताओं का पालन करना आवश्यक होता है। इन विस्तृत एवं जटिल औपचारिकताओं के पूरा करने में बहुत समय लग जाता है तथा उद्यमियों को इन्हें पूरा करने में अपना बहुत सा समय देना होता है।

6. तकनीकी ज्ञान का अभाव (Lcck of Technical Knowledge)—औद्योगीकरण के लिए तकनीकी ज्ञान तथा व्यवसाय प्रबन्ध की कुशलता का होना आवश्यक होता है। भारत में आधुनिक तकनीकों की दृष्टि से विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। यद्यपि योजना काल में तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण का देश में ही विकास करने का प्रयास किया गया है लेकिन तकनीकी दृष्टि से भारत अभी बड़े औद्योगिक देशों से काफी पीछे है अतः इस सम्बन्ध में विदेशों पर मुख्यतः पश्चिमी देश रूस व जापान आदि के विदेशी सहयोग पर निर्भर करना पड़ता है।

7. पर्यावरण प्रदूषण (Environmental Pollusion)—औद्योगीकरण से पर्यावरण प्रदूषण होना स्वाभाविक ही है। बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थापना व विस्तार से मिलों से निकलने वाला धुआँ व अनउपयोगी रद्दी कचरे से वायुमण्डल व नदियों के पेय जल के दूषित होने की सम्भावना रहती है। इससे देश की जनता के स्वास्थ्य पर बड़ा खराब प्रभाव पड़ता है। भारत में भी औद्योगीकरण की गति तेज होने पर वायुमण्डल के दूषित होने से प्रतिकूल प्रभाव हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मथुरा (उत्तर प्रदेश) में पैट्रोलियम का कारखाना स्थापित होने से निकटीय क्षेत्र के नागरिकों, पशुओं व पक्षियों पर तो प्रभाव पड़ेगा ही साथ ही भरतपुर में स्थित घाना पक्षी विहार के पक्षियों पर भी इसका घातक प्रभाव पड़ेगा।

8. विदेशों की नीति (Foreign policy)—भारत में उद्योगों का विस्तार निरन्तर हो रहा है लेकिन उत्पादित माल को विदेशों में विक्रय करने में विदेशों की नीति बड़ी बाधक हैं। विकसित देश भारत के निर्मित माल का आयात ही नहीं करना चाहते तथा वे भारत से आयातों को निरूत्साहित भी करते हैं। इससे उद्योगों को विस्तार में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

9. क्रय शक्ति कम होना (Less purchasing power)—देश के नागरिकों की आय प्रति व्यक्ति विकसित देशों की आय की तुलना में बहुत कम है जिससे उनकी क्रय शक्ति बहुत ही कम है। आय कम होने से उपभोग की मात्रा सीमित रहती है। अधिक उत्पादन हो जाने एवं क्रय शक्ति कम होने से उत्पादित माल की माँग नहीं बढ़ पाती जिससे उद्योग की क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।

10. क्षेत्रीय केन्द्रीयकरण (Regional centralisation)—देश में औद्योगीकरण का विकास समान रूप से नहीं हुआ है। कुछ प्रान्तों में तथा प्रान्त के भी कुछ नगरों में उद्योगों का केन्द्रीयकरण होने से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं जैसे आवास की समस्या, सफाई की समस्या, पानी व बिजली की समस्या। इस केन्द्रीयकरण ने अनेक रूप में जनता का नैतिक पतन भी किया है। विभिन्न प्रान्तों में उद्योगों का असमान वितरण अग्रांकित तालिका से स्पष्ट है।

फैक्ट्री क्षेत्र के राज्यवार प्रमुख सूचक[1] (1974–75)

क्र. सं.	राज्य	कुल कारखानों की संख्या का प्रतिशत	विनियोजित कुल स्थायी पूँजी का प्रतिशत	रोजगार प्राप्त कुल औद्योगिक श्रमिकों का प्रतिशत	कुल औद्योगिक उत्पादन का प्रतिशत	औद्योगिक श्रमिकों की वार्षिक आय (रुपयों में)
1	आंध्र प्रदेश	8·6	5·5	7·3	5·6	2915
2	असम	3·0	1·1	1·8	1·5	2915
3	बिहार	3·9	6 6	5·0	5·8	5734
4	गुजरात	10·7	8·7	9·3	10·9	4391
5	हरियाणा	–1·9	3·1	2·0	2·1	5678
6	हिमाचल प्रदेश	0·2	0·3	0·4	0·1	4162
7	जम्मू एव काश्मीर	0·4	0·1	0·3	0·1	3318
8	कर्नाटक	6·2	4 4	4·8	4·0	5309
9	केरल	4·0	3·8	4·0	3·1	3543
10	मध्य प्रदेश	4·0	5·7	4 2	4·3	5626
11	महाराष्ट्र	16·9	16·6	19·3	25·2	6410
12	उड़ीसा	1·4	3·5	1·6	1·5	5730
13	पंजाब	5·8	4·5	2·7	3·2	3587
14	राजस्थान	2·2	3·5	2·0	2·2	4744
15	तमिलनाडु	10·8	8·5	10·0	9·9	4608
16	उत्तर प्रदेश	7·5	12·4	8·4	6·8	4356
17	प० बंगाल	9·1	8·7	14·5	11·0	5958
18	दिल्ली	2·6	1·7	1·7	1·7	5117

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि देश के कुछ प्रान्तों में जैसे महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, गुजरात एवं तमिलनाडु में उद्योगों का अधिक केन्द्रीयकरण है जिससे इन राज्यों मे स्थिर पूँजी का विनियोग, औद्योगिक श्रमिकों की संख्या व औद्योगिक उत्पादन का प्रतिशत भाग अधिक है। औद्योगीकरण के इस असमान विकास से कुछ राज्यों की आर्थिक स्थिति पिछड़ी हुई है तो कुछ राज्यो मे उद्योगों की अधिकता ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है।

11. औद्योगिक संघर्ष (Industrial Disputes)—औद्योगीकरण ने औद्योगिक संघर्षों की संख्या में वृद्धि की है। उद्योग के स्वामी व प्रबन्धकों तथा

1. Economic Times, April 6, 1977, page 6.

श्रमिकों में निजी हितों को दृष्टि में रखने से अनेक झगड़े देखने को मिलते हैं। जिससे हड़ताल, तालाबन्दी, घिराव, तोडफोड आदि होती है तथा उद्योगों की कार्यशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। योजना काल में हुए औद्योगिक संघर्ष निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट होते हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्ष

वर्ष	संघर्षों की संख्या	संलग्न श्रमिकों की संख्या (लाखों में)	श्रमिक दिवसों की क्षति (लाखों में)
1951	1071	6·9	38·2
1956	1203	7·1	69·9
1961	1357	5·1	49·2
1966	2556	14·1	138·8
1971	2752	16·2	165·5
1976	1356	6·7	114·8

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि औद्योगिक संघर्ष उद्योगों की एक बड़ी समस्या है। इनमें बराबर वृद्धि हो रही है। 1976 में संघर्षों की संख्या में कमी होने का प्रमुख कारण आपातकालीन स्थिति की घोषणा थी। इन संघर्षों से समाज को, उद्योगपतियों को व श्रमिकों को सभी को हानि होती है। सरकार द्वारा इनके उन्मूलन व हल करने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं लेकिन फिर भी ये बड़ी मात्रा में होते हैं।

5

भारतीय श्रमिक–मुख्य विशेषताएँ, भारत में श्रम-शक्ति का सामाजिक संयोग

(Indian Labour—Main Characteristics, Social Composition of Labour Force in India)

1971 में भारत में श्रमिको की संख्या लगभग 18·05 करोड या देश की कुल जनसंख्या की 32·92 प्रतिशत थी। श्रमिको की इस संख्या का केवल 10 प्रतिशत भाग संगठित क्षेत्र में कार्यरत या और शेष भाग परम्परा से चले आ रहे व्यवसायों में व्यस्त था। परम्परागत व्यवसायों में रत श्रमिकों में अधिकांश कृषक और कृषि श्रमिक थे, जिनका प्रतिशत क्रमश: 43·38 और 26·32 था।

भारत की अर्थव्यवस्था के विश्वस्त आंकड़े केवल संगठित क्षेत्र के बारे में उपलब्ध हैं। श्रमिकों के कल्याण के लिए सरकार द्वारा पास किये गये अधिकांश कानून इसी क्षेत्र के श्रमिकों की भलाई के लिए हैं। इन श्रमिकों के लिए अनेक सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ भी चल रही हैं। इनमे फैक्टरी एक्ट, मजदूरी अधिनियम और सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ जैसे कर्मचारी राज्य बीमा योजना, कर्मचारी भविष्य निधि योजना, श्रमिको और उनके परिवारों के लिए मृत्युराहत और परिवार पेंशन सम्मिलित है। कुछ नियम-कानून असगठित क्षेत्र के लिए भी बनाये गये हैं। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 इस क्षेत्र के बहुत से श्रमिक वर्गों पर भी लागू होता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में सर्वाधिक श्रमिक फैक्टरियो में काम करते हैं। 1974 में, चालू फैक्टरियों मे जिनके आंकड़े उपलब्ध हैं, प्रतिदिन का अनुमानित औसत रोजगार 56·8 लाख (अस्थाई) था।

1974 के दैनिक रोजगार आंकड़ों के अनुसार महाराष्ट्र में फैक्टरी कर्मचारियो की संख्या सबसे अधिक थी (10,93,000)। इसके पश्चात् पश्चिमी बंगाल (8,84,000), गुजरात (5,23,000), तमिलनाडु (5,16,000) तथा उत्तर प्रदेश (4,66,000) का नम्बर आता है।

कृषि, गाँवों में अत्यधिक बेरोजगारी तथा महाजनों के शोषण आदि से बाध्य होकर आते हैं लेकिन पुनः सामाजिक बन्धन, भूमि से मोह तथा परिवार से मिलने की उत्कंठा उन्हें वापस जाने को प्रोत्साहित करती है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय श्रमिक को अपने गाँव से अनुराग होता है। कुछ अन्वेषणों के आधार पर यह पाया गया कि टाटानगर में 935 श्रमिक परिवारों में से 714 परिवार प्रवासी प्रवृत्ति के हैं। एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार समस्त भारत में लगभग 40% श्रमिक प्रवासी प्रवृत्ति के होते हैं। इस प्रकार स्थाई रूप से उद्योग में कार्य न करने से वे कार्य को ठीक प्रकार से सीख भी नहीं पाते हैं तथा कार्यकुशलता प्राप्ति के अभाव से उन्हें आर्थिक हानि भी उठानी पड़ती है।

3. **भाग्यवादिता** (Fatalism)—भाग्यवादिता तथा रूढ़िवादिता में भारतीय जनसंख्या का अधिकतम भाग विश्वास रखता है। शिक्षा के अभाव में भारतीय गाँवों में 99% ग्रामीण भाग्य पर भरोसा अधिक रखते हैं कर्म में कम। वे अपने जीवन में विपत्ति एवं सुख समृद्धि को भाग्य की देन समझते हैं। इस विचारधारा का प्रभाव श्रमिक के विकास में विशेष बाधक रहा है। भारतीय श्रमिक अपनी उन्नति के लिए परिश्रम करने को प्रयत्नशील नहीं होते हैं उनका विश्वास इस बात में अधिक है कि "भाग्य में होगा तो मिल जावेगा।" जो कुछ सरलता से प्राप्त हो जाता है उसी में संतोष करने की प्रवृत्ति इनमें प्रबल रूप से पाई जाती है।

4. **सामाजिक तथा धार्मिक बन्धनों से जकड़े हुए** (Social and Religious Conservatism)—भारतीय श्रमिक जीवन धार्मिकता, रूढ़िवादिता तथा सामाजिक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। धार्मिक अन्धविश्वास और संस्कार भारतीय श्रमिक को इतना अधिक प्रभावित किये हुए हैं कि उसमें उसके बाहर सोचने व समझने की शक्ति नहीं है। उदाहरण के लिए जाति प्रथा भारतीय श्रमिक की स्वतन्त्रता एवं गतिशीलता में विशेष रूप से बाधक रही है। सामाजिक और धार्मिक उत्तरदायित्व इतने अधिक होते है कि उनको निभाने में ही श्रमिक की आमदनी का बहुत बड़ा भाग अपव्यय हो जाता है तथा समय की भी बहुत ज्यादा बर्बादी होती है। जाति प्रथा निर्धनता एवं संयुक्त परिवार प्रथा के प्रचलन ने भी भारतीय श्रमिक को घोर निराशावादी बना रखा है। इन सबका प्रभाव श्रमिक की कार्यक्षमता पर बुरा पड़ता है।

5. **विभिन्नता** (Heterogeniety)—भारतवर्ष में सांस्कृतिक व सामाजिक विभिन्नता जितनी अधिक है उतनी अन्यत्र शायद ही पाई जाती हो। प्रत्येक प्रान्त की भाषा, पहनावा, खानपान आदि में एक दूसरे से पृथकता है। भारतीय उद्योगों में विभिन्न प्रान्तों से श्रमिक कार्य करने हेतु आते हैं। इस का सबसे अधिक खराब प्रभाव है कि श्रमिकों में आपसी सहयोग नहीं हो पाता है उनमें विभिन्नता के आधार पर वर्ग बन जाते हैं। अशिक्षा एवं रूढ़िवादिता के कारण यह विभिन्नता दूर नहीं हो पाती है।

(6) निम्न आर्थिक स्तर (Low Standard of Living)—भारत एक निर्धन देश है। यहाँ पर सामान्यतया जनसंख्या का आर्थिक स्तर नीचा है लेकिन श्रमिक वर्ग का आर्थिक स्तर तो विशेष रूप से निम्न है। इसका प्रमुख कारण है श्रमिकों को उनके कार्य के बदले प्राप्य न्यूनतम वेतन व मजदूरी। भारतीय श्रमिक अपने वेतन में से अपनी जीवनयापन की ही आवश्यकतायें पूरी करने में असमर्थ हैं। भारतीय श्रमिक, प्राप्त वेतन में से चिकित्सा, मनोरञ्जन, शिक्षा तथा अन्य किसी भी प्रकार के व्यय नही कर पाता है। इस प्रकार निम्न आर्थिक स्तर का प्रमुख कारण निम्न वेतन तथा समय-समय पर उनकी बेरोजगारी है।

(7) कार्य पर अधिक अनुपस्थिति (Absenteeism on work)—भारतीय श्रमिक अधिकतर कृषि क्षेत्रो से उद्योगो में कार्य करने हेतु नगरों में आते हैं। लेकिन कृषि मौसम में अर्थात फसल की बुवाई तथा कटाई के समय पुनः गांव में लौट जाते हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर भी वे अपने मूल निवास पर उपस्थित रहना अनिवार्य मानते हैं। इन कारणो से श्रमिक अपने कार्य पर सामान्यतया समय-समय पर अनुपस्थित रहते हैं।

(8) नैतिक स्तर ऊँचा न होना (Morals not High)—गाँवो से नगरो में आने पर भारतीय श्रमिक एकदम परिवर्तित वातावरण अपने आप में पाता है। नगर के चकाचौंध करने वाले वातावरण में अपने आप को अनेक बुराइयो का शिकार बना लेता है। शराबखोरी, फैशन व वेश्यावृत्ति आदि कुचक्रों मे फसने के कारण भारतीय श्रमिक का नैतिक स्तर काफी गिर जाता है। इसी प्रकार की दशा भारतीय स्त्री श्रमिकों की भी है वे भी धन प्राप्ति के लालच में अनेक बुराइयो की शिकार हो जाती हैं।

(9) संगठन का अभाव (Lack of Unity)—भारतीय श्रमिक वर्ग सगठित नही है। इसका कारण है कि श्रमिक दूर-दूर से आते हैं। कुछ नगरो मे तो श्रमिक हजारो की संख्या में प्रतिदिन काम पर आते हैं और लौटते हैं। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद ऐसे औद्योगिक नगर हैं जिनमें अधिकतर श्रमिक दैनिक आने जाने वाले हैं। इसी प्रकार कुछ संख्या में केरल, कानपुर, नागपुर, अजमेर आदि में भी दैनिक आवागमन की यह प्रवृत्ति बढ रही है। अतः श्रमिक वर्ग का एक मिला-जुला समुदाय बन गया है जिनमें आपस मे भाषा, स्थान, रहन-सहन, खानपान आदि की अत्यधिक विभिन्नता है। इसके परिणामस्वरूप श्रम के विभाजन, कार्य-दशाओं अथवा श्रम के पारिश्रमिक के विषय में श्रमिकों का कोई पर्याप्त सुदृढ़ सगठन नही बन पाता है। इससे भारतीय श्रमिक का शोषण होता है।

(10) न्यून गतिशीलता—भारतीय श्रमिक की यह भी एक विशेषता है कि उसमें गतिशीलता कम है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जाना कम पसन्द करता है। इसके लिये कई कारण निरुत्साहित करते

हैं जैसे किसी स्थान विशेष से ज्यादा अनुराग होना, भाग्यवादिता, अशिक्षा, अज्ञानता, भौगोलिक बाधायें, धर्म व जाति के बन्धन, परिवहन के साधनों का महँगा व असुविधापूर्ण होना, भाषा की भिन्नता आदि। भारतीय श्रमिक में गतिशीलता कम होने से एक ओर तो श्रमिक को अपनी क्षमता व कुशलता का पर्याप्त पारिश्रमिक नहीं मिल पाता तथा दूसरी ओर उद्योगों को आवश्यकतानुसार कुशल श्रमिक नहीं मिल पाते।

औद्योगिक श्रम की पूर्ति एवं संयोग
(Supply and Composition of Industrial Labour)

उत्पत्ति के अन्य विभिन्न साधनों को एकत्रित करने की भांति उचित श्रम को भी एकत्र करना पड़ता है। श्रमिक के महत्व को स्वीकार करते हुये श्रम अनुसन्धान समिति ने लिखा है कि उद्योग की सफलता अथवा असफलता बहुत कुछ श्रम पर निर्भर है। अतः एक कुशल प्रबन्धक के लिये यह आवश्यक है कि वह उद्योग में औद्योगिक श्रम पूर्ति उचित प्रकार से करे। जिन श्रमिकों को नियुक्त किया जा रहा है उनकी बुद्धिमत्ता, रुचि, मानसिक प्रवृत्ति तथा अनुभव आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातों के विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है। भारत में श्रम पूर्ति के अनेक साधन उपलब्ध है जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

(1) मध्यस्थों द्वारा भर्ती (Recruitment throught Intermediaries)

भारत के संगठित व असंगठित दोनों प्रकार के उद्योगों में श्रमिकों की भर्ती मध्यस्थों या दलालों द्वारा की जाती है। ये मध्यस्थ अनेक नाम से पुकारे जाते हैं जैसे सरदार, ठेकेदार, चौधरी, फोरमैन, जॉबर तथा मुकद्दम आदि। ये मध्यस्थ सीधे व अनपढ़ ग्रामीणों को शहर के उद्योगों में लाने के लिये विभिन्न लालच व प्रलोभन देते हैं जैसे अच्छा वेतन, स्थायी नियुक्ति, उच्च जीवन स्तर आदि। श्रमिकों को लाने हेतु उद्योगपतियों द्वारा इन मध्यस्थों को यात्रा व्यय तथा कमीशन प्रदान किया जाता है। ये दलाल श्रमिकों से भी घूस, भेंट तथा वेतन में से कुछ हिस्सा प्राप्त करते हैं। इन्हीं की सिफारिश पर श्रमिकों का वेतन निर्धारण, पदोन्नति, छुट्टी आदि निश्चित की जाती है। इन मध्यस्थों के स्वभाव, कार्य व महत्व के सम्बन्ध में श्रम अनुसन्धान समिति ने निम्न वर्णन लिखा है—

"मध्यस्थ भारतवर्ष में श्रमिक प्रशासन और श्रमिकों की भर्ती का सर्वव्यापक तत्व है तथा विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करता है। वह केवल श्रमिकों की भर्ती करने वाला एजेन्ट ही नहीं है वरन् इनका निरीक्षक, फोरमैन, उपनियोक्ता या गैंगमैन भी है। वह ऐसा उपनियोक्ता व श्रमिक है जो दूसरे श्रमिकों के वेतन में से भी हिस्सा प्राप्त करता है।"[1]

1. "He is almost an ubiquitous feature of recruitment and labour administration in India and usually combines in himself a formidable array of functions. Thus he is not only a recruiting agent but very often a supervisor or a foreman even a sub employer or a gangman who is both a sub employer and a worker sharing in income with the other workers."

—Labour Investigation Committee, Main Report, p. 79.

(अ) मध्यस्थों द्वारा भर्ती के लाभ

मध्यस्थों द्वारा औद्योगिक श्रमिकों की भर्ती किये जाने के निम्न लाभ हैं—

(1) सरलता से श्रमिक उपलब्धि—सामान्यतया उद्योगपति आसानी से श्रमिक नहीं एकत्रित कर पाते हैं। इन उद्योगपतियों का न तो गाँव वालों से सम्पर्क है और न ही ये उन्हें बहला फुसला कर लाने में सफल हो पाते हैं। प्रायः जिन उद्योगों में श्रमिकों का आवर्तन अधिक होता है उनमें मध्यस्थों द्वारा भर्ती प्रणाली ही उपयुक्त होती है उदाहरणार्थ. चाय बागान तथा कोयला खानों में।

(2) औद्योगिक प्रबन्ध में सुविधा—श्रमिक भर्ती कार्य से निश्चिन्तता होने के कारण उद्योगपति अपना ध्यान उद्योग के प्रबन्ध पर अधिक केन्द्रित कर सकता है। श्रमिकों की अधिकतर समस्यायें मध्यस्थों के माध्यम से हल हो जाती हैं क्योंकि उन्हें उनकी आर्थिक स्थिति, आवश्यकताओं तथा शिकायतों की जानकारी रहती है अतः ये मध्यस्थ उद्योगपतियों को सूचना देकर समस्याओं को शीघ्र दूर करवाने में सहायता करते हैं।

(3) उद्योगपतियों का दायित्व से बचाव—मध्यस्थों की वजह से उद्योगपति अपने दायित्व से कुछ सीमा तक छुटकारा पा जाते हैं। ये मध्यस्थ श्रमिकों की उपस्थिति अनुपस्थिति का ब्यौरा रखते हैं, उनके झगड़े यथासम्भव स्वयं ही निपटाने का प्रयास करते हैं तथा सामान्य व्यवस्था बनाये रखने में मदद देते हैं। अतः इन छोटी-छोटी बातों की उलझनों से उद्योगपति का बचाव रहता है।

(4) कम वेतन पर श्रमिक उपलब्धि—मध्यस्थ कम वेतन पर ही श्रमिकों को कार्य करने हेतु तैयार कर लेते हैं। उद्योगपति यदि स्वयं श्रमिकों को नियुक्त करें तो प्रायः देखा गया है कि श्रमिक अधिक वेतन पर ही उपलब्ध हो पाते हैं।

(ब) मध्यस्थों द्वारा भर्ती के दोष

भारतवर्ष में मध्यस्थों द्वारा श्रमिक भर्ती की प्रथा का प्रचलन काफी पुराना है। इस प्रथा के कुछ लाभ अवश्य हैं लेकिन अधिकतर दोष पाये जाते हैं। बुराइयां अधिक होने के कारण ही इस प्रथा की आलोचना होती है। इस प्रथा के कुछ दोषों का वर्णन निम्न है—

(1) श्रमिकों का शोषण—इस प्रकार की भर्ती प्रथा से श्रमिक बहुत अधिक मात्रा में शोषण के शिकार होते हैं। भारतीय श्रमिक, निर्धन, अशिक्षित व रूढ़िवादी होते हैं। इन श्रमिकों को स्वयं के लिये रोजगार ढूंढना अत्यन्त कठिन होता है अतः मध्यस्थ उनकी विवशता का पूरा लाभ उठाते हैं। इन्हें कार्य पर लगाने हेतु इनसे राशि वसूल करते हैं जिसे 'दस्तूरी' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रति माह प्राप्त होने वाले वेतन में से कुछ हिस्सा वसूल किया जाता है क्योंकि छुट्टी, वेतन वृद्धि, नौकरी से हटाया जाना आदि समस्त बातों में मध्यस्थ की सिफारिश का वि महत्व होता है, इसलिये भय के कारण श्रमिक द्वारा मध्यस्थ को प्रतिमाह रिश्व

रूप में कुछ राशि दी जाती है। मध्यस्थ श्रमिक वर्ग के लिये सेठ, साहूकार तथा महाजन का भी कार्य करके उनको शोषण करते हैं।

(2) **औद्योगिक संघर्ष में वृद्धि**—मध्यस्थों द्वारा भर्ती से श्रमिकों और मिल मालिकों के मध्य सीधा सम्पर्क नहीं होता है। मिल मालिकों को वास्तविक स्थिति की अनभिज्ञता रहती है क्योंकि मध्यस्थ झूठी शिकायतें करते रहते हैं तथा दूसरी ओर श्रमिकों को भी गलत बातें बताकर भड़काते हैं परिणामतः दोनों पक्षों में असन्तोष व एक दूसरे के प्रति अविश्वास बढ़ता जाता है और औद्योगिक संघर्ष होते हैं।

(3) **श्रम आवर्तन में वृद्धि**— मध्यस्थों के माध्यम से श्रमिक भर्ती का दुष्परिणाम है कि श्रम आवर्तन अधिक होता है। मध्यस्थ गाँव वाले श्रमिकों को अनेक आकर्षक प्रलोभन देकर ले आते हैं। कुछ समय पश्चात श्रमिक को जब यह विदित होता है कि प्रलोभन झूठे थे तो वह छोड़कर वापस चले जाते हैं। भारत में श्रमिकों की अस्थाई और प्रवासी प्रवृत्ति का यह भी एक प्रमुख कारण है। इससे केवल उद्योग को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी हानि होती है।

(4) **अयोग्य श्रमिकों की भर्ती**— मध्यस्थ, श्रमिकों की भर्ती करवाते समय औद्योगिक हित अथवा श्रमिक हित के मुकाबले स्वयं को प्राप्त होने वाली रिश्वत तथा कमीशन में अधिक रुचि रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे अयोग्य व अकुशल श्रमिकों की भर्ती के लिये मालिकों को सिफारिश कर देते हैं।

(2) ठेकेदारों द्वारा भर्ती

भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में औद्योगिक श्रमिकों की भर्ती के लिये ठेके की प्रथा का प्रचलन है। उद्योगों में मालिक किसी निश्चित कार्य को सम्पन्न करने का ठेका दे देते हैं। ठेकेदार उस कार्य को पूरा करने के लिये स्वयं ही श्रमिकों को भर्ती करता है, उनका वेतन निर्धारित करता है और अपनी शर्तों के अनुसार उनसे कार्य करवाता है। भारतवर्ष में सार्वजनिक निर्माण विभाग, रेल विभाग, इन्जीनियरिंग विभाग तथा अनेक उद्योगों में ठेकेदारी प्रथा का यथेष्ठ प्रचलन है।

(अ) ठेके द्वारा श्रमिक भर्ती से लाभ

ठेके का श्रम लोकप्रिय होने के कुछ प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

1. **कार्य सस्ता होना**—ठेकेदारी प्रथा से कार्य करवाने के लिये पहले टेण्डर मांगे जाते हैं। टेण्डर स्वीकार करवाने हेतु ठेकेदार कम से कम राशि में कार्य सम्पन्न करने हेतु टेण्डर भेजते हैं। उद्योग भी प्रायः उसी टेण्डर को स्वीकृति देता है जिसमें सबसे कम मूल्य पर कार्य सम्पादन करने का वायदा हो। इसलिये इस प्रथा से उद्योगपति का कार्य सस्ता होता है।

2. **कार्य शीघ्र होना**— यदि किसी कार्य को शीघ्र पूरा कराना हो तो भी यह प्रथा अपनाई जाती है। ठेकेदार को काम सौंप देने से यह दायित्व उसका हो

जाता है कि वह उसे निर्धारित अवधि में पूरा कर दे अन्यथा उससे हर्जाना वसूल किया जाता है।

3. सरकारी नियमों का पालन व श्रमिकों पर निगरानी से मुक्ति—ठेके द्वारा कार्य करवाने में श्रमिक ठेकेदार के नौकर होते हैं। सरकारी नियमों का पालन जैसे श्रम कल्याण नियम, श्रमिक सुरक्षा नियम आदि का ठीक-ठीक पालन करना ठेकेदार का दायित्व होता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की देखरेख व उनकी निगरानी की जिम्मेदारी भी ठेकेदार की होती है। इस प्रकार इस प्रथा को अपनाने से उद्योगपति सरकारी नियम व श्रमिक निगरानी दोनों चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

(ब) ठेकेदारी प्रथा के दोष

ठेकेदारी के माध्यम से श्रमिक भर्ती के लाभ अवश्य हैं लेकिन अनेक हानियां भी हैं जिनमें कुछ प्रमुख नियम निम्न हैं—

1. अनियमित व कम मजदूरी—ठेकेदार प्रायः उन्हीं श्रमिकों को भर्ती करते हैं जो न्यूनतम मजदूरी लेना स्वीकार करते हों। मजदूरी के सम्बन्ध में प्रायः श्रमिकों में आपसी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कराने में सफल होकर उनका शोषण करते हैं। ये ठेकेदार श्रमिकों को सुचारु रूप से उनका पारिश्रमिक देने मे भी अनियमितताये करते हैं। प्रायः उनका वेतन रोके रखते हैं जिससे कि बाध्य होकर वे काम छोड़कर अन्यत्र न जाने पायें।

2. श्रमिक अनिवार्य सुविधाओं व सुरक्षा साधनों से वंचित—श्रमिकों को शोषण से बचाने हेतु अनेक प्रकार की सुविधायें व सुरक्षा साधन प्रदान करने के लिये सरकार द्वारा नियम बनाये गये हैं लेकिन सरकार के पास पर्याप्त संख्या में अधिकारी नहीं होने से यह निगरानी करना कठिन होता है कि यथासम्भव नियमों के अनुसार सुरक्षा व सुविधा प्राप्त की जा रही है अथवा नहीं। इस अभाव का पूरा लाभ ठेकेदार उठाने में कदापि नहीं चूकते हैं और उनकी प्रवृत्ति न्यूनतम सुविधा व सुरक्षा प्रदान करने की होती है।

3. कार्य के घंटे व छुट्टी सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन—ठेकेदार अपने श्रमिकों से निर्धारित कार्य के घंटों से अधिक कार्य करवाता है इसके अतिरिक्त उनकी साप्ताहिक छुट्टी में भी जहां तक सम्भव होता है उन्हें वंचित रखता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ठेकेदारी के माध्यम से श्रमिक भर्ती श्रमिकों के लिये अधिक अहितकर है।

(3) प्रत्यक्ष भर्ती

इस भर्ती पद्धति के अन्तर्गत कारखाने के मुख्य द्वार पर सूचना चिपका दी जाती है जिसमें भर्ती किये जाने वाले श्रमिकों की संख्या और वांछित योग्यता का वर्णन होता है। कभी-कभी इस प्रकार की सूचना विज्ञापन और समाचार-पत्रों मे भी प्रकाशित कर दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक

तिथि को काफी संख्या में भर्ती चाहने वाले श्रमिक कारखाने के मुख्य द्वार पर उपस्थित मिलते हैं। चुनाव कार्य कारखाने के मैनेजर अथवा सुपरिन्टेन्डेन्ट के द्वारा प्रश्न पूछ कर अथवा अन्य जानकारियाँ प्राप्त करके पूरा किया जाता है। यह भर्ती विधि अकुशल श्रमिकों की भर्ती के लिए ही उपयुक्त है कुशल श्रमिकों के लिये नहीं। आधुनिक युग में भारतवर्ष के अनेक उद्योगों में प्रत्यक्ष भर्ती विधि का प्रचलन अपनाया जा रहा है।

(अ) प्रत्यक्ष भर्ती के लाभ

श्रमिकों की प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली के निम्न लाभ हैं—

(1) श्रमिकों के शोषण से बचाव—प्रत्यक्ष भर्ती में नियोजक स्वयं ही श्रमिकों की भर्ती करता है मध्यस्थों से कोई सहायता नहीं ली जाती है इसलिये श्रमिकों का शोषण से बचाव हो जाता है क्योंकि उन्हें नौकरी पाने के लिये रिश्वत नहीं देनी पड़ती है तथा मासिक वेतन में से मध्यस्थ को कोई कमीशन भी नहीं देना पड़ता है। छुट्टी, पदोन्नति, वेतन-वृद्धि आदि समस्त बातों में मध्यस्थ का कोई महत्व न होने से भी शोषण बन्द हो जाता है।

(2) कार्य के लिए उपयुक्त श्रमिकों की भर्ती—प्रत्यक्ष भर्ती पद्धति में श्रमिक में पाई जाने वाली योग्यताओं का वर्णन लिखकर कारखाने के बाहर लगा दिया जाता है अतः वांछित योग्यता वाले व्यक्ति उपलब्ध हो जाते हैं।

(3) उत्पादन वृद्धि—इस पद्धति में वाँछित योग्यता वाले व्यक्तियों को कार्य पर लगाया जाता है तथा नियोजक व नियोजित का प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है इसलिये श्रमिक मन लगाकर कार्य में संलग्न रहता है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है।

(4) श्रमिक आवर्तन में कमी—श्रमिक स्वतः अपनी स्वेच्छा से कारखाने में कार्य प्राप्त करने के लिए आते हैं। उन्हें किसी प्रकार का झूठा प्रलोभन नहीं दिया जाता है तथा श्रमिक को भी वर्णित वेतन प्राप्त होता है उसमें से मध्यस्थ को कमीशन आदि नहीं देना होता है। श्रमिक और मालिक में प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है अतः श्रमिक नौकरी छोड़कर सामान्यतः नहीं जाते हैं।

(ब) प्रत्यक्ष भर्ती के दोष

प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली पूर्णतः दोषरहित नहीं है इसमें पाये जाने वाले कुछ दोष निम्न हैं—

(1) कुशल श्रमिक भर्ती के लिये अनुपयुक्त - यह प्रणाली अकुशल व अशिक्षित श्रमिकों की भर्ती के लिए तो उपयुक्त है लेकिन कुशल व योग्य श्रमिकों की भर्ती के लिए अनुपयुक्त है।

(2) विज्ञापन व्यवस्था पर्याप्त नहीं हो पाती—इस प्रणाली में नौकरी चाहने वाले श्रमिकों को भर्ती की सूचना देने की समुचित व्यवस्था नहीं है। अशिक्षित श्रमिक विज्ञापन पढ़कर जानकारी प्राप्त करने में असफल रहते हैं। इसके अतिरिक्त

गाँवों में जहाँ समाचार पत्र अथवा विज्ञापन नहीं पहुँच पाते हैं वहाँ के श्रमिक जानकारी के अभाव से वंचित रह जाते हैं।

(4) रोजगार कार्यालयों द्वारा भर्ती

वर्तमान में रोजगार कार्यालय द्वारा श्रमिक भर्ती का तरीका अधिक लोकप्रिय हो गया है। यह भर्ती का माध्यम अधिक वैज्ञानिक एवं दोषरहित है। रोजगार कार्यालय, सरकार द्वारा प्रायः प्रत्येक जिले में खोले गये हैं। रोजगार पाने के इच्छुक समस्त प्रकार के कर्मचारी व श्रमिक अपनी योग्यता, आयु, निवास आदि समस्त विवरण इस कार्यालय में लिखवा देते हैं। उद्योग के मालिक अपनी माँग रोजगार कार्यालय को बतला देते हैं। रोजगार कार्यालय नियोजक को उसकी आवश्यकता के अनुकूल वांछित योग्यता वाले कर्मचारी व श्रमिक भेज देता है। इस प्रकार यह कार्यालय रोजगार चाहने वालों तथा रोजगार देने वाले सेवा नियोजकों को आपस मे मिलाने का कार्य करता है। इस पद्धति से मध्यस्थो, दलालों आदि का धीरे-धीरे उन्मूलन होता जा रहा है।

(5) श्रमिक संघों के माध्यम से श्रमिक भर्ती

कुछ औद्योगिक संस्थाओं मे श्रमिक सघ तथा कर्मचारी संघ संगठित हो गये हैं। इन संघों के पास रोजगार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियो की सूची होती है। औद्योगिक संस्थाओं के मालिको से श्रमिक-माँग की सूचना प्राप्त होते ही ये संघ अनुकूल श्रमिको को भेज देते हैं। मालिक अपने उद्योग की आवश्यकता के अनुसार नियुक्ति के लिए श्रमिक चुनाव कर लेता है। इस पद्धति से श्रमिक भर्ती की जाने से अनुशासनहीनता नही होती है, अन्य कर्मचारियों व श्रमिको को उत्प्रेरणा मिलती है तथा अच्छे श्रम सम्बन्धो की स्थापना होने लगती है। इस पद्धति का दोष यह है कि कभी-कभी श्रम संघो के दवाव के कारण कुशल श्रमिको के साथ अकुशल श्रमिकों की भी भर्ती करनी पडती है।

उपरोक्त विवेचन से भारतवर्ष में प्रचलित भर्ती प्रणालियो की कुछ जानकारी होती है। प्रत्येक भर्ती प्रणाली में कुछ गुण व दोष पाए जाते हैं। भारत एक विकासशील राष्ट्र है और आज भी यहाँ बेरोजगारी का साम्राज्य है। यह अवश्य सन्तोष का विषय है कि भर्ती प्रणालियो में निरन्तर सुधार हो रहा है और शीघ्र ही ऐसी सम्भावना है कि भर्ती में वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग एवं निष्पक्षता बहुत कुछ सीमा तक व्याप्त हो जावेगी।

औद्योगिक श्रम का सामाजिक संयोग
(Social Composition of Industrial Labour)

भारत में आधुनिक प्रकार के उद्योगों का इतिहास बहुत प्राचीन नही है। प्रारम्भ में बडे उद्योगो का विकास समुद्र के निकट के नगरों में हुआ जहाँ उद्योगों के लिए विदेशों से मशीनें मँगाना ज्यादा सुविधाजनक था। इसके अतिरिक्त भी औद्योगीकरण के लिये बाजार, यातायात एवं शक्ति के साधनों की

उपलब्ध थी। इसके फलस्वरूप कुछ स्थानों पर उद्योगों का केन्द्रीयकरण बड़ी मात्रा में हुआ तथा देश के विभिन्न भागों से विभिन्न जाति एवं धर्म के व्यक्ति कारखानों में कार्य करने के लिए आये। आजकल उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण पर ध्यान दिया जा रहा है लेकिन श्रमिकों के सामाजिक संयोग के सम्बन्ध में अभी भी विभिन्न जाति व धर्म के व्यक्ति मिलते हैं। श्रमिक वर्ग के सामाजिक संयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषतायें उल्लेखनीय हैं—

1. ग्रामीण क्षेत्र का मूलवासी—भारतीय उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक अधिकांशतः ग्रामीण क्षेत्र से आते हैं। उद्योगों में श्रमिकों की माँग बढ़ी तथा गांवों में कृषि वहाँ के सभी निवासियों को पर्याप्त रोजगार देने में असमर्थ रही। इससे गाँवों में बेकारी एवं अर्द्ध बेकारी की स्थिति होने से वहाँ के निवासियों ने नगरों की ओर आना प्रारम्भ किया। औद्योगिक श्रम का अध्ययन यह बताता है कि अधिकांश श्रमिक गाँवों से नगरों के उद्योगों में कार्य करने के लिए इसलिए आते हैं कि वहां उनके पास पर्याप्त भूमि नहीं थी या भूमिहीन होने पर अन्य कृषकों के यहां पर्याप्त रोजगार नहीं मिलता था। यह स्थिति आज भी बनी हुई है। ग्रामीण क्षेत्र में कृषि एवं उद्योग वहाँ की जनता को पर्याप्त रोजगार देने में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं अतः वहाँ की जनता नगरों में स्थित उद्योग में रोजगार प्राप्त करने हेतु गाँवों को छोड़ रही है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्र की परिस्थितियाँ श्रमिक को नगरों की ओर धकेलती है।

2. विभिन्न जातियों का संयोग—भारतीय औद्योगिक श्रम विभिन्न जातियों का संयोग है। भारतीय समाज की संरचना में हमें जनता जाति के आधार पर विभाजित मिलती है जिसका पालन बड़ी कट्टरता से विवाह, पेशा, छूआछूत, पारस्परिक मेलजोल आदि में किया जाता है। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने किसी एक वर्ग या जाति के लोगों को ही औदयोगिक श्रम के लिए प्रेरित नहीं किया है बल्कि सभी जातियों के लोग इसमें सम्मिलित हैं। उद्योगों में बिना जातिपाँति का ध्यान रखते हुए जहाँ भी कार्य मिलता है तथा जिसके भी साथ काम करने दिया जाता है वहाँ श्रमिक कार्य करते हैं।

3. पिछड़ी जातियों के श्रमिक अधिक—यह सत्य है कि भारतीय श्रमिकों में सभी जाति के लोग मिलते हैं लेकिन इनमें पिछड़ी जातियों के लोगों की अधिकता है। इसका मूल कारण यह रहा है कि पिछड़ी जाति के लोगों की आर्थिक स्थिति उच्च जाति के लोगों की तुलना में ज्यादा खराब रही है। इसके अतिरिक्त उनके साथ केवल पिछड़ी या निम्न जाति का होने के कारण गांवों में उनकी बड़ी उपेक्षा की गई है। जिससे वे उद्योगों में ज्यादा आकर्षित हुए क्योंकि औद्योगिक रोजगार सामाजिक एवं जातीय बन्धनों को तोड़ने की प्रवृत्ति रखता है। डॉ० **राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार, "उत्तर प्रदेश में 60 प्रतिशत महिला श्रमिक तथा 90 प्रतिशत पुरुष श्रमिक परिगणित एवं पिछड़ी जातियों में से थे तथा अधिकांशतः कोरी थे।"

4. विभिन्न धर्म के अनुयायी—श्रमिकों में विभिन्न धर्म के लोगों का मिश्रण मिलता है। इनमें सनातन, जैन, ईसाई, आर्य समाज, मुस्लिम आदि सभी धर्मों के लोग पाये जाते हैं। इसमे श्रमिकों में विभिन्न धर्मों की संस्कृति का संयोग होने से उनकी धार्मिक कट्टरता का अभाव पाया जाता है। वे बिना किसी के धर्म का ध्यान रखते हुए परस्पर मिलते जुलते हैं।

5. विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिक—औद्योगिक नगरों में श्रमिक विभिन्न प्रान्तों के देखने को मिलते हैं। बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर आदि के सूती वस्त्र उद्योग मे उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, मध्य प्रदेश आदि प्रान्त के निवासी मिल जाते हैं। इसी प्रकार की स्थिति अन्य औद्योगिक नगरों की भी है। जिसको जिस नगर व जिस उद्योग में भी काम मिला व वही कार्य करने चला गया है। इससे श्रमिक वर्ग में क्षेत्रीय बन्धन नही मिलता एक ही कारखाने मे विभिन्न प्रान्तों के लोग पाये जा सकते हैं।

6. विभिन्न लिंग—कारखानो एवं उनके कार्यालयों में स्त्री तथा पुरुष दोनों ही प्रकार के श्रमिक पाये जाते हैं लेकिन पुरुषों की अपेक्षा स्त्री श्रमिकों की संख्या कम है।

7. पारिवारिक पृथकता—औद्योगिक श्रमिकों में पारिवारिक पृथकता पाई जाती है। औद्योगिक नगरों में आवास की कठिनाई, नगरों की असुविधाओं, गाँवों में कुछ सम्पत्ति होना तथा गाँवो से परम्परागत लगाव व नगरीय जीवन महँगा होने के कारण बहुत से श्रमिक अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ नहीं रहते। परिवार से निरन्तर दूर रहने के कारण श्रमिको में अनेक कुंठाएँ एवं दोष देखने को मिलते हैं। परिवार गाँवों में रहता है तथा श्रमिक नगर में इससे बहुत से श्रमिकों में पारिवारिक जीवन के अभाव में असन्तोष एव बुरी आदतें स्थान ले लेती हैं।

8. परिवर्तनशील—श्रमिक समाज में निरन्तर परिवर्तन भी देखने को मिलता है। यहाँ परिवर्तन से आशय श्रमिकों में होने वाले परिवर्तन से है। जैसे ही श्रमिक की आर्थिक स्थिति कुछ ठीक हो जाती है या फसल का समय आता है या उसके गाँवों मे कोई सामाजिक समारोह होता है तो वह काम छोड़कर पुनः गाँव को लौट जाता है तथा फिर यदि कुछ समय बाद लौटकर आता है तो जहाँ भी जिस उद्योग में काम मिलता है—वह काम करने लगता है। इसका उसकी कार्य-क्षमता पर प्रभाव तो पड़ता ही है श्रम संगठनों पर भी प्रभाव पडता है। ऐसे श्रमिक किसी एक श्रम संगठन के सदस्य नहीं बन पाते जिससे संगठन की शक्ति एव प्रभाव-शीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

प्रवास की समस्या
(Problem of Migration)

भारत में औद्योगिक श्रमिकों के सामाजिक संयोग में श्रम की [illegible] का बड़ा योगदान है इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने मूल [illegible]

स्थानों पर अस्थाई तौर पर बस जाता है। इससे वह अपने मूल स्थान से तो उखड़ जाता है तथा नये स्थान पर ठीक से जम नहीं पाता। भारतीय उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों का एक बहुत बड़ा भाग प्रवासी है जिसका मूल स्थान तो गाँव है लेकिन काम करने वह उद्योगों में आता है तथा समय-समय पर पुनः अपने गाँव लौटता है।

प्रवास के प्रकार (Types of Migration)

भारतीय औद्योगिक श्रमिकों में चार प्रकार का प्रवास पाया जाता है।

(1) **दैनिक प्रवास** (Daily Migration)—दैनिक प्रवास से आशय ऐसे प्रवास से है जबकि श्रमिक प्रतिदिन अपने गाँव से नगर के उद्योगों में कार्य करने आता है तथा संध्या को पुनः गाँव लौट जाता है।

(2) **मौसमी प्रवास** (Seasonal Migration)—जब गाँवों में फसल एवं खेती का कार्य नहीं होता तब श्रमिक उद्योगों में काम करने नगरों में आ जाते हैं तथा जब मौसम विशेष में खेती का कार्य अधिक होता है तो उस समय पुनः लौटकर गाँवों में आ जाता है। इसे मौसमी प्रवास कहते हैं।

(3) **आकस्मिक प्रवास** (Accidental Migration)—गाँवों में तनाव, झगड़े, सामाजिक बहिष्कार आदि होने पर गाँव छोड़कर नगर में काम करने आना तथा बाद में सामान्य स्थिति होने पर या गाँव से कुछ आकस्मिक सूचनायें मिलने पर पुनः गाँव लौटना आकस्मिक प्रवास कहलाता है।

(4) **स्थायी प्रवास** (Permanent Migration)—जब स्थाई रूप से गाँव छोड़कर नगर में आकर श्रमिक बस जाते हैं तो उसे स्थाई प्रवास कहते हैं।

प्रवास के कारण (Causes of Migration)

भारतीय श्रमिकों में प्रवासी प्रवृत्ति होने पर प्रमुखतः निम्नलिखित कारण हैं।

1. भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ाना तथा प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा कम रहना।

2. जनसंख्या में वृद्धि तथा कृषि के धन्धे द्वारा आवश्यकता पूर्ति न होना।

3. कुटीर उद्योगों का पतन होना तथा कुटीर उद्योगों में लगे लोगों का बेकार होना।

4. सामाजिक कारण जैसे पिछड़ी जाति के लोगों के प्रति असम्मान व घृणा छुआछूत आदि।

5. पारिवारिक कलह जो व्यक्ति को संयुक्त परिवार से पृथक रहने को प्रेरित करते हैं।

6. ऋण ग्रस्तता (Indebtedness) के कारण ऋण चुकाने हेतु नगरों में काम करने जाना।

7. अधिक धन कमाने की लालसा में नगरों में काम करने आना जिससे आर्थिक स्थिति में सुधार करके समाज में सम्मान प्राप्त किया जा सके।

8. नगरों में आधुनिक सुविधायें उपलब्ध होने से उनका आकर्षण भी ग्रामीण लोगों को आकर्षित करता है।

9. गांव छोड़कर नगर में बसना प्रगतिशील होने के लिये अनिवार्य माना जाता है जहाँ कि प्रगति के ज्यादा अवसर होते हैं।

10. गाँवों में जीवन की सामान्य सुविधाओं जैसे चिकित्सा, शिक्षा, यातायात संचार व मनोरंजन आदि का अभाव होता है। अतः इन विभिन्न कारणों से श्रमिकों गाँव छोड़कर नगर के उद्योगों में काम करने आने की प्रवृत्ति रखता है।

प्रवास के परिणाम (Consequences of Migration)

श्रमिको की प्रवासी प्रवृत्ति के अच्छे एवं बुरे दोनों ही प्रकार के परिणाम होते हैं। इसके अच्छे परिणाम मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1. गाँवो में भूमि पर जनसंख्या का भार घटता है।

2. परिवार की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है क्योंकि नगर में गया सदस्य भी अर्जित कर अपने घर धन भेजता है।

3. श्रमिकों के जीवन-स्तर में सुधार होता है।

4. श्रमिकों का मानसिक दृष्टिकोण व्यापक होता है तथा मानसिक सकीर्णता समाप्त हो जाती है।

5. श्रम की गतिशीलता मे वृद्धि होने से उसकी अर्जन क्षमता व उत्पादकता बढती है।

6. नगरों में श्रमिको को जीवन की सामान्य सुविधाएँ अधिक मात्रा में मिलती हैं।

7. गाँवो के प्राकृतिक वातावरण मे आने जाने से श्रमिकों का स्वास्थ्य ठीक बना रहता है।

8. सामाजिक सुरक्षा गाँवों से सम्पर्क रखने पर बनी रहती है। जब कभी भी बीमारी, बेकारी या अन्य कोई संकट आता है तो श्रमिक पुनः गाँव में लौट जाते हैं जहाँ उनका संयुक्त परिवार उनकी सहायता करता है।

9. श्रमिको की प्रवासी प्रवृत्ति से गाँव व शहर में सांस्कृतिक समन्वय बना रहता है। शहरों की संस्कृति गाँवो मे पहुँचती रहती हैं तथा नगर निवासी भी ग्राम्य जीवन की वास्तविकताओ से परिचित बने रहते हैं।

प्रवासी प्रवृत्ति के दोष

श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति के कुछ दोष भी हैं जैसे—

1. गाँवों के प्राकृतिक वातावरण से नगरों के अस्वास्थ्यकर वातावरण में आने पर श्रमिकों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

2 नगरो व गाँवो के मध्य बार-बार के आवागमन से श्रमिकों का जीवन-स्तर निश्चित नही रह पाता।

3. औद्योगिक नगरों की श्रमिकों की वस्तियों में सांस्कृतिक विघटन एवं सांस्कृतिक पतन देखने को मिलता है।

4. गाँवों से आकर नगर में वसने पर श्रमिक की धार्मिक ग्रस्थायें भी टूटने लगती हैं।

5. गाँव के संयुक्त परिवार को छोड़कर नगर में अकेले रहने से पारिवारिक विघटन भी होता है।

6. पारिवारिक एवं वैवाहिक विघटन सामाजिक विघटन उत्पन्न करते हैं। प्रवासी व्यक्तियों पर सामाजिक नियन्त्रण वहुत कम रह जाता है तथा उनमें सामुदायिकता की भावना बहुत कम हो जाती है।

7. नगरों में मद्यपान, जुआ, वेश्यागमन आदि दुर्व्यसन श्रमिक का नैतिक पतन करते हैं जवकि गाँवों में वह इन दोषों से मुक्त रहता है।

8. गन्दी एवं घनी बसी बस्तियों में रहने से श्रमिकों का स्वास्थ्य खराव रहता है जिससे उनकी कार्यक्षमता घटती है।

9. नैतिक विघटन भी श्रमिक का होता है। मन्दी काल में वेकारी की स्थिति नगर के महंगे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भ्रष्ट उपायों से धन कमाना ऊँची आंकाक्षाओं के पूरा न होने पर निराशा एवं आत्म हत्या करने की प्रवृत्ति आदि दोष भी विकसित होते हैं।

10. श्रमिकों में स्थायित्व का अभाव होने से कार्य क्षमता न बढ़ना तथा प्रशिक्षण की सुविधा नियोजक द्वारा न दिये जाने से श्रमिक को हानि होती है।

11. प्रवासी प्रवृत्ति से श्रम संघों के विकास में भी वाधा उत्पन्न होती है।

12. प्रवासी व्यक्ति का कोई स्थायी सामाजिक जीवन नहीं वन पाता क्योंकि वह गाँव या नगर में कहीं भी स्थायी रूप से रहने की वात नहीं सोचता।

इस प्रकार श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति जो कि यहाँ की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का कारण है, श्रमिक एवं समाज पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डालती है।

भारतीय श्रमिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को बदलने का क्रान्तिकारी कदम : वन्धित श्रम पद्धति का उन्मूलन

भारत में श्रमिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को वदलने की दिशा में वन्धित श्रम पद्धति के उन्मूलन की क्रान्तिकारी कदम अक्तूबर 1975 से उठाया गया है। यह कदम भारतीय श्रम के स्वरूप को सुधारने का एक अभूतपूर्व प्रयास है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार के श्रम मन्त्रालय की 1977-78 की वार्षिक रिपोर्ट में जो प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार है—

"कृषि सम्बन्धी स्थाई समिति की सिफारिशों के अनुसरण में तथा वाद में जुलाई 1975 में श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन में हुए विचार-विमर्श के वाद 24 अक्तूबर

1975 को बन्धित श्रम पद्धति (उत्पादन) अध्यादेश, 1975 जारी किया गया। इस अध्यादेश का स्थान 9 फरवरी, 1976 को बन्धित श्रम पद्धति (उत्पादन) अधिनियम ने ले लिया। इस अधिनियम में बन्धित श्रम पद्धति के उन्मूलन तथा मुक्त कराये गये बन्धित श्रमिकों के पुनर्वास की व्यवस्था की गई। राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्रों से यह अनुरोध किया गया कि ये बन्धित श्रमिकों का पता लगाने तथा मुक्त कराये गये बन्धित श्रमिकों को पुनः बसाने के लिये बन्धित श्रम प्रणाली (उत्पादन) अधिनियम, 1976 के अधीन समुचित कार्यवाही करें।

ऐसे क्षेत्रों में जहाँ बन्धित श्रम पद्धति के प्रचलन की सम्भावना है, बन्धित श्रमिकों का पता लगाने के लिये राज्य सरकारों ने राज्यों में उपलब्ध विशिष्ट एजेंसियों के जरिये सर्वेक्षण कराये हैं। अनेक राज्य सरकारों ने भी इस प्रयोजन के लिये अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के क्षेत्रीय कार्यालयों में उपलब्ध विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठाया है। केन्द्र में श्रम मंत्रालय ने बिहार के पलामाऊ जिले के इस प्रणाली का अध्ययन कार्य भारतीय सार्वजनिक प्रशासन संस्थान को और गोवा, दमन तथा दीव के संघ राज्य क्षेत्र में इस प्रणाली का अध्ययन कार्य राष्ट्रीय श्रम संस्थान को सौंपा है।

राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में, जो बन्धित श्रम प्रणाली (उत्पादन) अधिनियम, 1976 को लागू करने के लिये जिम्मेदार हैं, प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर पता लगाये गये, मुक्त कराये गये तथा पुनः बसाये गये बन्धित श्रमिकों के बारे में समय-समय पर पुनरीक्षायें की जाती हैं। 31-12-1977 की स्थिति के अनुसार प्रत्येक राज्य संघ/राज्य क्षेत्र में पता लगाये गये, मुक्त कराये गये तथा पुनः बसाये गये बन्धित श्रमिकों की संख्या के बारे में नवीनतम उपलब्ध सूचना इस प्रकार है—

बन्धित श्रमिकों की कुल संख्या

(31-12-1977 की स्थिति के अनुसार)

क्रमांक राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	पता लगाये गये	मुक्त कराये गये	पुनः बसाये गये
1	2	3	4
1. आन्ध्र प्रदेश	4,148	4,148	3,002
2. बिहार	2,562	2,301	613
3. गुजरात	42	42	42
4. कर्नाटक	64,042	64,042	6,876
5. उड़ीसा	627	316	312
6. मध्य प्रदेश	1,612	1,506	33

1	2	3	4
7. केरल	900	900	186
8. राजस्थान	6,000	5,580	2,496
9. तमिलनाडु	2,882	2,882	2,363
10. उत्तर प्रदेश	19,242	19,242	12,805
11. मिजोरम	3	3	—
कुल	1,02,060	1,00,962	28,728

मुक्त कराये गये श्रमिकों को सरकार की विभागीय परियोजनाओं में उपयुक्त रोजगार देकर, कृषि के लिये भूमि तथा मकानों के लिये भूखण्ड आवंटित करके और दूध देने वालों पशुओं, भेड़ों, वढ़ईगिरी के औजार की खरीद के लिये ऋण देकर पुनः वसाया जा रहा है। उनके वच्चों को शिक्षा तथा निःशुल्क होस्टल सुविधायें भी दी जा रही हैं। इस प्रकार के श्रमिकों के भूमि आधार वाले तथा गैर-भूमि आधार वाले पेशों में पुनर्वास हेतु राष्ट्रीयकृत वैंकों द्वारा व्याज की रियायती दरों पर ऋण भी दिये गये हैं। कलक्टरों को भी निदेश दिये गये हैं कि वे मुक्त कराये गये श्रमिकों को भूमि संरक्षण, सिंचाई कार्य, आदिवासियों तथा हरिजनों के कल्याण सम्बन्धी चालू योजनाओं एवं कार्यक्रमों के अन्तर्गत पुनः वसायें।

वन्धित श्रमिकों के पुनर्वास की स्थिति की हाल ही में पुनरीक्षा की गई और मुक्त कराये गये वन्धित श्रमिकों के पुनर्वास की गति को तेज करने के लिये—

(i) राज्य सरकारों संघ/राज्य क्षेत्रों को हाल ही में यह कहा गया है कि वे अपनी ग्राम-विकास की योजनाओं में वन्धित श्रमिकों का पता लगाने, उन्हें मुक्त कराने तथा पुनः वसाने के लिये विशिष्ट व्यवस्था करें।

(ii) सम्वन्धित केन्द्रीय मन्त्रालयों/विभागों से यह अनुरोध किया गया है कि वे विकास के लिये व्लाकों का चयन करते समय ऐसे व्लाकों को प्राथमिकता दें जहाँ वन्धिक श्रमिकों का पता लगाया गया है या जहाँ इस पद्धति की विद्यमानता होने का पता है, और वन्धित श्रमिकों के पुनर्वास को उन व्लाकों की विकास योजनाओं का एक अंग वनाएं।

(iii) योजना आयोग ने श्रम मंत्रालय की वर्ष 1978-79 के वार्षिक प्लान में एक करोड़ रुपये के परिव्यय की स्वीकृति दी है ताकि वह ऐसे मामलों में राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्रों की वित्तीय सहायता दे सकें जहाँ उनके सम्वन्धित क्षेत्रों में वन्धित श्रमिकों के पुनर्वास के लिये वर्तमान चालू योजनाओं के अन्तर्गत उपलब्ध साधन अपर्याप्त हैं।

देश में बन्धित श्रमिकों की संख्या का स्थूल स्तर पर कोई अनुमान नहीं है। कुल सूक्ष्म अध्ययनों द्वारा एकत्र किए गए अपूर्ण साक्ष्य और ऋणग्रस्तता के बारे में किए गए विभिन्न सर्वेक्षणों से निकाले गए निष्कर्षों से यह प्रतीत होता है कि यह पद्धति अनेक राज्यों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। राष्ट्रीय आधार पर बन्धित श्रम पद्धति का पता लगाने के लिए एक व्यापक सर्वेक्षण करने हेतु राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन से यह अनुरोध किया गया कि वे अपने चालू 32वें दौर में वे बन्धित श्रम पद्धति की विद्यमानता तथा बंधिता श्रमिकों की संख्या के बारे में पहले ही पता लगा रहे हैं। आशा है कि ऐसे क्षेत्रों का पता लगा पाना सम्भव होगा जहाँ यह पद्धति बड़े पैमाने पर विद्यमान है, ताकि बाद में, इन क्षेत्रों में बन्धित प्रणाली के अनेक पहलुओं के बारे में विस्तृत जाँच शुरू की जा सके।"

6

श्रम की कार्यक्षमता, औद्योगिक समाज की समस्यायें और प्रदूषण

(Efficiency of Labour, Problems of Industrial Society and Pollution)

'श्रम' उत्पादन का एक सक्रिय (Active) और महत्वपूर्ण साधन है एक देश में विभिन्न प्रकार के प्रचुर प्राकृतिक साधन बेकार होंगे यदि श्रम द्वारा उनका समुचित प्रयोग न किया जाए। आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया में श्रम के योगदान में वृद्धि करना किसी भी सरकार का मुख्य दायित्व है। उपयुक्त मात्रा में निपुण श्रम-शक्ति देश को विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के शिखर पर पहुँचाने की कुंजी है। एक देश की सम्पन्नता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि वहाँ के श्रम का किस तरह सृजनात्मक कार्यों में अधिकतम उपयोग किया जाता है। प्राचीन समय में श्रम के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों की प्रधानता थी। प्रथम, वस्तु दृष्टिकोण (Commodity Approach) जिसके अन्तर्गत श्रम को वस्तु की भांति खरीदा और बेचा जा सकता है। श्रमिक को कम पारिश्रमिक देकर उसकी सहायता से अधिकतम लाभ अर्जित करना पूंजीपतियों का उद्देश्य रहा। द्वितीय, उदारतावादी दृष्टिकोण (Philanthropic Welfare Approach) जिसके अन्तर्गत श्रमिकों को एक निम्न वर्ग और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल माना जाता है और इसीलिए उनकी मदद करना धनिक वर्ग अपना कर्त्तव्य समझता है। आज के युग में मानवीय सम्बन्ध दृष्टिकोण (Human Relation Approach) प्रधानता पाता जा रहा है, परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach) का महत्त्व समाप्त हो रहा है। भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में जो श्रम नीति अपनाई गई है—वह मानवीय सम्बन्व दृष्टिकोण पर आधारित है। श्रम ही तीव्र औद्योगीकरण के लिए मुख्यतया उत्तरदायी है क्योंकि उत्पादन के साधनों में श्रम और पूंजी का सबसे महत्वपूर्ण स्थान होता है और उसमें भी श्रम का अधिक महत्त्व है जिसके सक्रिय सहयोग के बिना उत्पादन की कोई भी क्रिया सुचारु रूप से नहीं चलाई जा सकती। श्रम-स्थिति सन्तोषजनक बनी रहे इसके

लिए प्रत्येक सरकार निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। श्रमिकों के कार्य की दशाओं एवं उनके जीवन स्तर को उन्नत करने की ओर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation) एक महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। प्रत्येक देश में इस संगठन द्वारा निर्धारित प्रस्तावों को लागू करने के लिए सरकार को श्रम कानूनों में संशोधन करने तथा नये कानून बनाने पड़ते हैं। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में भी कुछ वर्षों से संशोधन हुए हैं जिससे श्रमिकों व उसके आश्रितों को भविष्य की अनिश्चितता का सामना नहीं करना है।

श्रमिक कार्यक्षमता
(Labour Efficiency)

श्रम की कार्यक्षमता एक सापेक्षिक शब्द है। कार्यक्षमता प्रमुख रूप से किसी श्रमिक द्वारा किए गए कार्य की मात्रा, स्वभाव तथा उसे करने में श्रमिक द्वारा लगाए गए समय से है। दूसरे शब्दों में किसी कार्य को समान परिस्थितियों के अन्तर्गत जल्दी और अधिक मात्रा में तथा अच्छी प्रकार सम्पन्न करने को ही कार्यक्षमता कहते हैं। कार्यक्षमता किसी उपक्रम में किये जाने वाले सम्पूर्ण उत्पादन को प्रभावित करता है। श्रम की कार्यक्षमता को मापने का प्रमुख तरीका उसको मुद्रा में व्यक्त करना होता है। इसके लिए प्राय: उत्पादित किये गये माल की मात्रा व किस्म की तुलना श्रम पर किये गए व्यय के साथ करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि वस्तु की मात्रा का मापन सरल है लेकिन उस वस्तु की किस्म तथा उसकी श्रेष्ठता का सही-सही मापन करना जटिल है।

कार्यक्षमता निर्धारक तत्व

श्रमिक की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले तत्वों को प्रमुख रूप में पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) श्रमिक के वैयक्तिक गुण (ख) कार्य दशायें (ग) सामाजिक व राष्ट्रीय वातावरण (घ) प्रबन्धकीय योग्यता (ङ) अन्य। प्रत्येक का वर्णन निम्न प्रकार से है—

(क) श्रमिक के वैयक्तिक गुण

वैयक्तिक गुणों से आशय है जो किसी व्यक्ति में जन्मजात व पारिवारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होने के कारण पाये जाते हैं। इन गुणों में कुछ सीमा तक परिवर्तन हो सकता है पूर्ण परिवर्तन सम्भव नहीं होता है। ये गुण निम्न हैं—

(1) पारिवारिक गुण—व्यक्ति के जीवन में उसके माता-पिता की प्रमुख विशेषतायें जन्म से ही होती हैं। व्यक्ति का स्वास्थ्य, कार्य-दक्षता तथा आदतें बहुत कुछ सीमा तक पारिवारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होती हैं। प्रसिद्ध विद्वान मार्शल का कथन बहुत कुछ सच है कि "एक गन्दे व अंधेरे घर में जन्मा, निरक्षर माता-पिता द्वारा पोषित तथा लाभों के अभाव में पाला हुआ बालक कभी एक संतोषजनक श्रमिक और सम्माननीय नागरिक नहीं बन सकता है।" व्यक्ति के पारिवारिक पृष्ठभूमि वाले गुणों में शिक्षा, समय व परिस्थितियों के अन्तर्गत कुछ परिवर्तन अवश्य सम्भव हैं लेकिन विशिष्ट व उल्लेखनीय परिवर्तन सम्भव नहीं होते हैं।

(2) जातीय गुण—प्रायः मनुष्य जिस जाति में जन्म लेता है उस जाति से सम्बन्वित गुण उसमें पाये जाते हैं। वैश्य जाति के व्यक्ति सामान्यतः हिसाव-किताव में कुशल होते हैं। सिक्ख सरदार शारीरिक कार्य करने में अधिक परिश्रमी होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति में कुछ ऐसे विशेष गुण होते हैं जो कि अन्य जाति के व्यक्तियों में कम पाये जाते हैं।

(3) रहन-सहन का स्तर—रहन सहन के स्तर का भी श्रमिकों की कार्यक्षमता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ श्रमिक की कार्यक्षमता अधिक होती है। अच्छे स्वास्थ्य के लिये पौष्टिक भोजन, उत्तम रहने की व्यवस्था तथा पर्याप्त वस्त्र आवश्यक हैं। इन समस्त की पूर्ति उचित व पर्याप्त मजदूरी पर निर्भर करती है।

(4) नैतिक गुण—श्रमिक की कार्यक्षमता उसमें पाये जाने वाले नैतिक गुणों पर भी निर्भर होती है। यदि श्रमिक ईमानदार, कर्त्तव्यनिष्ठ व अच्छे चरित्र वाला है तो निश्चित रूप से अधिक कार्यक्षम होता है।

(5) सामान्य बुद्धि तथा शिक्षा—श्रमिक की सामान्य बुद्धि तथा उसके द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा का भी कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है। बुद्धि और शिक्षा से व्यक्ति में चिन्तन, मनन की शक्ति आती है तथा विचारों की स्पष्टता भी विकसित होती है, एक शिक्षित व अच्छी बुद्धि वाला श्रमिक अच्छे निर्णय ले सकता है। समस्या को गहनता से समझ कर उसके लिए समाधान ढूँढ सकता है वनिस्पत एक अशिक्षित श्रमिक के। यह अवश्य है कि बुद्धि की कुशाग्रता ईश्वरीय देन है लेकिन कुछ सीमा तक शिक्षा व्यक्ति में समझ उत्पन्न करने में अवश्य सहायक होती है।

(ख) कार्य दशायें

श्रमिक जिस स्थान पर कार्य करता है वहाँ की कार्य दशायें भी श्रमिक की कार्यक्षमता पर विशिष्ट प्रभाव डालती हैं। कार्य दशाओं के अन्तर्गत निम्न बातों को सम्मिलित किया जा सकता है—

(1) कार्य स्थान—कार्य स्थान के वातावरण का भी श्रमिक की कार्यक्षमता पर प्रभाव होता है। कार्य करने का स्थान यदि स्वच्छ है, उचित प्रकाश, हवा तथा गर्मी और सर्दी से वचाव आदि की पर्याप्त व्यवस्था है तो श्रमिक की कार्य क्षमता अधिक होती है। स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था, कैन्टीन की व्यवस्था तथा दुर्घटना से वचाव की व्यवस्था का भी श्रमिक पर अच्छा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है।

(2) कार्य अवधि—लगातार परिश्रम व कार्य में संलग्न रहने से भी कार्यक्षमता पर विपरीत प्रभाव होता है। निरन्तर कार्य श्रमिक में शीघ्र थकावट व शिथिलता लाता है। कार्य अवधि में सुनिश्चित अन्तराल व मनोरंजन व्यवस्था प्रदान करने से श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(3) पर्याप्त व नियमित मजदूरी—श्रमिक को प्राप्त होने वाली मजदूरी का उसकी कार्यक्षमता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। श्रम के बदले उचित मजदूरी प्राप्त होने से उसे मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है तथा उसके रहन-सहन के स्तर में सुधार होने से भी श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ती है। मजदूरी पर्याप्त हो साथ-साथ उसका नियमित होना भी आवश्यक है। प्रायः देखा गया है कि मजदूरी यदि अनियमित रूप से प्रदान की जाती है तो श्रमिक में मानसिक असन्तोष की वृद्धि होती है, वह कार्य में रुचि नहीं लेता है तथा आर्थिक कठिनाई के कारण अपने आप को परेशानी में बंधा हुआ समझता है।

(4) अच्छे उपकरणों की उपलब्धि—यन्त्र और उपकरण जिनका प्रयोग श्रमिक द्वारा उत्पादन व निर्यात करने में किया जाता है श्रमिक की कार्यक्षमता को प्रभावित करते हैं। अच्छे उपकरण से कम समय व कम परिश्रम में अच्छी वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है जबकि घिसेपिटे यन्त्रों द्वारा कितना भी प्रयास क्यों न किया जाय अच्छी वस्तुओं का निर्माण प्रायः सम्भव नहीं होता तथा श्रमिक में निराशा उत्पन्न होती है जिसका प्रभाव उसके मनोबल व कार्यक्षमता पर विपरीत होता है।

(5) श्रमिक सुरक्षा व श्रम कल्याण—उपक्रम में यदि श्रमिक के लिये दुर्घटनाओं से बचाव हेतु सुरक्षात्मक तरीके समुचित मात्रा में प्रयुक्त किये गये हैं तो श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है तथा वह स्वतन्त्रता व निर्भयता के वातावरण में अपना कार्य रुचिपूर्वक करता रहता है इसके विपरीत, दुर्घटना, बेरोजगारी व मृत्यु के भय में उसकी कार्यक्षमता गिरती है। श्रमिक कल्याण कार्य जैसे शिक्षा, चिकित्सा, आवास सुविधा एवं मनोरंजन-गृह आदि की पर्याप्त व्यवस्था से भी श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(6) कार्य परिवर्तन व पदोन्नति की सम्भावनायें—कार्य परिवर्तन भी कार्यक्षमता को बनाये रखने व वृद्धि में प्रभावी होता है। प्रायः श्रमिक एक ही प्रकार का कार्य करते हुये नीरसता का अनुभव करता है ऐसी स्थिति में परिवर्तन से उसकी कार्य-रुचि में वृद्धि होती है। पदोन्नति व अधिक वेतन प्राप्ति की सम्भावना भी श्रमिक को अधिक परिश्रम व लगन से कार्य करने हेतु प्रेरणा प्रदान करती हैं और श्रमिक निरन्तर अपनी कार्यक्षमता वृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहता है।

(ग) वातावरण

श्रमिक की कार्यक्षमता पर वातावरण के प्रभाव को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है—

(1) जलवायु—मनुष्य को प्राकृतिक परिस्थितियों की उपज माना जाता है। प्राकृतिक परिस्थितियों का आशय सर्दी, गर्मी, भूमि की बनावट तथा प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि से है। ये प्राकृतिक परिस्थितियाँ मानव के सामाजिक

निर्धारण में अपना विशिष्ट योगदान देती हैं। इसी कारण से भौगोलिक वातावरण का श्रमिक की कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप ठंडी जलवायु वाले देश के श्रमिक अधिक कार्यक्षमता वाले होते हैं वे अधिक लम्बे समय तक कार्य कर सकते हैं जबकि गर्म देश में श्रमिक थोड़े समय कार्य करने के पश्चात ही थक जाता है तथा शारीरिक रूप से भी ठण्डे देश के श्रमिक के मुकाबले कम बलिष्ठ होता है। इसी प्रकार से कम उपजाऊ भूमि वाले स्थान में रहने वाले व्यक्ति अधिक परिश्रमी और हृष्ट-पुष्ट होते हैं तथा अधिक उपजाऊ प्रदेश के व्यक्तियों को अपनी आवश्यकता की वस्तुयें कम परिश्रम से ही उपलब्ध हो जाती हैं अतः उनमें परिश्रम क्षमता भी कम होती है।

(2) **सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ**—प्रचलित रीति-रिवाज एवं धार्मिक विचार भी श्रमिक की कार्यक्षमता में अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखते हैं। रीति-रिवाजों के बन्धन के कारण श्रमिक अपनी रुचि के अनुसार कार्य नहीं चुन सकते हैं इसी प्रकार धार्मिक बन्धन भी व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं ये बन्धन श्रमिक की कार्यक्षमता को हानि पहुँचाते हैं।

(3) **राजनैतिक परिस्थितियाँ**—राजनीतिक परिस्थितियाँ भी श्रमिक की कार्यक्षमता को कुछ सीमा तक प्रभावित करती हैं। राजनैतिक स्थिरता श्रमिक की कार्यक्षमता वृद्धि में सहायक होती है और अस्थिरता विपरीत प्रभाव डालती है।

(घ) प्रबन्ध स्थिति

आधुनिक युग में अनेक प्रबन्ध विद्वानों का मत है कि प्रबन्धकीय स्थिति का भी कार्यक्षमता पर अच्छा या खराब प्रभाव पड़ता है। यदि प्रबन्धक कुशल, योग्य व अनुभवी हैं तो श्रमिक की कार्यक्षमता वृद्धि में सहायक होते हैं। वे वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर कार्य का विभाजन श्रमिकों में करते हैं, उनके द्वारा अपनायी प्रेरणात्मक योजनायें एवं कुशल नेतृत्व कार्यक्षमता वृद्धि में योगदान देता है। अकुशल प्रबन्धक से कार्यक्षमता की निश्चयात्मक रूप से हानि होती है। एक अकुशल प्रबन्धक नियन्त्रण व समन्वय उचित प्रकार से नहीं कर सकता है परिणामस्वरूप श्रमिक असन्तोष से कार्यक्षमता कम होती है।

(ङ) अन्य तत्व

(1) **सेवानियोजक का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार**—श्रमिक एक मनुष्य है और वह मानवीय व्यवहार चाहता है। यदि नियोक्ता उसके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं, उसकी वास्तविक कठिनाइयों को समझने व उनका समाधान करने का प्रयास करते हैं एवं उनके प्रति उदारतापूर्ण रुख अपनाते हैं तो इससे श्रमिक के मनोबल में वृद्धि होती है एवं उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(2) **श्रमिक संगठन**—श्रमिक संगठन होने से भी श्रमिक कार्यक्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। संगठन के माध्यम से श्रमिक उचित वेतन, अच्छी कार्य

दशायें आदि प्राप्त करने में सक्षम होते हैं जिससे कि उनके जीवन-स्तर में सुधार होता है तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(3) श्रमिकों में स्थायित्व—यदि श्रमिक स्थाई रूप से किसी एक प्रकार के उद्योग में ही कार्य करते हैं तो उनकी कार्यकुशलता में भी वृद्धि होती है। उद्योग में तथा कार्य करने के स्थान में बार-बार परिवर्तन होने से उनकी कुशलता बढ़ नहीं पाती। भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता
(Efficiency of Indian Labour)

भारतीय श्रमिक के सम्बन्ध में प्रायः उद्योगपतियों द्वारा यह कहा जाता है कि उसकी कार्यकुशलता बहुत कम है। इस बात की पुष्टि के लिये उसकी तुलना विदेशों से की जाती है। उदाहरण के लिये वस्त्र उद्योग में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में एक श्रमिक 1120 तकुओं की, इंगलैण्ड में 540 से 600 तकुओं की तथा जापान में एक श्रमिक 240 तकुओं की देखभाल करता है जबकि भारतीय श्रमिक केवल 180 तकुओं की ही देखभाल करता है। अमेरिका में एक श्रमिक 9 करघों को, तथा इंगलैण्ड में 4 से 6 करघों को सम्भालता है जबकि भारत का श्रमिक केवल 2 करघों की ही देखभाल करता है। भारतीय उद्योग आयोग के समक्ष सर एलेक्जेण्डर मैकरावर्ट ने कहा था कि इंगलैण्ड का श्रमिक भारतीय श्रमिक की तुलना में 3½ से 4 गुना अधिक कुशल है। इसी प्रकार कोयला खान उद्योग में भी एक श्रमिक का औसत उत्पादन अमेरिका, जर्मनी व ब्रिटेन में क्रमशः 2168 टन, 899 टन तथा 629 टन है जबकि भारतीय श्रमिक का औसत उत्पादन 260 टन है। गत कुछ वर्षों में आधुनिक मशीनों के प्रयोग से कुछ उद्योगों में श्रमिक की कुशलता में वृद्धि हुई है लेकिन औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की तुलना में यह बहुत कम है।

भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता कम होने की धारणा के विपरीत विचार भी अनेक विद्वानों ने प्रकट किए हैं। श्रम जाँच समिति के अनुसार "श्रमिक की तथाकथित कार्यकुशलता एक कोरी कल्पना है। यदि हम अपने श्रमिकों को वैसी ही कार्य दशाएँ, मजदूरी, उचित व्यवस्था, मशीनें और यन्त्र आदि दें जैसी कि अन्य देशों के श्रमिकों को मिलती हैं तो भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता भी अन्य देशों के श्रमिक से कम न होगी।" समिति का यह भी विचार था कि "जिस कार्य में यान्त्रिक सामान एवं संगठन की व्यवस्था महत्त्वपूर्ण नहीं होती वहाँ भारतीय श्रमिक ने अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कार्यकुशलता का प्रमाण दिया है"।[1] सर थॉमस हालैण्ड (Sir Thomas Halland) के अनुसार "भारतीय श्रमिक किसी भी उद्योग के

1. Labour Investigation Committee, pp. 381-82.

लिये जो देश की परिस्थितियों के अनुकूल हो, उपयुक्त होते हैं। मैंने जमशेदपुर में ऐसे श्रमिक देखे हैं जो कुछ ही वर्ष पहले संथाल के वनों में बिना किसी शिक्षा के अपना जीवनयापन करते थे। वे ही लोहे की छड़ों व पहियों आदि का निर्माण उसी कुशलता से करते हुए देखे जाते हैं जैसे एक अंग्रेज श्रमिक करता है।" द्वितीय महायुद्ध के समय भारत में आये ग्रेडी शिष्टमण्डल (Grady Mission) के अनुसार "बम्बई के फायर स्टोन के कारखाने में भारतीय श्रमिक डेट्राइट स्थित फायर स्टोन के कारखाने में काम करने वाले श्रमिकों के बराबर काम करते थे तथा टाटा लौह एवं इस्पात के कारखाने में प्रति व्यक्ति उत्पादन-क्षमता पिट्सबर्ग के कारखाने से कम नहीं थी।"[1] अतः यह कहना उचित नहीं है कि यूरोप तथा अमेरिका के श्रमिकों की तुलना में भारतीय श्रमिक बहुत कम कुशल हैं। यदि वह कहीं कम कुशल हैं तो इसके लिये वह अकेले दोषी नहीं है बल्कि अन्य कारण भी हैं जिन पर श्रमिक का कोई नियन्त्रण नहीं है। इस सम्बन्ध में बम्बई के जनरल मोटर्स लिमिटेड के जनरल मैनेजर के ये विचार उल्लेखनीय हैं कि "यदि भारतीय श्रमिक को प्रशिक्षण प्राप्त हो जाये तो व्यक्तिगत रूप से वह उतना ही कार्यकुशल होगा जितना एक साधारण अमेरिकन श्रमिक होता है।" श्री सी० डब्लू० कैसे (C. W. Casse) के शब्दों में "भारतीय श्रमिक उच्चकोटि के मिस्त्री हैं। वे विश्व के किसी भी देश के श्रमिकों से प्रतियोगिता कर सकते हैं।"

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि श्रमिक के द्वारा किये गये उत्पादन के आधार पर भारतीय श्रमिक को भले ही अकुशल कह दिया जाय, लेकिन यदि उसकी कार्य कराने की परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाय तो उसे अकुशल कहना उचित नहीं। उसकी कुशलता केवल उस पर ही निर्भर नहीं है वरन कच्चे माल, काम की दशाएँ, मशीन व उपकरण, कुशल निर्देशन एवं व्यवस्था आदि अन्य घटकों पर भी निर्भर है जिसके लिये उद्योग के प्रबन्धक उत्तरदायी होते हैं। रेगे समिति के अनुसार भी यदि भारतीय श्रमिक के कार्य के अधिक घण्टे, अल्प विश्राम, प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव, आहार का स्तर, कल्याण सम्बन्धी सुविधाएँ, मजदूरी का निम्न स्तर आदि को देखें तो उसकी अकुशलता का कारण यह नहीं कि वह बुद्धिमान कम है या कार्य में रुचि नहीं लेता।

भारतीय श्रमिक की अकुशलता के कारण
(Causes of Inefficiency of Indian Labour)

भारतीय श्रमिक की अकुशलता के लिये प्रमुखतः निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं—

1. **शिक्षा एवं प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव**—देश में शिक्षा सुविधाओं

1. Grady Mission's Report on the Technical Efficiency of Indian Industries.

का अभाव होने से श्रमिक एवं उसका परिवार अशिक्षित रहता है जिससे श्रमिकों का सामान्य ज्ञान का स्तर नीचा रहता है। शिक्षा के अभाव में वे रूढ़िवादी व भाग्यवादी हैं। इसके अतिरिक्त शिल्पिक प्रशिक्षण की सुविधायें भी पर्याप्त नहीं हैं। इससे उनकी क्षमताओं का विकास नही हो पाता। यन्त्रों एवं मशीनों से उत्पादन करने की व्यवस्था में श्रमिक को कुशल होने के लिये पर्याप्त प्रशिक्षण आवश्यक होता है। मार्शल (Marshall) के अनुसार "कोई भी शिशु जो अन्धेरे मकान में पैदा हुआ हो, अशिक्षित माँ द्वारा पालन-पोषण हुआ हो, जो उपयोगी बाहरी प्रभाव के अभाव में युवा हुआ हो, वह कभी भी अच्छा श्रमिक और सम्मानित नागरिक नही बन सकता।" यह कथन सत्य है तथा भारतीय श्रमिक भी उक्त परिस्थितियों से ग्रसित हैं अतः अकुशल है।

2. निर्धनता एवं निम्न जीवन स्तर—भारतीय श्रमिक की आर्थिक स्थिति बहुत ही गिरी हुई है। उनकी मजदूरी का स्तर बहुत नीचा है। महँगाई एव बढ़ते हुए मूल्य स्तर उसकी आय की क्रय-शक्ति को और भी कम कर देते हैं। गरीबी की स्थिति में उचित जीवन स्तर बनाये रखना बड़ा कठिन होता है। वह न स्वच्छ एवं अच्छे मकान की व्यवस्था कर पाता है और न पर्याप्त भोजन, वस्त्र व चिकित्सा की ही। ऐसी स्थिति में कुशलता को बढ़ाने के लिये कुछ व्यवस्था कर पाना उसके लिये बहुत कठिन होता है। आधे पेट, अर्द्ध नग्न, गन्दे मकान व बीमारी आदि की स्थिति का उनकी कार्यकुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

3. जलवायु—भारत के ग्रीष्म जलवायु का भी श्रमिकों की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यहाँ की तेज गर्मी व तिल-मिलाती धूप में कठोर परिश्रम करना होता है। गर्मी का मौसम श्रमिक को आलसी बना देता है।

4. शारीरिक दुर्बलता—अल्प वेतन एवं निम्न स्तर से श्रमिक का स्वास्थ्य भी खराब रहता है एवं मानसिक विकास की सुविधाओं का लाभ न मिलने से मानसिक रूप से भी कठिन मिलता है। अस्वास्थ्यकर वातावरण में निरन्तर रहने एव काम करने में उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। एक सर्वेक्षण के आधार पर बम्बई के एक कारखाने में 25·% श्रमिक जुकाम तथा फेफड़े के रोग से, 26·0·% दस्त व पेचिश, 5·3% गठिया, ·8 % प्रतिशत मलेरिया, 7·8% काम करने में आई चोट, ·8 % छूत के रोग तथा शेष अल्प विविध रोगों से पीड़ित थे। औद्योगिक क्षेत्र में व्याप्त अन्य बुराइयाँ जैसे मद्यपान, जुआ, वेश्यागमन आदि भी उनके स्वास्थ्य पर खराब प्रभाव डालती हैं जिनसे उसकी कुशलता भी नहीं बढ़ पाती।

5. कार्य के अधिक घन्टे—भारत के कारखाना अधिनियम द्वारा श्रमिकों के कार्य के घन्टे सप्ताह में 48 निर्धारित किये गये हैं लेकिन अभी अनेक उद्योगों में श्रमिकों से 48 से अधिक घन्टे काम लिया जाता है। असगठित उद्योगों में तो उनके काम के घन्टे मालिक की इच्छा पर निर्भर करते हैं जिससे कुशलता कम हो जाती है।

6. ऋणग्रस्तता—भारतीय श्रमिक अपनी अल्प आय होने के कारण ऋणग्रस्त रहता है। उसकी ऋणग्रस्तता को समाप्त करने के लिये राज्य द्वारा अनेक प्रयास किये गये हैं लेकिन अर्थशास्त्री डार्लिंग का यह कथन कि "भारतीय श्रमिक ऋण में ही जन्म लेता है, ऋण में ही पलता है तथा ऋण में ही उसकी मृत्यु हो जाती है।" अनेक श्रमिकों के बारे में आज भी सत्य है। ऋणग्रस्तता प्रगति के लिये व कुशलता की दृष्टि से बाधक होती है।

7. कार्य की दोषपूर्ण दशाएँ—श्रमिक जिन स्थानों पर कार्य करते हैं वहाँ कार्य की दशाएँ एवं वातावरण अच्छा नहीं होता। अपर्याप्त स्थान, प्रकाश एवं स्वच्छ वायु का अभाव आदि उसकी कुशलता के लिये उपयुक्त नहीं होते।

8. भर्ती की दोषपूर्ण पद्धति—भारतीय उद्योगों में भर्ती की दोषपूर्ण पद्धति मिलती है। भर्ती जॉबर द्वारा या अन्य मध्यस्थों के माध्यम से की जाती है, कहीं-कहीं पारस्परिक निजी सम्बन्धों को बनाये रखने के लिये परिचित व्यक्तियों के लोगों की भर्ती की जाती है तथा कार्य की आवश्यकताओं (Job Specification) पर ध्यान नहीं दिया जाता। फलस्वरूप उपयुक्त व्यक्ति रोजगार में नहीं आ पाते जिससे कुशलता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

9. दोषपूर्ण नेतृत्व—कर्मचारियों से कार्य लेते समय उन्हें प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान नहीं किया जाता जिससे श्रमिकों में कार्य करने की स्वतः प्रेरणा नहीं आ पाती तथा उनका मनोबल भी गिरा हुआ रहता है या बहुत कठोर नियन्त्रण होने पर कर्मचारियों में भय व आतंक की भावना आ जाती है जिससे कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

10. दोषपूर्ण प्रबन्ध—कार्य का दोषपूर्ण विभाजन, पुरानी मशीनें, मशीन मरम्मत की दोषपूर्ण व्यवस्था, श्रमिकों की परिवेदनाओं का विलम्ब से निराकरण आदि का भी श्रमिकों की कुशलता पर अच्छा प्रभाव वहीं पड़ता।

11. प्रवासी प्रवृत्ति—भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति भी उसकी कुशलता पर बुरा प्रभाव डालती है। बहुत से श्रमिक फसल के समय खेतों में कार्य बढ़ने पर या गाँव में कोई सामाजिक समारोह विवाह, मृत्यु भोज आदि के होने पर गाँव लौट जाते हैं तथा वहाँ से लौटकर किसी अन्य उद्योग में जहाँ भी कार्य मिलता है वहाँ कार्य करने लगते हैं अतः श्रमिकों में स्थायित्व का अभाव भी उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डालता है।

12. प्रभावशाली प्रेरणाओं का अभाव—श्रमिकों को अपनी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिये भारत में प्रभावशाली प्रेरणायें (Incentives) नहीं दी जाती हैं जिनके अभाव में श्रमिक अपनी कुशलता को बढ़ाने के लिये कोई विशेष प्रयास नहीं करता है।

लिये यह आवश्यक है कि उन्हें आधुनिक व विकसित मशीन व यन्त्र दिये जाएँ। अधिक एवं अच्छा उत्पादन श्रेष्ठ मशीनों से ही सम्भव है। आधुनिक मशीनों के अभाव में श्रमिक को उसकी परम्परागत स्थिति से निकाला जा नहीं सकता।

7. **श्रम कल्याण एवं सुरक्षा**--श्रमिकों को आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। बेकारी, बीमारी, बेरोजगारी, औद्योगिक दुर्घटनायें आदि के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध कराई जानी चाहिए। इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ेगी।

8. **श्रम संघों द्वारा प्रयास**--श्रमिक संघों को भी वेतन, मजदूरी एवं भत्ते के प्रश्न पर संघर्ष करने तक ही अपनी क्रियाओं को सीमित नहीं रखना चाहिए इन्हें अपने सदस्यों के सामान्य ज्ञान एवं दृष्टिकोण को अधिक व्यापक एवं तर्कयुक्त बनाने के लिये विद्वानों के भाषण, पारस्परिक गोष्ठियाँ आदि आयोजित करनी चाहिए।

9. **उद्योगपतियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन**—श्रमिक की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिये उद्योगपतियों को अपने परम्परागत दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिए। उन्हें श्रमिकों के साथ श्रेष्ठ मानवीय व्यवहार करना चाहिए तथा श्रम के महत्व को समझते हुए, श्रमिक को उचित सम्मान एवं प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। इससे उन्हें अपनी कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिये प्रेरणा मिलेगी तथा अपने उद्योग के प्रति एक लगाव भी अनुभव होगा।

10. **परिवेदना निवारण व्यवस्था**—औद्योगिक संघर्षों को कम करने के लिये कुशल परिवेदना निवारण पद्धति होनी चाहिए तथा श्रमिकों की उचित शिकायतों को शीघ्र ही दूर करने के प्रयत्न किए जाने चाहिए।

11. **सूचना व्यवस्था**—श्रमिकों की कुशलता एवं उत्पादकता का स्तर क्या है? इसकी सूचना उन्हें दी जानी चाहिए तथा उसमें वृद्धि करने के लिये आवश्यक सुझाव भी उन्हें दिये जायें। कम कुशल श्रमिकों को उनके साथ कार्य कर रहे अधिक कुशलता वाले श्रमिकों की जानकारी भी दी जाय। इससे कम कुशल श्रमिकों को कुशलता बढ़ाने के लिये प्रेरणा मिल सकती है।

12. **विशेष अध्ययन**—उत्पादकता परिषदों द्वारा विभिन्न उद्योगों के श्रमिकों की कुशलता को बढ़ाने के लिए विशिष्ट अध्ययन करने चाहिए तथा उपयोगी एवं व्यावहारिक सुझाव देने चाहिए।

कुशलता बढ़ाने हेतु किए गए प्रयत्न
(Efforts made to increase Efficiency)

श्रमिक की कार्यकुशलता एवं कल्याण को दृष्टि में रखते हुए सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न किए गए हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(1) **श्रम सन्नियम पारित करना**—श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने हेतु सरकार ने अनेक सन्नियम पारित किये हैं, जैसे न्यूनतम मजदूरी भुगतान अधिनियम,

कारखाना अधिनियम, कर्मचारी बीमा योजना अधिनियम, प्रोवीडेन्ट फण्ड अधिनियम, खान अधिनियम, प्रसूति अधिनियम, कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम आदि। इनसे संगठित उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को अनेक सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं जिनका उसकी कुशलता पर प्रभाव पड़ता है।

(2) आवास व्यवस्था—सरकार ने श्रमिकों की आवास व्यवस्था के लिए भी पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न योजनाओं का प्रावधान किया है जिनके अन्तर्गत गन्दी बस्तियों की सफाई व नई बस्तियों के निर्माण का कार्य किया जा रहा है।

(3) शिक्षा—श्रमिकों के बालकों के लिए पाठशालाएँ एवं श्रमिकों की शिक्षा के लिए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम आयोजित किए गए हैं।

(4) तकनीकी प्रशिक्षण—विभिन्न उद्योगों में प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु जिला स्तर पर तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं।

(5) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की स्थापना—12 फरवरी 1958 को राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की स्थापना की गई। यह परिषद् श्रमिक की कुशलता बढ़ाने के लिए भी प्रयास करती है।

(6) उत्पादकता वर्ष मनाना—कुशलता में वृद्धि करने हेतु विशेष जागृति उत्पन्न करने की दृष्टि से उत्पादकता वर्ष भी मनाये गए हैं। वर्ष 1966 उत्पादकता वर्ष के रूप में ही मनाया गया था।

(7) प्रबन्ध विज्ञान के अध्ययन की व्यवस्था—कर्मचारियों का प्रबन्ध किस प्रकार से किया जाए इसके लिए सेवीवर्गीय प्रबन्ध (Personnel Management) के सम्बन्ध उच्च स्तरीय शिक्षा प्रदान करने के लिए विश्वविद्यालयों एवं व्यवसाय प्रशासन शिक्षा संस्थानों में व्यवस्था की गई है। अब प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्धों के महत्त्व पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

औद्योगिक श्रमिकों की कार्यक्षमता का उचित मूल्यांकन आवश्यक

भारत सरकार की मई 1974 की प्रेस विज्ञप्ति में कहा गया है कि—

औद्योगिक श्रमिकों की कार्यक्षमता और उत्पादकता पर विभिन्न वातावरणीय और शारीरिक दबावों का प्रभाव पड़ता है। इनके उचित मूल्यांकन से कार्यस्थिति में अधिकतम सुधार लाने में मदद मिलेगी। इस प्रकार के मूल्यांकन से कार्य और आराम की एक उचित सूची तैयार करने में मदद मिलेगी ताकि काम के अन्त में कम से कम थकान हो।

भारतीय श्रमिक की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का अध्ययन करने तथा मशीनरी के डिजाइन, रूप, स्थान और कार्यढंग आदि में सुधार के लिए सुझाव देने के लिए केन्द्रीय श्रम संस्थान, बम्बई में एक प्रयोगशाला स्थापित की गई है ताकि व्यक्ति की क्षमताओं और कार्यस्थिति में तालमेल स्थापित किया जा सके।

इस प्रयोगशाला का पहला चरण पूरा हो चुका है। कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में कार्य शुरू किया गया है और चल रहा है। ये क्षेत्र शोर और गर्मी नियन्त्रण, वायु संचार और वातावरण नियन्त्रण और थकान अध्ययन आदि से सम्ब

1978–79 के दौरान तापमान, नमी, तापीयकिरण और वायु आवागमन के लिए एक साइकरोमीट्रिक कक्ष तैयार किया जाएगा।

शोर को कम करने के लिए स्वदेशी साज-सामान से कुछ शोर रोधक बनाए गए हैं। अगर ये सफल रहे तो शोर रोकने की दिशा में काफी हद तक प्रगति हो सकेगी। इसके अलावा इस प्रयोगशाला द्वारा विकसित कुछ कान यन्त्रों का परीक्षण किया जा रहा है। यदि यह स्वीकार्य पाया गया तो इससे ऐसे स्थानों पर कानों की रक्षा करने में मदद मिलेगी जहाँ शोर कम नहीं किया जा सकता है।

औद्योगिक समाज की समस्यायें एवं प्रदूषण
(Problems of Industrial Society & Pollution)

औद्योगीकरण ने राष्ट्रों के उत्थान का मार्ग दिखाया है तथा अर्थव्यवस्था के सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इङ्गलैण्ड, अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, जापान आदि देश अपनी औद्योगिक प्रगति के कारण ही आजकल विकसित देश माने जाते हैं। औद्योगीकरण ने राष्ट्रों की सामाजिक संरचना का रूप ही बदल दिया है। उसमें औद्योगिक समाज एक नये अंग के रूप में विकसित हो गया है जो सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करता है। यह समाज देश के साधनों का विदोहन करने, उपयोगिता का सृजन करने, उत्पादन एवं वितरण करने आदि की क्रियाओं में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है लेकिन इसके साथ ही इस समाज ने कुछ विशिष्ट समस्याओं को भी जन्म दिया है। इन समस्याओं का प्रभाव भी सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है तथा औद्योगिक सम्बन्धों व सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। इन समस्याओं के निराकरण एवं सामाजिक शान्ति के लिए समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञों द्वारा विशेष रूप से अध्ययन करना आवश्यक हो गया है। ये समस्याएँ प्रमुखतः निम्नलिखित हैं—

(1) **वर्ग भेद की समस्या**—औद्योगिक समाज में दो प्रमुख वर्ग मिलते हैं। पहला पूँजीपति, उद्योगपतियों व प्रबन्धकों का वर्ग जो आर्थिक दृष्टि से तथा शैक्षिक दृष्टि से विकसित होता है। यह वर्ग समाज में उपलब्ध सुविधाओं का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना अपना अधिकार समझता है तथा अपनी सुख-सुविधाओं के लिए श्रमिक वर्ग का शोषण करना अपने साधनों के आधार पर अपना अधिकार मानता है। दूसरा वर्ग श्रमिकों का है जो आर्थिक दृष्टि से एवं शिक्षा की दृष्टि से पहले वर्ग की तुलना में बहुत पीछे है। यह वर्ग अपनी असमर्थताओं तथा श्रम की नाशवान प्रकृति होने के कारण पहले वर्ग द्वारा शोषित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक सम्पत्ति के वितरण के आधार पर बने दो वर्गों में सम्पन्न लोगों द्वारा निर्धन लोगों का शोषण करना एक विकट समस्या है जो समाज में ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा को जन्म देती है।

(2) **औद्योगिक संघर्ष की समस्या**—औद्योगिक व्यवस्था में औद्योगिक संघर्ष पाये जाते हैं। इन संघर्षों के अनेक कारण होते हैं जैसे वेतन एवं महंगाई भत्ता, श्रमिकों को दिया जाने वाला बोनस, काम के घण्टे, छंटनी, अवकाश एवं छुट्टियाँ

आदि। ये संघर्ष, हड़ताल, तालाबन्दी, उद्योगपतियों का घेराव, मन्द गति से कार्य करना, तोड़-फोड़, आगजनी आदि के रूप में देखे जाते हैं तथा समाज की सामान्य व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डालते हैं। इनसे एक ओर तो देश के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था भी भंग होती है। हड़ताल एवं तालाबन्दी के समय अनेक बार हिंसात्मक घटनाएँ होती हैं जिनमें जन एवं धन दोनों की बड़ी मात्रा में हानि होती है। हड़ताल एवं तोड़-फोड़ आजकल श्रमिकों द्वारा अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए सामान्य हथियार के रूप में अपनाये जाते हैं। इन पर नियन्त्रण रखना समाज की एक आवश्यक समस्या बन गया है।

(3) **बेकारी की समस्या**—श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लिए श्रमिकों से किसी कार्य की केवल कोई एक उपक्रिया ही कराई जाती है जिससे उस कार्य को करते रहने से श्रमिक की क्षमता उस क्रिया तक ही सीमित हो जाती है। उस विशिष्ट क्रिया का कार्य कम होने पर श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यंत्रीकरण भी श्रमिकों को बेकार करने में योगदान देता है। तीसरे आज की व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने हेतु अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति श्रमिक अपने साधनों से नहीं कर सकता विशेषकर भारत जैसे देश की अर्थ-व्यवस्था में। अतः उद्योगपतियों द्वारा कार्य न देने पर श्रमिकों में बेकारी की भयंकर समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(4) **सामाजिक सुरक्षा की समस्या**—औद्योगिक समाज में श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की समस्या भी विकट रूप से उत्पन्न हुई है। औद्योगीकरण ने संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन किया है जिससे श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना समाज का दायित्व हो गया है। बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था, शारीरिक असमर्थतता आदि ऐसे संकट हैं जो श्रमिकों के समक्ष कभी भी आकर खड़े हो जाते हैं। इन संकटों से अपनी रक्षा करना अल्प आय के कारण श्रमिकों के लिए सम्भव नहीं होता। बिना किसी दोष के काम न मिलने पर जीवनयापन के लिए न्यूनतम साधन, बीमारी के समय चिकित्सा सुविधा तथा दुर्घटनाग्रस्त होने पर आश्रितों को सहायता तथा वृद्धावस्था में जीवनयापन हेतु आवश्यक साधनों की व्यवस्था करना आवश्यक होता है। इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना तथा उसकी समुचित व्यवस्था रखना औद्योगिक समाज की एक आवश्यक समस्या है।

(5) **नौकरशाही की समस्या**—औद्योगिक व्यवस्था ने नौकरशाही को जन्म दिया है। मैक्सवेबर के अनुसार, "नौकरशाही विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता के अभाव के लक्षणयुक्त प्रशासकीय व्यवस्था है।"[1] प्रो० लास्की के शब्दों में "यह

1. "Bureaucracy is a system of administration characterised by expertness, impartiality and absence of humanity."
—*Max Weber* : Essays in Sociology.

1978-79 के दौरान तापमान, नमी, तापीयकिरण और वायु आवागमन के लिए एक साइक्रोमीट्रिक कक्ष तैयार किया जाएगा।

शोर को कम करने के लिए स्वदेशी साज-सामान से कुछ शोर रोधक बनाए गए हैं। अगर ये सफल रहे तो शोर रोकने की दिशा में काफी हद तक प्रगति हो सकेगी। इसके अलावा इस प्रयोगशाला द्वारा विकसित कुछ कान यन्त्रों का परीक्षण किया जा रहा है। यदि यह स्वीकार्य पाया गया तो इससे ऐसे स्थानों पर कानों की रक्षा करने में मदद मिलेगी जहाँ शोर कम नहीं किया जा सकता है।

औद्योगिक समाज की समस्यायें एवं प्रदूषण
(Problems of Industrial Society & Pollution)

औद्योगीकरण ने राष्ट्रों के उत्थान का मार्ग दिखाया है तथा अर्थव्यवस्था के सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इङ्गलैण्ड, अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, जापान आदि देश अपनी औद्योगिक प्रगति के कारण ही आजकल विकसित देश माने जाते हैं। औद्योगीकरण ने राष्ट्रों की सामाजिक संरचना का रूप ही बदल दिया है। उसमें औद्योगिक समाज एक नये अंग के रूप में विकसित हो गया है जो सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करता है। यह समाज देश के साधनों का विदोहन करने, उपयोगिता का सृजन करने, उत्पादन एवं वितरण करने आदि की क्रियाओं में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है लेकिन इसके साथ ही इस समाज ने कुछ विशिष्ट समस्याओं को भी जन्म दिया है। इन समस्याओं का प्रभाव भी सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है तथा औद्योगिक सम्बन्धों व सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। इन समस्याओं के निराकरण एवं सामाजिक शान्ति के लिए समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञों द्वारा विशेष रूप से अध्ययन करना आवश्यक हो गया है। ये समस्याएँ प्रमुखतः निम्नलिखित हैं—

(1) **वर्ग भेद की समस्या**—औद्योगिक समाज में दो प्रमुख वर्ग मिलते हैं। पहला पूँजीपति, उद्योगपतियों व प्रबन्धकों का वर्ग जो आर्थिक दृष्टि से तथा शैक्षिक दृष्टि से विकसित होता है। यह वर्ग समाज में उपलब्ध सुविधाओं का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना अपना अधिकार समझता है तथा अपनी सुख-सुविधाओं के लिए श्रमिक वर्ग का शोषण करना अपने साधनों के आधार पर अपना अधिकार मानता है। दूसरा वर्ग श्रमिकों का है जो आर्थिक दृष्टि से एवं शिक्षा की दृष्टि से पहले वर्ग की तुलना में बहुत पीछे है। यह वर्ग अपनी असमर्थताओं तथा श्रम की नाशवान प्रकृति होने के कारण पहले वर्ग द्वारा शोषित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक सम्पत्ति के वितरण के आधार पर बने दो वर्गों में सम्पन्न लोगों द्वारा निर्धन लोगों का शोषण करना एक विकट समस्या है जो समाज में ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा को जन्म देती है।

(2) **औद्योगिक संघर्ष की समस्या**—औद्योगिक व्यवस्था में औद्योगिक संघर्ष पाये जाते हैं। इन संघर्षों के अनेक कारण होते हैं जैसे वेतन एवं महंगाई भत्ता, श्रमिकों को दिया जाने वाला बोनस, काम के घण्टे, छंटनी, अवकाश एवं छुट्टियाँ

आदि। ये संघर्ष, हड़ताल, तालाबन्दी, उद्योगपतियों का घेराव, मन्द गति से कार्य करना, तोड़-फोड़, आगजनी आदि के रूप में देखे जाते हैं तथा समाज की सामान्य व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डालते हैं। इनसे एक ओर तो देश के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था भी भंग होती है। हड़ताल एवं तालाबन्दी के समय अनेक बार हिंसात्मक घटनाएँ होती हैं जिनमें जन एवं धन दोनों की बड़ी मात्रा में हानि होती है। हड़ताल एवं तोड़-फोड़ आजकल श्रमिकों द्वारा अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए सामान्य हथियार के रूप में अपनाये जाते हैं। इन पर नियन्त्रण रखना समाज की एक आवश्यक समस्या बन गया है।

(3) बेकारी की समस्या—श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लिए श्रमिकों से किसी कार्य की केवल कोई एक उपक्रिया ही कराई जाती है जिससे उस कार्य को करते रहने से श्रमिक की क्षमता उस क्रिया तक ही सीमित हो जाती है। उस विशिष्ट क्रिया का कार्य कम होने पर श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यंत्रीकरण भी श्रमिकों को बेकार करने में योगदान देता है। तीसरे आज की व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने हेतु अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति श्रमिक अपने साधनों से नहीं कर सकता विशेषकर भारत जैसे देश की अर्थ-व्यवस्था में। अतः उद्योगपतियों द्वारा कार्य न देने पर श्रमिकों में बेकारी की भयंकर समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(4) सामाजिक सुरक्षा की समस्या—औद्योगिक समाज में श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की समस्या भी विकट रूप से उत्पन्न हुई है। औद्योगीकरण ने संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन किया है जिसमें श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना समाज का दायित्व हो गया है। बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था, शारीरिक असमर्थतता आदि ऐसे संकट हैं जो श्रमिकों के समक्ष कभी भी आकर खड़े हो जाते हैं। इन संकटों से अपनी रक्षा करना अल्प आय के कारण श्रमिकों के लिए सम्भव नहीं होता। बिना किसी दोष के काम न मिलने पर जीवनयापन के लिए न्यूनतम साधन, बीमारी के समय चिकित्सा सुविधा तथा दुर्घटनाग्रस्त होने पर आश्रितों को सहायता तथा वृद्धावस्था में जीवनयापन हेतु आवश्यक साधनों की व्यवस्था करना आवश्यक होता है। इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना तथा उसकी समुचित व्यवस्था रखना औद्योगिक समाज की एक आवश्यक समस्या है।

(5) नौकरशाही की समस्या—औद्योगिक व्यवस्था ने नौकरशाही को जन्म दिया है। मैक्सवेबर के अनुसार, "नौकरशाही विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता के अभाव के लक्षणयुक्त प्रशासकीय व्यवस्था है।"[1] प्रो० लास्की के शब्दों में "वह

1. "Bureaucracy is a system of administration characterised expertness, impartiality and absence of humanity.",
—*Max Weber* : Essays in Sociolo

एक व्यवस्था, जिसका कि नियन्त्रण अधिकारियों के पूरे हाथों में इस प्रकार से है कि उनकी शक्ति सामान्य नागरिक की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देती है।"[1] श्रमिकों के समूह से कार्य कराने के लिए इस व्यवस्था का जन्म हुआ लेकिन इसने कई दोषों को जन्म दिया है जैसे लालफीताशाही, सत्तावादी मनोवृत्ति, श्रेष्ठता की भावना की ग्रन्थि (Superiority complex), अवैयक्तिक सम्बन्धों पर जोर (Emphasis on impersonal relations), रूढ़िवादिता आदि। इसके दोषों को दूर करने के लिए अधिकारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन करना आवश्यक है।

(6) **श्रम सन्नियमों की समस्या**—औद्योगिक समाज में श्रमिक वर्ग, उद्योगपतियों एवं प्रबन्धकों के वर्ग की अपेक्षा आर्थिक साधनों की दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है तथा उद्योगपतियों द्वारा उसे कम से कम देकर उससे अधिक से अधिक कार्य लेने का प्रयास किया जाता है। उसका श्रम नाशवान प्रकृति का है अतः उसकी क्रयशक्ति कमजोर होती है। उसकी यह दुर्बलता उसका शोषण होने में सहायता देती है। अतः उसके हितों की रक्षा करने के लिए विभिन्न श्रम सन्नियमों का निर्माण करना आवश्यक होता है। आज के औद्योगिक समाज में विभिन्न प्रकार के श्रम सन्नियमों का निर्माण एवं उनका सही रूप में प्रशासन करना एक जटिल समस्या बन गया है। श्रम सन्नियम बनने पर समाज का शक्तिशाली वर्ग (उद्योगपति) उनके उल्लंघन की चेष्टा करता है अतः इन सन्नियमों का लाभ श्रमिक को वास्तविक रूप में मिले भी यह एक भारी समस्या है।

(7) **आवास की समस्या**—औद्योगिक क्षेत्रों में जिस तेजी से श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई है उस अनुपात में श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था का विकास नहीं हुआ है। इसके फलस्वरूप औद्योगिक नगरों में गन्दी एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण से पूर्ण औद्योगिक बस्तियों का विकास हुआ है। इन बस्तियों में सामान्य सुविधाओं का भी नितान्त अभाव पाया जाता है। प्रकाश, पेय जल, सफाई आदि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं मिलती। एक ही कमरे में पूरे परिवार का रहना, एक ही कमरे में अनेक श्रमिकों का रहना तथा मकान के अभाव में सड़क पर रात्रि गुजारना एक सामान्य बात हो गई है। इस समस्या के निराकरण के लिए सरकार एवं उद्योगपतियों द्वारा प्रयत्न भी किये गए हैं लेकिन यह समस्या आज भी विकराल रूप से भारत में विद्यमान है।

(8) **निर्धनता एवं ऋण-ग्रस्तता**—भारतीय औद्योगिक समाज में श्रमिकों की निर्धनता एवं ऋण-ग्रस्तता भी एक भारी समस्या है। श्रमिक की आय का स्तर

1. "A system, the control of which is so completely in the hands of officials that their power geoperdises the liberties of ordinary citizen."
—*J. H. Laski* : Encyclopaedia of Social Science.

बहुत नीचा है तथा उसे बाध्य होकर अपनी आवश्यक आवश्यकताओं तथा परम्परागत सामाजिक आवश्यकताओं जैसे विवाह व मृत्यु के समय दिये जाने वाले भोजों के लिए ऋण लेने को बाध्य होता है। निर्धनता एवं ऋणग्रस्तता का ऐसा चक्र चलता है कि श्रमिक एक बार फंसने पर उससे निकल ही नहीं पाता।

(9) नैतिक पतन की समस्या—अभाव व गरीबी के वातावरण में श्रमिक का नैतिक पतन भी होता है। वह मद्यपान, जुआ, परस्त्री गमन व चोरी व अन्य अपराध भी करने लगता है।

(10) सेवीवर्गीय प्रबन्ध की समस्या—औद्योगिक समाज ने सेवीवर्गीय प्रबन्ध (Personnel Management) की समस्या भी उत्पन्न की है। विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों का निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किस प्रकार से नियोजन, संगठन, नियन्त्रण एवं निर्देशन किया जाय, यह एक विशिष्ट योग्यता एवं कुशलता का कार्य हो गया है।

(11) प्रदूषण—औद्योगिक समाज ने प्रदूषण की समस्या भी पैदा की है। उद्योगों की चिमनियों से निकलने वाले धुंए, उत्पादन की प्रक्रिया में निकला व्यर्थ कचरा व निरन्तर चलने वाली मशीनों की आवाज सारे वातावरण को दूषित करती है तथा इसने सम्पूर्ण समाज के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया है।

प्रदूषण
(Pollution)

मानवीय क्रियाओं से प्राकृतिक वातावरण के दूषित होने को प्रदूषण कहते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक आर्थिक क्रियाएँ करता है। इन क्रियाओं से उत्पादन एवं आर्थिक लाभ तो होता है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इनका प्राकृतिक वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वातावरण दूषित होता है तथा मानव जाति के लिए खतरा उत्पन्न करता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केरनक्रास के अनुसार अल्प विकसित देश विश्व की गन्दी बस्तियाँ हैं, ठीक ही है लेकिन यदि यह कहा जाय कि अति औद्योगिक देश भी अब गन्दी बस्तियाँ बन गये हैं तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। औद्योगिक देशों की गन्दी बस्तियाँ विश्व स्वास्थ्य के लिए खतरा बनती जा रही हैं। औद्योगिक क्रियाओं का सम्पूर्ण वातावरण पर विभिन्न प्रकार से विपरीत प्रभाव पड़ता है जिसे समग्र रूप में प्रदूषण कहा जाता है।

प्रदूषण के प्रकार (Kinds of Pollution)

प्रदूषण औद्योगीकरण से उत्पन्न एक समस्या है। यह तीन प्रकार का होता है।

(i) वायुमण्डल प्रदूषण (Atmospheric Pollution)—पिछले तीन दशकों में भारी उद्योगों का बड़ी तीव्रता से विकास हुआ है। बड़ी संख्या में कारखाने लगाये गए हैं। इन कारखानों में लगी भट्टियाँ, चिमनियों एवं उत्पादन प्रक्रिया में

निकलने वाली गैसों से वायुमण्डल दूषित हो रहा है। यातायात के साधनों वाहनों के चलाने हेतु पेट्रोल व डीजल प्रयोग हो रहा है तथा प्रत्येक वाहन अपने पीछे दूषित धुआं छोड़ा जाता है। औद्योगिक नगरों में कचरे एवं कचरे के ढेर सड़ते रहते हैं जो अपनी दुर्गन्ध से वायुमण्डल को प्रभावित करते हैं। इन विभिन्न क्रियाओं की निरन्तरता वायुमण्डल को दूषित कर रही है। वायुमण्डल का निरन्तर दूषित होना ही वायुमण्डल प्रदूषण कहलाता है।

(ii) जल प्रदूषण (Water Pollution)—नदी एवं सागर के जल के दूषित होने को जल प्रदूषण कहते हैं। कारखानों से निकलने वाला गन्दा पानी एवं कचरा जब नदी व समुद्र के जल में प्रवाहित कर दिया जाता है तो वह नदी व समुद्र के जल को विषाक्त बना देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के झील प्रदेश के आस-पास के कारखानों से निकला विषाक्त तरल पदार्थ झील में डाल देने से अनेक बार झील की मछलियाँ मरी हैं। यही स्थिति जापान के समुद्री क्षेत्र की है। भारत में बम्बई व कलकत्ता के कारखानों द्वारा निष्कासित व्यर्थ पदार्थों का विसर्जन समुद्री जल एवं हुगली नदी के जल को विशाक्त बना रहा है जिससे जल के जीवों का धीरे धीरे विनाश होता जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार "भारत का सबसे अधिक प्रदूषित जल बम्बई के आसपास की समुद्री खाड़ियों में है। इनकी मछलियों में विषैले तत्त्व की मात्रा क्रमशः बढ़ रही है जिन्हें खाने से मस्तिष्क सम्बन्धी एवं स्नायु मण्डल सम्बन्धी व्याधियाँ उत्पन्न होने का खतरा बढ़ गया है।"[1] सामान्यतः सभी औद्योगिक क्षेत्रों की यह एक सामान्य क्रिया हो गई है जब कि गन्दगी के प्रत्यक्ष निवारण के लिये जल को दूषित किया जाता है।

(iii) आवाज प्रदूषण (Sound Pollution)—प्राकृतिक शान्ति को भंग करने को आवाज प्रदूषण कहा जा सकता हैं। मशीन एवं यन्त्रों की घड़घड़ाहट, मिलों के गूंजते हुए सायरन, रेलों, बस व ट्रकों तथा वायुयानों का आकाश भेदी तेज स्वर वातावरण की शान्ति को भंग कर रहा है। शोर एवं तेज आवाज की निरन्तरता का प्रभाव मनुष्यों की श्रवण शक्ति पर पड़ता है तथा औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य करने वाले बहुत से व्यक्ति अपनी सामान्य श्रवण शक्ति को खो रहे हैं।

1. "The most heavily polluted waters in India are in the Sion and Basis are creeks of Bombay with an area of 5 sq miles, where there are two oil refineries, one large fertilizer plant, two petrolium derivative plants, two chemical plants, and a Thermal power station, all of which dump their 'waste' in to these creeks. Fish in Bombay already contain dangerous levels of mercury which affects the brain and the central nervous system and also causes food poisoning."

—*Prof. B.L. Ajmera*

प्रदूषण के कारण (Causes of Pollution)

विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों के आधार पर पर्यावरण प्रदूषण (Environmental Pollution) के निम्नलिखित प्रमुख कारण उल्लेखनीय हैं—

1. मिलों से निकलने वाला धुआँ,
2. उत्पादन प्रक्रिया से निष्कासित गैसें,
3. रेल, बस व ट्रकें तथा वायुयान से निकलने वाला धुआँ,
4. कारखानों से निकलने वाला व्यर्थ कचरा तथा गन्दगी,
5. हानिकारक एवं विशाक्त रासायनिक पदार्थों को जल में प्रवाहित करना,
6. औद्योगिक उपयोग के लिए किये जाने वाले विस्फोट,
7. औद्योगिक नगरों में होने वाला अत्यधिक शोरगुल आदि।

प्रदूषण का प्रभाव (Effect of Pollution)

प्रदूषण का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। किसी एक औद्योगिक देश में औद्योगिक क्रियाओं से होने वाला प्रदूषण केवल उसी देश के नागरिकों को प्रभावित नहीं करता बल्कि विश्व के सभी देशों के नागरिक प्रभावित होते हैं। इसके प्रभाव को एकाएक अनुभव नहीं किया जा सकता लेकिन शनैः शनैः चल रहे प्रदूषण के बड़े घातक प्रभाव समस्त जीवों पर पड़ते हैं। इसके प्रभावों को सूक्ष्म में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. मानव जीवन पर प्रभाव—विषाक्त वातावरण से मानवीय जीवन पर घातक प्रभाव पड़ता है। इसके कारण मनुष्य अनेक रोगों से ग्रसित हो जाता है तथा उसकी आयु कम होती है। विषाक्त जल में पली मछलियों के खाने से भी अनेक बार व्यक्ति भयंकर रोग का शिकार हो जाता है।

2. अन्य जीवों पर प्रभाव—विषाक्त रासायनिक पदार्थों व व्यर्थ कचरे को नदी व समुद्र के जल में प्रवाहित कर देने से जल भी विषाक्त हो जाता है जिसमें जल के जीव या तो मर जाते हैं या स्वयं विषाक्त हो जाते हैं। वायुमण्डल के दूषित होने से बहुत से पक्षी भी मर जाते हैं।

3. प्राचीन भवनों पर प्रभाव—यह भी अनुमान है कि प्रदूषण प्राचीन कलात्मक भवनों के सौन्दर्य के लिए भी खतरा है। मथुरा में बन रहे खनिज तेल शोधक कारखाने से उत्पन्न खतरों में यमुना के जल का दूषित होना, भरतपुर में स्थित घना पक्षी विहार में पक्षियों का बसेरा समाप्त होना तथा ऐतिहासिक भवन जिसमें ताजमहल का भवन भी सम्मिलित है अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को दूषित वातावरण के प्रभाव से स्थायी न रख सकेगा, आदि सम्मिलित हैं।

इस प्रकार प्रदूषण के अनेक घातक प्रभाव होते हैं जिन्हें रोकने के लिये प्रभावशाली उपायों की आवश्यकता है।

प्रदूषण को रोकने के उपाय (Measures to check Pollution)

मानवीय आवश्यकताओं को देखते हुए औद्योगीकरण को तो नहीं रोका जा सकता लेकिन इससे उत्पन्न प्रदूषण को रोकने के प्रभावशाली उपाय अवश्य किये जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय नीति बनाई जाय—प्रदूषण की समस्या किसी एक राष्ट्र की समस्या नहीं है बल्कि समस्त विश्व की समस्या है। दूषित वातावरण विश्व के सभी नागरिकों को प्रभावित करता है। अतः प्रदूषण को रोकने के लिए तथा इसके प्रभावों को निष्क्रिय करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नीति बनाई जानी चाहिए तथा सभी देशों को इस नीति का पालन करना चाहिए।

2. शोध एवं अनुसंधान—प्रदूषण के कारणों, प्रभावों व उन्हें रोकने के उपायों पर उच्च स्तरीय शोध एवं अनुसंधान के कार्य किये जाने चाहिए। प्रत्येक औद्योगिक देश में राष्ट्रीय स्तर पर इसकी व्यवस्था की जानी चाहिए तथा इस कार्य के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त विशेषज्ञ नियोजित किये जाने चाहिए।

3. उद्योगपतियों द्वारा ध्यान देना—उद्योगपतियों को इस समस्या की गम्भीरता समझनी चाहिए तथा जहाँ तक सम्भव हो प्रदूषण को रोकने के उपाय उद्योग की योजना बनाते समय ही निश्चित किये जाने चाहिए। उन्हें अपने उद्योग के बजट में प्रदूषण के निवारण हेतु एक राशि नियमित रूप से आयोजित करनी चाहिये।

4. घातक प्रयोगों को बन्द किया जाय—ऐसे वैज्ञानिक प्रयोग बन्द किये जाने चाहिए जिनका वातावरण व जल पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। परमाणु शक्ति के प्रयोग व विस्फोटों से बड़ी मात्रा में वातावरण पर घातक प्रभाव पड़ता है। अतः ऐसे प्रयोग करने के पूर्व उसके कुप्रभावों से बचने की पहले व्यवस्था हो जाने पर ही किये जाने चाहिए।

5. वृक्षों का लगाना—औद्योगिक क्षेत्र, आवासीय क्षेत्र से दूर बनाये जाने चाहिए तथा औद्योगिक क्षेत्र के निकट बड़ी मात्रा में वृक्ष लगाये जाने चाहिये। इससे वातावरण पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

6. गोष्ठियों का आयोजन—प्रदूषण पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैज्ञानिकों की गोष्ठियों का आयोजन होना चाहिए।

7

औद्योगिक संगठन का औपचारिक तथा अनौपचारिक पहलू

(Formal and Informal Aspects of Industrial Organisation)

औद्योगिक उपक्रम के सफल संचालन के लिये संगठन का होना आवश्यक होता है। बिना संगठन के उद्योग में विनियोजित पूँजी तथा उत्पादन के अन्य साधनों का प्रयोग नही किया जा सकता। संगठन के अन्तर्गत व्यक्तियो का समूह वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये दिशा पाता है तथा व्यक्तियों की क्रियाओं पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जाता है। उद्योगो में ये संगठन दो प्रकार के होते हैं (i) औपचारिक संगठन तथा (ii) अनौपचारिक संगठन। औपचारिक संगठन प्रबन्धकों द्वारा निर्मित किया जाता है जबकि अनौपचारिक संगठन कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर स्वय ही बन जाता है।

औपचारिक संगठन
(Formal Organisation)

उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार, उसके उद्देश्यो एवं लक्ष्यों की पूर्ति हेतु प्रबन्धकों द्वारा व्यक्तियों के समूह की रचना करके उसमें अधिकार एवं दायित्व का विभाजन करना ही औपचारिक संगठन कहलाता है। औपचारिक संगठन के अर्थ को स्पष्टतः समझने के लिए इसके दोनों शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। औपचारिक से आशय उन सामान्य रीति एवं नियमों से है जिनका कि किसी कार्य के सम्पादन में पालन करना आवश्यक होता है। समाज में ऐसी अनेक बातें पाई जाती हैं जिनका कि किसी कार्य को करने के लिए पालन करना होता है। समाज में जन्म, विवाह व त्यौहारों आदि के समारोहों के आयोजन में अनेक रीतियों का पालन करना एक सामाजिक औपचारिकता होती है। इसी प्रकार एक उद्योग के सुसंचालन के लिए प्रत्येक उपक्रम के प्रबन्धकों द्वारा निश्चित नीति एवं नियम बनाये

जाते हैं जिनको कि किसी कार्य विशेष को पूरा करने के लिए अपनाया जाता है। व्यावसायिक उपक्रम के कार्यों का अध्ययन करने के बाद कार्यों को निश्चित करना तथा उस कार्य को करने वाले व्यक्ति की योग्यता, अनुभव, अधिकार व उत्तरदायित्व आदि निर्धारित किये जाते हैं। किसी कार्य को करने वाले कर्मचारियों व अधिकारियों के पद नामांकित किये जाते हैं। ये कार्य उपक्रम की एक पूर्व-निश्चित नीति के अनुसार ही करना होता है अतः औपचारिक होता है। संगठन से आशय कार्य एवं कर्मचारी समुदाय के मधुर सम्बन्ध से है। जोन एम० पिफनर (John M. Piffner) के अनुसार, "संगठन मुख्यतः मानव का मानव से, कृत्य का कृत्य से तथा विभाग का विभाग से सम्बन्ध है।" उर्विक (Urwick) के अनुसार, "किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए किन-किन क्रियाओं को किया जाय इसका निर्धारण करना एवं व्यक्तियों के बीच उन क्रियाओं के वितरण की व्यवस्था करना ही संगठन है।" विलियम आर० स्प्रीगल के अनुसार, "व्यापक दृष्टि से संगठन उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा किसी उद्योग के मानव, मशीन तथा माल को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक सिद्धान्त प्रयुक्त किये जाते हैं।" हैने के अनुसार, "किसी सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण संयोजन ही संगठन कहलाता है।" इन विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि औपचारिक संगठन प्रबन्धकों द्वारा निर्मित व्यक्तियों के समूह की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा कि निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। ई. एफ. एल. ब्रेच के अनुसार, "संगठन प्रबन्ध की संरचना है, क्योंकि वह अधिक सार्थक कार्य सम्पादन हेतु उत्तरदायित्व को उचित भागों में विभक्त करता है।" निष्कर्ष के रूप में चेस्टर बरनार्ड (Chester Barnard) द्वारा दी गई परिभाषा दी जा सकती है। उनके शब्दों में "जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं को किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जानबूझ कर समन्वित किया जाता है तो ऐसे संगठन को औपचारिक संगठन कहते हैं।"

औपचारिक संगठन के लक्षण

(Characteristics of Formal Organisation)

एक औपचारिक संगठन के प्रमुखतः निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

1. जानबूझ कर बनाना—एक औपचारिक संगठन को जान बूझ कर विशेष रूप से बनाया जाता है जिससे कि उपक्रम के उद्देश्यों को सरलता से प्राप्त किया जा सके। इसको बनाते समय संगठन निर्माण के विशिष्ट सिद्धान्तों का भी पालन किया जाता है जिससे कि यह उपक्रम की वर्तमान एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

2. अधिकारों का प्रत्यायोजन—यह अधिकारों के प्रत्यायोजन के आधार पर बनाया जाता है। किसी कार्य को करने वाले व्यक्ति के पद को नामांकित किया

जाता है तथा उसे उस कार्य को करने के लिए समुचित अधिकार प्रत्यायोजित किए जाते हैं।

3. अव्यक्तिगत होना—संगठन की संरचना किसी व्यक्ति विशेष की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर नहीं की जाती बल्कि उपक्रम के कार्य एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की जाती है तथा उसके बाद उनके लिये वांछित योग्यता एवं कुशलता के व्यक्ति नियुक्त किये जाते है।

4. संगठन चार्ट बनाना—संगठन के स्वरूप को स्पष्ट एवं सुनिश्चित करने के लिए संगठन चार्ट बनाये जाते हैं। ये चार्ट एक पद का दूसरे पद से सम्बन्ध बताते हैं। किस स्थान पर कार्य करने वाला अधिकारी वरिष्ठ है तथा किसके अधीनस्थ है यह भी चार्ट से स्पष्ट हो जाता है। इससे संगठन में प्रत्येक पद की स्थिति ज्ञात हो जाती है।

5. अधिकार एवं कर्त्तव्यों की व्याख्या—किसी कार्य विशेष को करने वाले व्यक्ति का क्या पद होगा तथा उसके अधिकार एवं कर्तव्य क्या होंगे ? इसकी स्पष्ट व्याख्या करके सुनिश्चित कर दिया जाता है। इससे संगठन का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सीमाओं को भली प्रकार से समझ जाता है।

6. श्रम विभाजन होना—औपचारिक संगठन में कार्यों के सरल सम्पादन की दृष्टि से उसे विभिन्न उप क्रियाओं में विभाजित कर दिया जाता है। इससे कार्य सरलता से किया जा सकता है। व्यक्ति को किसी एक कार्य की केवल कोई एक उपक्रिया ही करनी पड़ती है।

7. विशिष्टीकरण—कार्यों का विभाजन करते समय विशिष्टीकरण का ध्यान रखा जाता है। व्यक्ति को वही कार्य सौंपा जाता है जिसे करने की उसमें विशिष्ट योग्यता है। इससे कार्यकुशलता एवं उत्पादकता दोनों में ही वृद्धि होती है।

8. नेतृत्व—संगठन का एक सर्वोच्च अधिकारी होता है जो पूरे संगठन पर नियन्त्रण रखता है। अधीनस्थ अधिकारियों एवं कर्मचारियों को निर्देश एवं दिशा देता है।

औपचारिक संगठन के उद्देश्य
(Objectives of Formal Organisation)

एक औपचारिक संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं—

1. कार्य विभाजन—उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का निर्माण करके उसमें विभिन्न कार्यों एवं उनकी उपक्रियाओं को विभाजित करके किसी पद विशेष पर कार्य करने वाले व्यक्ति के अधिकार एवं कर्तव्य सौंपना इसका प्रमुख उद्देश्य होता है।

2. मितव्ययिता प्राप्त करना—संगठन का उद्देश्य न्यूनतम व्यय पर

अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता है। संगठन के द्वारा समय व साधनों के अपव्यय को रोक कर समस्त प्रकार की मितव्ययितायें प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

3. श्रम तथा पूँजी में मधुर सम्बन्ध स्थापित करना—संगठन का उद्देश्य श्रमिकों एवं पूँजीपतियों व प्रबन्धकों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं। कर्मचारियों से पूर्ण सहयोग लेने व उन्हें अधिक निष्ठा से कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

4. उत्तरदायित्व की भावना पैदा करना—संगठन के द्वारा कर्मचारियों में अपने कार्य के प्रति उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत की जाती है। कार्य के निरीक्षण एवं समुचित निर्देशन की सुलभता कार्य के प्रति एक लगाव एवं उत्तरदायित्व की भावना पैदा करता है।

5. कार्य प्रवाह की निरन्तरता—एक औपचारिक संगठन का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से नहीं होता है। सी० आई० बरनार्ड (C.I.Barnard) के अनुसार, इस प्रकार के संगठन में पद या कार्य का महत्त्व होता है। संगठन पद के अनुसार कार्य चाहता है। औपचारिक संगठन में पदों की व्याख्या होती है। यदि एक व्यक्ति पद का त्याग कर देता है तो दूसरा व्यक्ति उस कार्य को सम्भाल लेता है तथा संगठन की व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं आता। औपचारिक संगठन में विभिन्न सदस्यों के मध्य निजी या व्यक्तिगत सम्बन्ध न होकर प्रायः कार्यात्मक सम्बन्ध होते हैं। अतः जो भी किसी पद पर नियुक्त किया जाता है वह उसके कार्य को करता है।

संगठन के सिद्धान्त
(Principles of Organisation)

एक सक्षम एवं प्रभावशाली संगठन का निर्माण करते समय कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक होता है जिससे कि उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। एक त्रुटिपूर्ण संगठन व्यवसाय की असफलता का कारण बन सकता है अतः उसका निर्माण करते समय प्रबन्ध-क्षेत्र के विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का यथासम्भव पालन करना चाहिए। कर्नल लिण्डाल उर्विक (Col. Lyndall Urvick), टेलर (Tayler), फेयोल (Fayol), कुन्ट्ज एवं ओ' डोनेल (Koontz and O'Donnel), आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार यहाँ संगठन के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है—

1. उद्देश्य का सिद्धान्त (Principle of Objective)—संगठन का निर्माण उपक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप होना चाहिए। विभिन्न विभागों एवं उनकी क्रियाओं का उपविभाजन इस प्रकार से करना चाहिए जिससे कि उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से हो सके। संगठन की क्रियायों द्वारा निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान मिलना चाहिए।

2. व्याख्या का सिद्धान्त (Principle of Definition)—संगठन के प्रत्येक पद पर कार्य करने वाले व्यक्तियों के कार्यों, अधिकारों व उत्तरदायित्वों की स्पष्ट

व्याख्या की जानी चाहिए जिससे प्रत्येक कर्मचारी का कार्यक्षेत्र एवं दायित्व सुनिश्चित रहे तथा पारस्परिक सम्बन्धों में कोई सन्देह उत्पन्न न हो सके। यह व्याख्या लिखित रूप में ही की जानी चाहिए जिससे कि सम्बन्धित कर्मचारी उन्हें आवश्यक समझने पर पढ़ सके तथा उसके अनुरूप कार्य कर सके।

3. विशिष्टीकरण का सिद्धान्त (Principle of Specialization)—विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के अनुसार एक कर्मचारी को कार्य उसकी कुशलता, योग्यता एवं रुचि के अनुसार सौंपा जाता है। इससे न्यूनतम व्यय पर अधिक कार्य करना सम्भव होता है। इसके साथ ही कर्मचारी ज्यादा कार्य करके सन्तोष प्राप्त करता है।

4. समन्वय का सिद्धान्त (Principle of Coordination)—संगठन का उद्देश्य किसी औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाई के विभिन्न कार्यों, साधनों तथा व्यक्तियों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना होता है। मूने तथा रैले (Mooney and Railey) के अनुसार 'सभी संगठनों का अन्तिम उद्देश्य सरलता से सुन्दर समन्वय स्थापित करना होता है।' अतः कार्यों का विभाजन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विभिन्न विभागों व कर्मचारियों में आवश्यक समन्वय स्थापित हो सके।

5. नियन्त्रण के विस्तार का सिद्धान्त (Principle of Span of Control)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी अधिकारी के नीचे अधीनस्थों की संख्या केवल उतनी ही होनी चाहिए जितने कि कार्यों पर वह उचित नियन्त्रण रख सके ग्रेकुनाज (Gracunas) के अनुसार 'कोई भी अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से पाँच और अधिक से अधिक छः अधीनस्थों से अधिक का निरीक्षण नहीं कर सकता।' कुशलता की दृष्टि से उर्विक (Urvick) ने स्पष्ट किया है कि 'उच्चाधिकारियों के सहायक कर्मचारियों की आदर्श संख्या चार है तथा संगठन के निम्न स्तर पर जहाँ पर कार्यों का निष्पादन किया जाता है, न कि निरीक्षण, यह संख्या आठ से बारह हो सकती है।' अतः उच्चाधिकारियों के अधीन उतने ही अधिकारी एवं कर्मचारी होने चाहिए जिनके कि कार्य का वह सुविधा एवं कुशलता से निरीक्षण व निर्देशन कर सके।

6. आदेश की एकरूपता का सिद्धान्त (Principle of Unity of Command)—संगठन बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक समय में एक व्यक्ति एक से अधिक अधिकारियों से आदेश प्राप्त नहीं करे। कुशलता की दृष्टि से कर्मचारी को आदेश एवं निर्देश एक ही अधिकारी से प्राप्त होने चाहिए। एक से अधिक अधिकारियों से आदेश प्राप्त होने पर उनके पालन में कठिनाई होती है तथा कार्य पूरे नहीं हो पाते।

7. अधिकार व दायित्व का सिद्धान्त (Principle of Authority and Responsibility)—इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य के कुशल सम्पादन के लिए यह आवश्यक होता है कि कर्मचारी को अधिकार एवं दायित्व दोनों उचित अनुपात में

दिए जायें। यदि दायित्व दिये जाते हैं तो उनके निर्वाह के लिए आवश्यक अधिकार भी दिए जाने चाहिए। इसी तरह बिना दायित्व दिये अधिकार सौंपने पर उन अधिकारों का दुरुपयोग हो सकता है। अतः यह आवश्यक होता है कि अधिकार एवं दायित्व आवश्यकतानुसार सौंपे जाएँ।

8. सम्पर्क का सिद्धान्त (Scalar Principle)—एक अच्छे संगठन में उच्च अधिकारी तथा निम्न स्तर पर नियुक्त कर्मचारियों के मध्य औपचारिक अधिकार रेखा स्पष्ट होनी चाहिए। कौन किसके अधीन है यह सुनिश्चित होना चाहिए। अन्य शब्दों में उच्च अधिकारी एवं अधीनस्थ कर्मचारियों के सम्बन्ध स्पष्ट होने चाहिए।

9. अनुरूपता का सिद्धान्त (Principle of Homogenity)–अधिक कुशलता के लिये यह आवश्यक होता है कि विभिन्न पदाधिकारियों के अधिकार आपस में टकरायें नहीं समान दायित्व वाले अधिकारियों के अधिकार भी समान होने चाहिए। अतः संगठन बनाते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि एक विभाग के अधिकार दूसरे विभाग से तथा विभिन्न पदाधिकारियों के परस्पर अधिकार टकरायें नहीं।

10. अन्तिम दायित्व का सिद्धान्त (Principle of Ultimate Responsibility)—कार्य के सम्पादन के लिए उसे विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों को सुपुर्द किया जाता है उसे समय पर निर्देशानुसार पूरा करना उनका दायित्व होता है। लेकिन इस सिद्धान्त के अनुसार अधीनस्थों के कार्य के लिए उच्चाधिकारियों का अन्तिम दायित्व होना आवश्यक है। अन्य शब्दों में कार्य समय पर एवं ठीक प्रकार से पूरा हो इसके लिये अन्तिम रूप से वरिष्ठ अधिकारी ही उत्तरदायी होना चाहिए। अधीनस्थ को कार्य सौंपने का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि उच्चाधिकारी का कोई दायित्व नहीं रहे।

11. अपवाद का सिद्धांत (Principle of Exception)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता टेलर ने किया। इस सिद्धान्त के आधार पर दिन प्रतिदिन के कार्यों को करने के लिए अधीनस्थों को अधिकार दिये जाने चाहिए लेकिन महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेने का कार्य उच्च अधिकारियों पर ही छोड़ देना चाहिए।

12. सरलता का सिद्धांत (Principle of Simplicity)—संगठन का ढांचा सरल होना चाहिए जिससे सन्देशों का आदान-प्रदान सुविधा से हो सके तथा कर्मचारियों को व संगठन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को सरलता से समझ में आ सके।

13. लोच का सिद्धांत (Principle of Flexibility)—संगठन लचीला होना चाहिए जिससे आवश्यकतानुसार कार्य के बढ़ने पर उसका विस्तार किया जा सके तथा कार्य कम होने पर उसे सीमित किया जा सके। कुशलता बनाये रखने की दृष्टि से संगठन में आवश्यक परिवर्तन किये जा सकने का गुण होना चाहिए।

14. समुचितता का सिद्धांत (Principle of Appropriateness)—फैयोल (Fayol) के अनुसार 'मानवीय एवं भौतिक संगठन उपक्रम के उद्देश्य, साधन एवं आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।' अतः अच्छे संगठन के लिए यह आवश्यक है कि वह उपक्रम की आवश्यकताओं व साधनों अर्थात आर्थिक स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उपयुक्त हो।

15. निरन्तरता का सिद्धांत (Principle of Continuity)—संगठन व्यवसाय की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ होना चाहिए। इस दृष्टि से संगठन की संरचना ऐसी होनी चाहिए जिससे आवश्यकतानुसार कार्य कर सके तथा विभिन्न परिवर्तनों से कार्यों के सम्पादन में कोई बाधा नहीं पड़नी चाहिए।

संगठन बनाते समय उपर्युक्त सिद्धान्तों को अपना कर एक आदर्श संगठन बनाना चाहिए। पीटर ड्रकर (Peter Drucker) के अनुसार "एक सर्वोत्तम संगठन वह है जो सामान्य व्यक्तियों को असामान्य कार्य करने में सहायता करता है।" इसमें गत्यात्मक एवं प्रभावी नेतृत्व होना चाहिए।

संगठन की प्रक्रिया
(Process of Organising)

एक संगठन का निर्माण करते समय सामान्यतः निम्नलिखित कदम (Steps) उठाने होते हैं जिससे कि एक उपयुक्त संगठन की सरचना हो सके।

1. उद्देश्य निर्धारित करना (To Establish Objectives)—व्यावसायिक उपक्रम के उद्देश्यो के आधार पर संगठन निर्माण का उद्देश्य सुनिश्चित किया जाना चाहिए। संगठन से क्या-क्या अपेक्षायें की जानी है यह स्पष्ट करना चाहिये जिससे कि उसकी रचना करते समय उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त स्वरूप दिया जा सके।

2. क्रियाओं का निर्धारण (Determination of Activities)—व्यावसायिक उपक्रम एवं सगठन के उद्देश्यों को निर्धारित करने के उपरान्त उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये आवश्यक क्रियाओं को निर्धारित किया जाता है। किये जाने वाले कार्यों का प्राथमिकता के आधार पर क्रम निर्धारित किया जाता है विभिन्न कार्यों को स्पष्टतः परिभाषित किया जाता है। इसके पश्चात प्रत्येक कार्य को उसकी प्रकृति आकार तथा जटिलता के आधार पर उप-क्रियाओं मे विभाजित किया जाता है। इससे किसी क्रिया को उसके लिये उपयुक्त व्यक्ति को सौंपना सरल होता है।

3. क्रियाओं का समूहीकरण (Grouping of Activities)—कार्यों का उपक्रियाओं में विभाजित कर देने के पश्चात उनकी प्रकृति के आधार पर एवं समुचित समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से क्रियाओं को प्रमुख समूहों में बांटा जाता है। उदाहरण के लिए बाजार अनुसंधान विज्ञापन एवं विक्रय क्रियाओं को 'वि[illegible]

समूह में कच्चे माल का क्रय, भण्डार, डिजायन तैयार करना व वस्तुओं को निर्मित करने सम्बन्धी क्रियाएँ 'निर्माण' समूह में रखी जा सकती हैं। इसके उपरान्त दूसरा समूह वस्तुओं के प्रकार, ग्राहक की प्रवृत्ति, उत्पादन विधि, विक्रय विधि आदि के आधार पर बनाया जा सकता है।

4. **कर्त्तव्यों की व्याख्या (Defining Duties)**—क्रियाओं का समूहीकरण कर देने के उपरान्त उन क्रियाओं को करने वाले व्यक्ति के कर्त्तव्यों की व्याख्या की जाती है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति उन्हें भली प्रकार से समझ सके।

5. **व्यक्तियों की नियुक्ति एवं कार्य सौंपना (Appointment and Assigning Work)**—कर्त्तव्यों की व्याख्या करने के उपरान्त उन कार्यों को करने वाले उपयुक्त व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है तथा उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कार्य सौंपा जाता है। कार्य सौंपते समय प्रत्येक कर्मचारी के उत्तरदायित्व की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। यदि आवश्यक होता है तो सम्बन्धित कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

6. **भौतिक साधन उपलब्ध करना (Providing Physical Resources)**–कार्यों का सम्पादन करने के लिये, भौतिक साधन व उचित वातावरण की आवश्यकता होती है अतः कर्मचारियों को कार्य सौंपने के उपरान्त अच्छा कच्चा माल, मशीन व उपकरण प्रदान किये जाते हैं।

7. **अधिकार प्रत्यायोजन (Deligation of Authority)**—प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्त्तव्य एवं दायित्वों के अनुरूप आवश्यक अधिकार प्रदान किए जाते हैं जिससे कि वह अपने दायित्व को भली प्रकार से पूरा कर सके।

8. **समन्वय एवं संतुलन (Co-ordination and Balance)**—विभिन्न विभागों, उपविभागों एवं उनके अधिकारियों एवं अधीनस्थों में उचित समन्वय स्थापित करने हेतु उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कर देना चाहिये तथा इन सम्बन्धों की जानकारी सभी सम्बन्धित अधिकारियों एवं कर्मचारियों को करा देनी चाहिए।

कुन्ट्ज एवं ओडोनेल (Koontz & O' Donnel) ने संगठन प्रक्रिया के निम्न कदम बताये हैं :

1. उपक्रम के उद्देश्यों को निर्धारित करना।
2. मोर्चाबन्दी, नीतियां एवं योजनाओं का निर्माण करना।
3. विभिन्न क्रियाओं को निर्धारित करना।
4. क्रियाओं का वर्गीकरण करना।
5. क्रियाओं का समूहीकरण करना।
6. कर्मचारियों को अधिकार प्रदान करना।
7. समय-समय पर समूह के कार्यों का मूल्यांकन करना।

ई. एफ. एल. ब्रेच के अनुसार संगठन प्रक्रिया के निम्न कदम महत्वपूर्ण हैं।

(i) विभिन्न पदों के साथ संलग्न किये जाने वाले उत्तरदायित्वों का निर्धारण करना,

(ii) प्रबन्धकीय पदों पर नियुक्त होने वाले व्यक्तियों के उत्तरदायित्व का आवंटन करना,

(iii) प्रबन्धकों के मध्य औपचारिक सम्बन्ध निश्चित करना, तथा

(iv) उनके मध्य अनौपचारिक सम्बन्धों का विकास करना।

औपचारिक संगठन के लाभ व महत्व
(Advantages & Importance of Formal Organisation)

एक व्यावसायिक उपक्रम की सफलता में औपचारिक संगठन का बड़ा महत्व होता है। यह वह साधन होता है जिसके माध्यम से प्रबन्ध उपक्रम के उद्देश्यों को प्राप्त करता है। श्री लोन्सबरी फिश (Lounsbury Fish) के अनुसार 'यह वह तंत्र है जिसकी सहायता से प्रबन्ध व्यवसाय का सचालन, समन्वय तथा नियन्त्रण करता है। यह वास्तव मे प्रबन्ध की आधारशिला है। यदि सगठन की योजना मे कोई दोष रह जाता है, यदि यह केवल टालने वाली व्यवस्था ही है तो प्रबन्ध कठिन एवं प्रभावहीन हो जाता है। इसके विपरीत यदि यह विद्यमान आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए स्पष्ट तर्कपूर्ण एव नियोजित है तो यह समझना चाहिए कि स्वस्थ प्रबन्ध की प्रथम आवश्यकता की पूर्ति की जा चुकी है। एक औपचारिक सगठन के महत्व को निम्न लाभों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

1. **प्रबन्धकीय क्षमता में वृद्धि (Increases Managerial Efficiency)**—औपचारिक संगठन के होने से प्रबन्ध को कार्य कराने का एक माध्यम या मशीन प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा विभिन्न क्रियाओं को पूरा कराया जाता है। प्रत्येक कार्य एवं उपकार्य को करने के लिए पदाधिकारियों को उत्तरदायी ठहराया जाता है जिससे कार्य सुविधा से सम्पन्न हो जाता है। कार्यों को भी वांछित कुशलता रखने वाले व्यक्तियों को ही सौंपते हैं तथा नियन्त्रण व निरीक्षण की व्यवस्था होती है जिससे प्रबन्ध अच्छे परिणाम प्रस्तुत करने मे समर्थ होता है।

2. **अधिकार प्रत्यायोजन का आधार होता है (Bases to Delicate Authority)**—आवश्यकता पड़ने पर अधिकार किस अधिकारी को सौंपे जायें यह औपचारिक संगठन में अधिकारियों की स्थिति की ठीक जानकारी रहने से सुविधाजनक होता है। बड़े उपक्रम में कार्यक्षमता बढ़ाने व शीघ्र निर्णय के लिये अधिकारों का प्रत्यायोजन करना आवश्यक होता है जिसे औपचारिक संगठन में आसानी से किया जा सकता है।

3. **साधनों का अधिकतम उपयोग (Maximum Utilisation of Resources)**—औपचारिक संगठन मे श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के सिद्धान्त

का पालन करते हुए कर्मचारियों को कार्य सौंपे जाते हैं जिससे मानव, मशीन व माल का अधिकतम उपयोग करना सम्भव हो जाता है।

4. **समन्वय में सरलता (Easyness in Co-ordination)**—औपचारिक संगठन में विभागों एवं उपविभागों की रचना कार्यो के महत्त्व व क्रियाओं की प्रकृति के आधार पर की जाती है तथा उनके नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी अधिकारियों की स्थिति स्पष्ट रहने से विभिन्न कार्यों के समन्वय में सुविधा रहती है।

5. **अधिकारों व दायित्वों में सन्तुलन (Balance of Authority and Liability)**—अधिकारियों को उनके अधिकारों के अनुरूप ही दायित्व प्रदान किए जाते हैं साथ ही समान स्थिति के अधिकारियों के अधिकार एवं दायित्वों में असमानता नहीं रखी जाती जिससे अधिकारी अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार से निभाने में सफल होते हैं। साथ ही समान स्तर के अधिकारियों के अधिकारों में अन्तर न रहने से उनमें सहयोग बना रहता है।

6. **प्रबन्धकों के विकास एवं प्रशिक्षण में सहायक (Helps in Development and Training of Executives)**—औपचारिक संगठन में प्रबन्धकों का विकास एवं प्रशिक्षण भी स्वतः ही होता है। संगठन संरचना में विभिन्न पदों को इस प्रकार से स्थापित किया जाता है कि अधीनस्थ अधिकारी या कर्मचारी अपने निकटतम वरिष्ठ पद के अधिकारी के कार्यों से पूर्ण परिचित हो जाता है तथा उसकी अनुपस्थिति में वह अपने उच्च पद के कार्यभार को भी सम्भालता है। इससे पदाधिकारियों का स्वतः प्रशिक्षण होता है तथा उनकी प्रबन्धकीय क्षमता का विकास होता है।

7. **कार्यों के दोहराव को रोकता है (Checks Duplication of Work)**-औपचारिक संगठन में उपक्रम के सभी कार्यो को निश्चित विभागों व अधिकारियों को सुपुर्द कर दिया जाता है अतः कार्य का दोहराव होने की आशंका नहीं रहती।

8. **टालमटोली नहीं होती (No buck-passing)**—एक औपचारिक संगठन में कर्मचारी अपने कार्यों को करने में टाल-मटोली नहीं कर सकते क्योंकि दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या की जाती है तथा वे सम्बन्धित पदाधिकारी को स्पष्ट कर दिये जाते हैं।

9. **भ्रष्टाचार को रोकता है (Prevents Corruption)**—एक सुदृढ़ संगठन में कार्यों का विभाजन उनका निर्देशन एवं नियन्त्रण की प्रक्रिया सुनिश्चित होती है तथा मनमानी करने के अवसर नहीं दिए जाते जिससे भ्रष्टाचार के अवसर कम हो जाते हैं।

10. **पक्षपात न होना (No Favourtism)**—औपचारिक संगठन में कार्यों के विभाजन, कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, पारिश्रमिक आदि पूर्व निर्धारित, सुनिश्चित नीति एवं नियमों के आधार पर ही किये जाते हैं जिससे वहाँ अनावश्यक

पक्षपात करके किसी के साथ अन्याय नहीं किया जा सकता। इससे कर्मठ एवं ईमानदार कर्मचारियों को प्रेरणा मिलती है तथा उनका मनोबल ऊँचा रहता है।

श्री ए. ऐलन (A. Allen) ने एक अच्छे औपचारिक संगठन के निम्नलिखित लाभ बताये हैं।

(i) यह उपक्रम के प्रशासन को सुविधाजनक बनाता है।
(ii) यह विकास एवं विविधीकरण को सम्भव करता है।
(iii) तकनीकी सुधारों का अधिकतम उपयोग करने की सुविधा प्रदान करता है।
(iv) स्वतन्त्र रचनात्मक विचारधारा को प्रोत्साहन देता है।

औपचारिक संगठन के दोष
(Defects of Formal Organisations)

औपचारिक संगठन प्रत्येक उपक्रम के लिये आवश्यक होते हैं। ये उद्देश्यों की पूर्ति में तथा उपक्रम की कार्यक्षमता बढ़ाने में बड़ा योगदान देते हैं लेकिन इनमें कुछ दोष भी पाये जाते हैं जिन्हे सूक्ष्म में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

1. पहलपन का रुकना (Discourages Initiative)—औपचारिक संगठन में प्रत्येक पदाधिकारी के कार्य व अधिकार निश्चित कर दिये जाते हैं तथा अपनी सीमाओं का उल्लंघन करना अपराध माना जाता है जिससे कर्मचारियों में पहलपन की भावना निरुत्साहित होती है।

2. अनावश्यक विलम्ब (Undue Delay)—अधिकारों का प्रत्यायोजन पर्याप्त मात्रा में न होने पर उच्च अधिकारियों की स्वीकृति एवं निर्देश प्राप्त करने में बहुत समय लग जाता है जिससे अनावश्यक विलम्ब होता है।

3. सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना (Overlooks the Social Customs)—औपचारिक संगठन सामाजिक संगठनों की मान्यताओं की अवहेलना करते हैं जिससे कर्मचारियों में असन्तोष व्याप्त होने की सभावना रहती है।

4. यंत्रवत कार्य प्रणाली (Works like Machine)—औपचारिक संगठन निश्चित नियमों एवं उपनियमों के अन्तर्गत यन्त्रवत कार्य करते हैं। यहाँ मनुष्यों से ज्यादा महत्व नियमों के पालन को दिया जाता है।

5. सम्प्रेषण में विलम्ब (Delay in Communication)—औपचारिक संगठन में सम्प्रेषण व्यवस्था भी औपचारिक रूप में ही अपनानी पड़ती है। इससे सम्प्रेषण में समय तो अधिक लगता ही है साथ ही सम्प्रेषण की लागत भी बढ़ती है क्योंकि औपचारिक सम्प्रेषण अधिकतर लिखित रूप में ही होता है।

6. आकार बढ़ने पर नियंत्रण एवं समन्वय की समस्या (Problem of Control and Co-ordination in big Organisation)—यदि औपचारिक संगठन का आकार बहुत बड़ा हो जाता है तो वहाँ नियन्त्रण एवं प्रभावशाली समन्वय स्थापित करना एक कठिन समस्या बन जाता है।

7. वर्ग निर्माण (Creates Classes of Employees)—औपचारिक संगठन निम्न स्तर के कर्मचारी, मध्यम स्तर के अधिकारी तथा उच्च स्तर के प्रवन्धक व अधिकारी के रूप में कर्मचारियों को विभिन्न वर्गों में विभाजित करता है इससे कर्मचारियों में हीनता व श्रेष्ठता की भावनायें पृथक-पृथक वर्ग में स्थान ले लेती है। कर्मचारियों के एक बड़े वर्ग में ऊँच-नीच की भावना का आना मानवीय आधार पर उचित नहीं होता।

औपचारिक संगठन के प्रारूप

(Forms of Formal Organisations)

सामान्यतः औपचारिक संगठन के निम्नलिखित चार प्रारूप या प्रकार होते हैं—

1. रेखा संगठन (Line Organisation)
2. रेखा एवं स्टाफ संगठन (Line and Staff Organisation)
3. क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)
4. समिति संगठन (Committee Organisation)

रेखा संगठन

(Line Organisation)

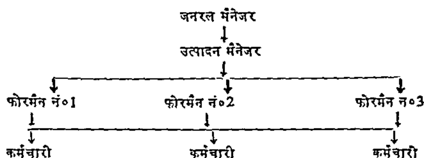
रेखा संगठन का अर्थ (Meaning of Line Organisation)

संगठन का यह सबसे प्राचीन एवं प्राथमिक रूप है। निर्माण की दृष्टि से भी यह सरल है। इसके रूप को विभिन्न विद्वानों ने स्पष्ट किया है। श्री सी. बी. गोइंग (C. B. Going) के अनुसार, "रेखा संगठन में अधिकारों एवं दायित्वों की रेखाएँ सम्पूर्ण संस्था में निरन्तर ऊपर से नीचे की ओर चलती हैं जैसे कि पत्तियों की शिराएँ वृत्त के पास एकत्रित होती हैं तथा अनेक पत्तियों के वृत्त टहनी से मिलते हैं और टहनियाँ शाखाओं से मिलती हैं तथा विभिन्न शाखायें तने से मिलती हैं और शिरायें-वृत्त, टहनियाँ, शाखायें व तने को सामान्यतः वृक्ष के जीवन में समान प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं।"[1] श्री गोइंग ने रेखा संगठन की तुलना वृक्ष से करके यह स्पष्ट किया है कि इसमें एक सर्वोच्च प्रमुख अधिकारी होता है तथा उसके अधीन अधिकार एवं दायित्व की रेखा के आधार पर ऊपर से नीचे तक अनेक अधिकारी

1. "The lines of authority and responsibility run continnously through the whole body from top to bottom, as veins of the leaf gather to the stalk, and many leaf stalks to the twig, and many twigs to branch, and many branches to the trank, and veins and stalk and twigs and branch and trank have practically similar duties to perform in the life and growth of the tree." —*C. B. Going.*

एवं कर्मचारी होते हैं। श्री मैकफारलैण्ड (McFarland) के अनुसार, "रेखा सरचना में प्रत्येक शीर्ष रेखा सम्बन्ध होते हैं जो प्रत्येक स्तर की स्थिति एवं कार्यों से ऊपर से नीचे के स्तर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"[1] श्री एलेन (Allen) के अनुसार, "रेखा आदेश की वह शृंखला है जो संचालक मण्डल से विभिन्न प्रत्यायोजनों एवं पुनः प्रत्यायोजनों द्वारा अधिकारों एवं दायित्वों को उस विन्दु तक पहुंचाती हैं जहां कि कम्पनी की प्रमुख क्रियाओं को पूरा किया जाता है।"[2]

रेखा संगठन में समस्त आदेश उच्चाधिकारी से ही प्राप्त होने हैं। समान स्तर के अधिकारी एक दूसरे को आदेश नहीं देते। उदाहरण के लिए यदि सर्वोच्च अधिकारी जनरल मैनेजर है तो वह आदेश उत्पादन प्रबन्धक को तथा उत्पादन प्रबन्धक फोरमैन को तथा फोरमैन कर्मचारी को आदेश देगा। आदेशों का संचालन रेखाबद्ध रूप में ऊपर से नीचे होता है।



लक्षण

रेखा संगठन में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

1. आदेश ऊपर से नीचे की ओर आते हैं।
2. निवेदन व सुझाव नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं।
3. आदेश एक ही अधिकारी मे प्राप्त होता है।
4. अधिकार सत्ता एक सीधी रेखा के रूप में प्रवाहित होती है।

1. "Line structure consists of the direct vertical relationships which connect the positions and tasks of each levels with these above and below it."

—*McFarland*

2. "The line is the chain or command that extends from the board of directors through the various delegation and redelegation of authority and responsibility to the point where the primary activities of company are performed."

5. कर्मचारी को अपने निकटतम वरिष्ठ अधिकारी से ही आदेश प्राप्त होते हैं।

6. एक अधिकारी के नीचे अधीनस्थ की संख्या सीमित होती है।

7. सर्वोच्च अधिकारी सभी कार्यों के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी होता है।

रेखा संगठन को विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे सैनिक संगठन, क्रम संगठन (Scalar Organisation) विभागीय संगठन, लम्बवत, संगठन आदि।

रेखा संगठन के लाभ

रेखा संगठन में निम्नलिखित लाभ या गुण पाये जाते हैं—

1. सरलता—यह संगठन का सरल रूप है।

2. निश्चितता—इसमें अधिकार एवं कर्त्तव्यों का स्पष्ट विभाजन होता है अतः अपने दायित्व से बचा नहीं जा सकता।

3. समन्वय—प्रभावशाली समन्वय स्थापित करना सरल होता है।

4. अधिकारियों का विकास—इस संगठन में अधिकारी को अपने विभाग की सभी बातें देखनी होती हैं जिससे उसकी प्रबन्ध क्षमता में वृद्धि होती है।

5. निर्णय में सुविधा—प्रायः निर्णय लेने का प्रमुख अधिकार एक ही अधिकारी को होता है इससे निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं तथा उनका विरोध नहीं किया जाता।

6. प्रत्यक्ष नियंत्रण—वरिष्ठ अधिकारी के नीचे अधीनस्थ की संख्या सीमित होती है तथा उसका अधीनस्थ पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता है तथा त्रुटियों को रोकना आसान होता है।

7. पूर्ण अनुशासन—रेखा संगठन में अधिकार एवं दायित्व स्पष्ट रहते हैं जिससे संगठन में अनुशासन बना रहता है।

8. लोच—आवश्यकता के अनुसार संगठन में उचित परिवर्तन किए जा सकते हैं अतः लोच का गुण पाया जाता है।

9. केन्द्रीयकरण—रेखा संगठन में अधिकारों का केन्द्रीयकरण होता है तथा उत्तरदायित्व को टाला नहीं जा सकता।

10. शीघ्र सम्प्रेषण—सन्देश देने के लिए अधिकारी निश्चित होता है तथा वह इसके लिए उत्तरदायी होता है जिससे सन्देशों का आदान-प्रदान शीघ्रता से होता रहता है।

दोष

रेखा संगठन में निम्नलिखित दोष भी पाये जाते हैं—

1. विशिष्टीकरण का अभाव—रेखा संगठन में एक अधिकारी को अपने विभाग के सभी कार्यों को देखना होता है। जैसे क्रय, विक्रय, श्रम प्रबन्ध आदि। संगठन के इस रूप में विभिन्न क्रियाओं के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति नहीं की जाती

तथा एक व्यक्ति में सभी गुणों का समावेश होना सम्भव नहीं होता। सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति मिलने के अभाव में इसमें विशिष्टीकरण नहीं अपनाया जा सकता।

2. अर्द्धगामी सम्प्रेषण में बाधा—इसमें अधीनस्थ कर्मचारियों के सुझाव तथा उनकी कठिनाइयों की सूचना सही रूप में उच्च अधिकारी तक नहीं आ पाती।

3. अच्छे निर्णय का अभाव—इसमें सारे महत्त्वपूर्ण निर्णय एक ही व्यक्ति द्वारा लिए जाते हैं अतः उस पर कार्य भार एवं दायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में अपनी क्षमताओं के सीमित रहने से अनेक बार अच्छे निर्णय नहीं लिए जाते।

4. बड़े उपक्रम के लिए अनुपयुक्त—यदि व्यवसाय का आकार बढ़ता है तो संगठन का यह रूप व्यवसाय के प्रबन्ध के लिए उपयुक्त नहीं रहता। आकार बढ़ने पर कार्य क्षमता में कमी आ जाती है।

5. एकतन्त्रीय पद्धति—रेखा संगठन में सारे अधिकार प्रमुख अधिकारी के हाथों केन्द्रित होते हैं। यदि प्रमुख अधिकारी कोई त्रुटि करता है तो उसका बुरा परिणाम सारे उपक्रम पर ही पड़ता है।

6. पक्षपात को बढ़ावा—संगठन का सर्वोच्च अधिकारी सर्वशक्तिमान होता है। अतः वह अपनी स्वेच्छा के अनुसार कुछ कर्मचारियों के प्रति पक्षपात का रुख भी अपना सकता है।

7. अनुपस्थिति से हानि—यदि संगठन का प्रमुख अधिकारी कार्य से अनुपस्थित रहता है या वह संगठन छोड़कर अन्यत्र चला जाता है तो इससे उसकी अनुपस्थिति के कारण पूरे उपक्रम के कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

8. शीघ्र निर्णय के दोष—निर्णय एक ही प्रमुख अधिकारी के द्वारा लिए जाते हैं अतः उनमें शीघ्रता रहती है जिससे कभी कभी निर्णय पूर्ण विचार के बाद नहीं हो पाते तथा वे दोषपूर्ण रहते हैं।

9. स्वतन्त्रता का अभाव—रेखा संगठन में अधीनस्थ कर्मचारियों को कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जाती जिससे उनमें पहल करने का गुण समाप्त हो जाता है।

10. प्रेरणा का अभाव—अच्छे एवं कुशल कर्मचारियों को इसमें कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती।

11. नियमों की प्रमुखता—रेखा संगठन में 'नियम' सेवक के स्थान पर स्वामी बन जाते हैं तथा उनकी प्रमुखता रहती है।

12. नौकरशाही का पनपना—इस संगठन में नौकरशाही व लालफीताशाही पनपती है तथा कर्मचारियों का विकास कम होता है।

उपयुक्तता

रेखा संगठन की कुछ सीमायें हैं अतः इसे प्रत्येक अवस्था के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह मुख्यतः अग्रलिखित उपक्रमों के लिये ही उपयुक्त कहा जा सकता है—

1. छोटे आकार के उपक्रम के लिये,
2. कर्मचारियों की संख्या सीमित होने पर,
3. अनुशासित कर्मचारी होने पर,
4. विशिष्टीकरण की आवश्यकता न होने पर,
5. बड़े उपक्रम के उपविभागों में।

रेखा तथा कर्मचारी संगठन
(Line and Staff Organisation)

आशय (Meaning)

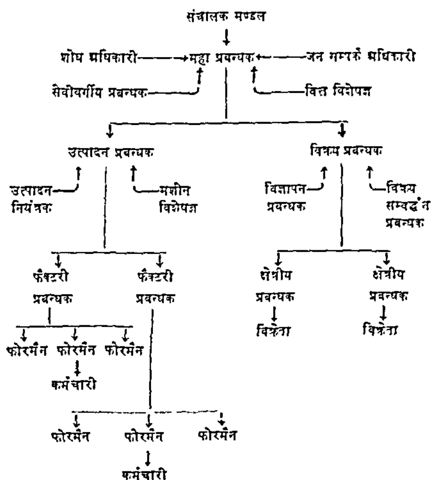
औपचारिक संगठन का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रारूप है। रेखा संगठन के दोषों को दूर करने की दृष्टि से रेखा संगठन का यह संशोधित एवं विकसित रूप है। रेखा एवं कर्मचारी संगठन में अधिकार एवं उत्तरदायित्व तो लम्बवत रूप में ऊपर से नीचे प्रदान किये जाते हैं लेकिन इसके अतिरिक्त 'रेखा' अधिकारियों के साथ-साथ कुछ विशेषज्ञ भी नियुक्त किये जाते हैं। ये विभागीय प्रमुख से सम्बन्धित होते हैं। इन विशेषज्ञों को ही 'स्टाफ' या कर्मचारी कहा जाता है। **मौरिस ई. हरले** के अनुसार "रेखा एवं कर्मचारी संगठन ऐसा संगठन है जिसमें विशेषज्ञों का समूह किसी विशेष क्रियाओं से सम्बन्धित रेखा अधिकारियों को परामर्श देते हैं।"[1] जेम्स डी. मूने के अनुसार "संगठन में कर्मचारी की सेवा से तात्पर्य अधिकार के कार्य से भिन्न परामर्श देने का है।"[2] एल. ए. ऐलन के शब्दों में "रेखा का कार्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होना है, कर्मचारी संगठन में उन तत्वों से सम्बन्धित है जो कि रेखा अधिकारियों की प्रभावपूर्ण विधि से उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सहायता देता है।"[3] कर्मचारी (स्टाफ) के अर्थ को स्पष्ट करते हुए **फिफनर एवं**

1. "Line and Staff Organisation refers to an organisational pattern in which individual specialists & groups of specialists advise line officers concerning special aspects of their activities." —*Morris E. Hurley*, Business Administration, p. 340

2. "Staff service in organisation means the service of advice or counsel as distinguished from the function of authority or command." —*James D. Mooney*

3. "Line function are those which have direct responsibility for accomplishing the objectives of the enterprise........... Staff refers to those elements of organisation that help the line to work most effectively in accomplishing the primary objectives of the enterprise." —*S. A. Allen* : Improving Line and Staff Relationship.

शेरवुड (Pfiffner and Sherwood) ने कहा है कि "कर्मचारी एक संगठन का *नियोजन करने एवं सोचने का शस्त्र है।"* कर्मचारी केवल विशेषज्ञ के रूप में परामर्श देते हैं जिसे अपनाना या न अपनाना रेखा अधिकारियों पर निर्भर करता है। कार्य करने व आदेश देने का अधिकार रेखा अधिकारी को ही होता है। इसे चार्ट द्वारा निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—



उपर्युक्त चार्ट के आधार पर शोध अधिकारी, जन-सम्पर्क वर्गीय प्रबन्धक एवं वित्त विशेषज्ञ महा प्रबन्धक को नियोजन के ...

देने का अधिकार रखते हैं। महाप्रबन्धक उन सुझावों को मानने के लिए बाध्य नहीं है लेकिन कार्यक्षमता बढ़ाने की दृष्टि से वह परिस्थितियों के अनुसार इन सुझावों को स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार उत्पादन प्रबन्धक को उत्पादन नियन्त्रक एवं मशीन विशेषज्ञ अपने विषय से सम्बन्धित सुझाव देते हैं। इस प्रकार रेखा अधिकारियों को विशेषज्ञों की सेवा का लाभ प्राप्त होता है।

विशेषतायें

रेखा एवं कर्मचारी संगठन में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

1. रेखा संगठन की सभी विशेषताएँ होती हैं।
2. कर्मचारी (विशेषज्ञ) होने से उत्तम परामर्श मिलता है।
3. सोचने एवं नियोजन करने का कार्य कर्मचारी करते हैं।
4. कार्य कराने का दायित्व एवं अधिकार रेखा अधिकारी का होता है।
5. विशेषज्ञों के परामर्श को मानने के लिये रेखा अधिकारी बाध्य नहीं होते।
6. निर्णय अधिक अच्छे एवं श्रेष्ठ लिये जाते हैं।
7. अधिकारियों के कार्य का भार कम हो जाता है।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के गुण

रेखा एवं कर्मचारी संगठन में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

1. **विशिष्टीकरण**—संगठन के इस प्रारूप में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। विशेषज्ञ किसी कार्य विशेष के सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन एवं उचित तथ्यों के आधार पर परामर्श देते हैं।

2. **कार्य भार कम होना**—रेखा अधिकारियों के कार्य का विभाजन हो जाता है। सोचने एवं नियोजन करने का कार्य विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है।

3. **सुदृढ़ निर्णय**—विशेषज्ञों से परामर्श करने एवं सुझाव प्राप्त होने की सुविधा से निर्णय अधिक अच्छे लिये जाते हैं।

4. **योग्यता का विकास**—विशेषज्ञों की सेवायें उपलब्ध होने से संगठन के कर्मचारियों की कार्यक्षमता व योग्यता का विकास होता है।

5. **अनुसन्धान**—विशेषज्ञ अपने विषय में निरन्तर अनुसन्धान कार्य में लीन रहते हैं तथा नवीन एवं विकसित विचार से अधिकारियों को अवगत करते हैं।

6. **पदोन्नति के अवसर**—संगठन में विशेषज्ञों के पदों के बढ़ने से पदोन्नति के अवसर बढ़ जाते हैं।

7. **मितव्ययिता**—विशेषज्ञों द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर मशीन, माल व मानव श्रम के अपव्यय को रोक दिया जाता है जिससे मितव्ययिता प्राप्त होती है।

8. **पर्याप्त लोच**—कार्य के बढ़ने पर इस प्रकार के संगठन को आवश्यकता के अनुसार बढ़ाया जा सकता है तथा विशेषज्ञों के रहने से कार्यक्षमता पर इस वृद्धि का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

9. आदेश की एकता—अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश एक ही अधिकारी से प्राप्त होते हैं जिससे नियन्त्रण एवं अनुशासन बनाये रखना आसान रहता है।

10. सन्देशों का उचित प्रवाह—अधिकारियों एवं अधीनस्थ के सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं जिससे सन्देशों के आदान-प्रदान का प्रवाह ठीक बना रहता है।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के दोष

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के प्रारूप में निम्नलिखित दोष भी पाये जाते हैं—

1. वित्तीय भार बढ़ना—इस संगठन में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है जिससे संस्था पर वित्तीय भार बढ़ जाता है क्योंकि विशेषज्ञों को ऊँचे स्तर के वेतन देने होते हैं।

2. विशेषज्ञों का दायित्व न होना—संगठन के इस प्रारूप में विशेषज्ञ तो नियुक्त किये जाते हैं लेकिन कार्य-सम्पादन के सम्बन्ध में उनको कोई उत्तरदायित्व नहीं दिया जाता।

3. संघर्ष की सम्भावना—रेखा अधिकारी एवं विशेषज्ञों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर परस्पर संघर्ष होने की सम्भावना हो जाती है जिससे कार्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. निर्णय में विलम्ब—विशेषज्ञों से परामर्श करने की प्रक्रिया में शीघ्र निर्णय लेने में विलम्ब होता है।

5. विशेषज्ञों के स्वाभिमान का हनन—कर्मचारी अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं लेकिन उनके सुझावों को मानने के लिए रेखा अधिकारी बाध्य नहीं होते। उनका मानना या न मानना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करता है। अतः जब विशेषज्ञ के परामर्श को नहीं स्वीकार किया जाता है तो इससे उनके स्वाभिमान का हनन होता है तथा मनोबल गिरता है।

6. छोटे व्यवसाय के लिये अनुपयुक्त—एक छोटे व्यवसाय के लिये संगठन का यह प्रारूप उपयुक्त नहीं है क्योंकि वहाँ विशेषज्ञों के लिये पर्याप्त कार्य नहीं होता तथा ऐसी संस्था में आर्थिक साधनों का भी अभाव होता है।

7. उत्तरदायित्व निर्धारित न कर पाना—जब कार्य के निष्पादन में कुशलता का ह्रास होता है तो यह निर्धारित करना बड़ा कठिन होता है कि यह किनके कारण है अर्थात विशेषज्ञों के परामर्श के कारण या रेखा अधिकारियों द्वारा परामर्श को ठीक प्रकार से क्रियान्वित न कराने के कारण।

उपरोक्त दोषों को दूर करने हेतु सुझाव

'रेखा एवं कर्मचारी' संगठन का यह बड़ा दोष है कि इसमें कर्मचारियों एवं रेखा अधिकारियों में मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे के प्रति अनेक शिकायतें करते मिलते हैं जिसका कार्य के क्रियान्वयन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इन दोनों के मध्य सहयोग बनाये रखने के लिए अधोलिखित सुझाव प्रस्तुत हैं।

1. सीमायें स्पष्ट करना—'रेखा' एवं 'कर्मचारी' दोनों ही वर्ग के अधिकारियों को अपने-अपने अधिकार एवं दायित्वों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। इससे अनावश्यक भ्रांतियाँ पैदा नहीं होती।

2. आवश्यक होने पर परामर्श—'कर्मचारी' को चाहिये कि रेखा अधिकारियों द्वारा आवेदन करने पर अपने सुझाव अवश्य दें तथा इसके अतिरिक्त जब भी वे आवश्यक समझें बिना आवेदन के भी अपने सुझाव प्रेषित करें।

3. परिस्थितियाँ स्पष्ट करना—यदि 'कर्मचारी' द्वारा दिये गये सुझाव स्वीकार नहीं किये जाते हैं तो रेखा अधिकारियों को चाहिये कि वे 'कर्मचारी' को उन परिस्थितियों से एवं कार्य दशाओं से अवगत करा दें जिनमें कि उनके सुझावों को अपनाया नहीं जा सकता है। इससे 'कर्मचारी' को वास्तविक स्थिति का ज्ञान होगा तथा वह परामर्श देने में अधिक व्यावहारिक होगा।

4. सुझावों का आदर करना—रेखा अधिकारियों को चाहिये कि वे 'कर्मचारी' द्वारा दिये गये सुझावों को कार्य के हित में ठीक से समझें तथा उनको मान्यता दें क्योंकि दिये गये सुझाव ठोस कारणों पर आधारित होते हैं।

5. एक दूसरे का पूरक समझना—'रेखा' एवं 'कर्मचारी' वर्ग के अधिकारियों को एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी नहीं समझना चाहिए बल्कि वे एक दूसरे के पूरक समझें क्योंकि दोनों ही उपक्रम एवं संगठन की सफलता के लिये कार्य करते हैं।

6. अच्छे सम्बन्धों का विकास—'रेखा' एवं 'कर्मचारी' वर्ग के मध्य अच्छे सम्बन्धों का विकास करना चाहिये। पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव होने से कर्मचारी एवं रेखा अधिकारी एक ही भावना से कार्य करने में समर्थ होते हैं।

क्रियात्मक संगठन
(Functional Organisation)

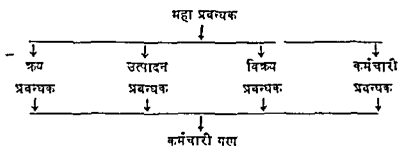
आशय

क्रियात्मक संगठन में विशिष्टीकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके जन्मदाता एफ० डब्ल्यू० टेलर है। श्री टेलर के अनुसार "इस प्रारूप में प्रबन्ध का नियन्त्रण इस प्रकार से होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम कार्य करना पड़े। अतः उनका कार्य यथासम्भव छोटी से छोटी प्रक्रिया में विभाजित कर दिया जाता है जिससे उसका कार्यक्षेत्र उसी क्रिया तक सीमित रहता है।" इस संगठन में पृथक-पृथक क्रियाओं के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किए जाते हैं जो कर्मचारियों[1] के कार्यों की निगरानी करते हैं तथा उन्हें आवश्यक निर्देश देते हैं। श्री एल० के० जॉनसन के अनुसार "क्रियात्मक संगठन ऐसी संगठन व्यवस्था है जिसमें अधिकार की रेखाएँ कई क्रियात्मक विशेषज्ञों के मध्य होती हुई श्रमिकों तक पहुँचती है। इसमें अधिकारी

1. यहाँ कर्मचारी से आशय 'विशेषज्ञों' से नहीं है। यहाँ इसका आशय सामान्य श्रमिक एवं कार्यकर्ताओं से है।

अधीनस्थ के सम्पूर्ण नही बल्कि केवल कुछ कार्यों के लिये ही उत्तरदायी होता है।" क्रियात्मक संगठन में कर्मचारियों को अपने कई विशेषज्ञ उच्च अधिकारियों से सीधे आदेश प्राप्त होते हैं न कि केवल एक उच्च अधिकारी से।

क्रियात्मक संगठन का प्रारूप



जैसा कि उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट है कि प्रत्येक विभाग का प्रबन्धक अपने विभाग से सम्बन्धित सूचनायें व निर्देश कर्मचारियो को देने का अधिकार रखता है अन्य शब्दों में कर्मचारी को विभिन्न अधिकारियों के निर्देशन में कार्य करना होता है।

क्रियात्मक संगठन की विशेषताएं

क्रियात्मक संगठन में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं—

1. कार्यों का विभाजन करके उसे कई भागों में बाँटा जाता है।
2. प्रत्येक क्रिया का विशेषज्ञ होता है।
3. एक क्रिया के सम्बन्ध में उसको विशेषज्ञ के द्वारा ही निर्देश दिये जाते हैं।
4. एक कर्मचारी को कई विशेषज्ञ या अधिकारियों से निर्देश प्राप्त होते हैं।
5. विशेषज्ञ केवल परामर्श ही नही देते बल्कि कार्य करवाने का अधिकार भी उन्हें दिया जाता है।

क्रियात्मक संगठन के गुण

क्रियात्मक संगठन के निम्नलिखित गुण उल्लेखनीय हैं—

1. विशिष्टीकरण के लाभ—कार्यों के निर्देशन के लिये विशिष्टीकरण अपनाया जाता है तथा कार्यों का विभाजन करके उन्हे सरल किया जाता है।

2. विशेषज्ञों की सेवायें—प्रत्येक कार्य के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किये जाते हैं जिससे कार्य के स्तर एवं कुशलता में वृद्धि होती है।

3. शीघ्र निर्णय—विशेषज्ञ स्वयं ही निर्णय लेने हेतु अधिकृत होते हैं जिससे निर्णय शीघ्र लिये जाते हैं।

4. अनुसंधान कार्य—विशेषज्ञों की नियुक्ति से आवश्यक अनुसन्धान कार्यों का करना सरल होता है।

5. लोचपूर्ण—संगठन का यह प्रारूप लोचपूर्ण है आवश्यकता पड़ने पर इसे सुविधा से बढ़ाया जा सकता है।

6. सहयोग की भावना—इस संगठन में विभिन्न क्रियाओं के विशेषज्ञों में सहयोग की भावना आती है क्योंकि बिना उसके कार्य के उच्च स्तर नहीं रखा जा सकता।

7. प्रभावी नियंत्रण—यह अविभाजित दायित्व एवं नियन्त्रण के सिद्धान्त को सम्भव बनाता है।

8. मितव्ययिता—इसमें मितव्ययिता का गुण भी है क्योंकि विशेषज्ञों की नियुक्ति पृथक से नहीं करनी होती।

क्रियात्मक संगठन के दोष

क्रियात्मक संगठन में निम्नलिखित दोष भी हैं—

1. आदेश की एकरूपता न रहना—क्रियात्मक संगठन में एक कर्मचारी को विभिन्न विशेषज्ञों से निर्देश मिलते हैं। इससे आदेश की एकरूपता के सिद्धान्त का पालन नहीं हो पाता है।

2. कठोर प्रक्रिया—इस संगठन में एक कर्मचारी को विभिन्न विशेषज्ञों के निर्देशन एवं नियन्त्रण में कार्य करना होता है अतः संगठन की प्रक्रिया बहुत कठोर होती है।

3. मनोवैज्ञानिक तनाव—एक कर्मचारी के ऊपर विभिन्न विशेषज्ञ होते हैं तथा उसे सबके आदेशों का पालन करना होता है। इससे उसके मस्तिष्क पर मनोवैज्ञानिक तनाव बढ़ जाता है।

4. समन्वय की समस्या—क्रियात्मक संगठन में विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

5. अनुशासन एवं नियन्त्रण—इस संगठन में विशेषज्ञ अधिकारियों की अधिक संख्या होने तथा सभी को निर्देश देने का अधिकार होने से कर्मचारी पर किसी भी एक अधिकारी का कठोर नियन्त्रण नहीं रहता जिससे अनुशासनहीनता आती है।

6. दायित्व निर्धारित करना कठिन—कार्य के निष्पादन में त्रुटि होने पर या कार्यकुशलता का ह्रास होने पर, यह किस अधिकारी की त्रुटि से हुआ या कर्मचारी की त्रुटि से हुआ इसे निश्चित करना कठिन कार्य हो जाता है।

7. कार्यभार में वृद्धि—इस संगठन में क्रियाशील अधीनस्थों के कार्यभार में प्रायः वृद्धि हो जाती है।

8. अनार्थिक—संगठन का यह प्रारूप छोटे उद्योगों के लिये अनार्थिक है।

9. कागजी कार्य में वृद्धि—निर्देशन विभिन्न अधिकारियों के द्वारा होता है जिससे कागजी कार्य भी बहुत बढ़ जाता है।

समिति संगठन
(Committees Organisation)

आशय (Meaning)

जब उपक्रम का आकार बहुत बड़ा हो जाता है तथा विभिन्न प्रमुख कार्यों के समन्वय में कठिनाइयाँ आती हैं तो ऐसी अवस्था में समिति संगठन अपनाया जाता है। उपक्रम की समस्याओं को समिति या समितियों के माध्यम से हल किया जाता है। एक वरिष्ठ प्रमुख अधिकारी समिति का अध्यक्ष होता है तथा विभिन्न विभागों के अधिकारी उसके सदस्य होते हैं। उर्विक के अनुसार समिति व्यक्तियों का एक समूह है जो मिलकर कार्य करने की शर्त के साथ कार्यों के सम्पादन का दायित्व लेते हैं। श्री डब्ल्यू. एच न्यूमैन के अनुसार समिति व्यक्तियों का एक समूह है जो प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन के लिए नियुक्त की जाती है। संस्था में कार्यभार बहुत अधिक बढ़ जाने पर विभिन्न विभागों में समन्वय एवं सहयोग स्थापित करने के लिए समितियाँ एवं उपसमितियाँ गठित की जाती हैं जिनमें विभिन्न विभागों के अधिकारी होते हैं। इन समितियों की समय-समय पर बैठकें होती हैं तथा कार्य के पूरा करने में उत्पन्न हुई बाधाओं को हल करने एवं संस्था की कार्यक्षमता में सुधार करने हेतु विचार विमर्श करके उचित निर्णय लिये जाते हैं। टैरी के अनुसार समिति चुने हुए या नियुक्त किए हुए व्यक्तियों की एक संस्था है जो उन विषयों पर विचार-विमर्श के लिए सगठित आधार पर मिलते हैं, जो उनके समक्ष लाये जाते हैं।[1] श्री हैमेन ने भी इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार समिति चुने हुए या नियुक्त किए हुए व्यक्तियों का एक समूह है जिन्हें सौंपे गये मामलों पर विचार विमर्श करने के लिए मिलना पड़ता है।[2]

समिति संगठन एकाकी रूप में कहीं भी स्थापित नही किया जाता बल्कि संगठन के अन्य प्रारूप जैसे रेखा सगठन या रेखा एवं कर्मचारी सगठन या क्रियात्मक संगठन के साथ अपनाया जाता है।

समितियाँ स्थाई (Permanent) या अस्थाई (Standing) हो सकती हैं। स्थाई समिति स्थाई प्रकृति की होती है तथा निरन्तर रूप से कार्य करती है। अस्थाई समिति किसी कार्य विशेष के लिए ही नियुक्त की जाती है तथा कार्य पूरा हो जाने पर समाप्त हो जाती है।

समितियों के कार्य

समितियों को अग्रांकित कार्य दिये जा सकते हैं।

1. "A body of persons elected or appointed to meet on an organised basis for the discussion and dealing of matters brought before it." —Terry
2. "Committee in a group of persons either appointed or elected who are to meet for the purpose of considering matters assigned to it."

1. आधारभूत विस्तृत नीतियों का निर्माण करना,
2. विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना,
3. किसी विशेष अथवा असाधारण समस्या के निवारण के उपाय सुझाना,
4. कार्यों का मूल्यांकन करना,
5. अधिकारियों के चयन या पदोन्नति से सम्बन्धित निर्णय लेना।

समिति संगठन के गुण

मिस फोलेट (Miss Follet) के अनुसार "समिति संस्था में नेतृत्व प्रदान करने एवं अच्छे सम्बन्धों का निर्माण करने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।" यह जटिल समस्याओं के निवारण की प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित एक विधि है। इसमें निम्न गुण पाये जाते हैं—

1. समन्वय में सुविधा—कुन्टज तथा ओ'डोनेल के अनुसार "समितियाँ व्यावसायिक नियोजन एवं व्यावसायिक नीतियों के क्रियान्वयन में समन्वय स्थापित करने का उपयोगी साधन है।" विभिन्न विभागों के अधिकारियों के समिति में सदस्य होने से समन्वय की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

2. सामूहिक निर्णय— विभिन्न विभागों के अधिकारी या विशेषज्ञ समिति में होते हैं जिससे सामूहिक निर्णय लिये जाते हैं। इससे सभी उत्तरदायित्व अनुभव करते हैं।

3. उतावले निर्णय पर रोक—समिति में सभी सदस्यों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिलता है तथा पर्याप्त विचार-विनिमय के वाद निर्णय लिये जाते हैं जिससे उतावले एवं जल्दवाजी में लिए गए निर्णयों पर रोक लगती है।

4. ठोस निर्णय— मार्च एवं साइमन (March & Simon) के अनुसार "एक समिति के अनेक सदस्य एकसाथ समान गलती नहीं करते हैं। वहाँ विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता का लाभ मिलता है जिससे निर्णय अधिक ठोस एवं अच्छे होते हैं।"

5. श्रम विभाजन के लाभ—समिति के माध्यम से श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त किए जाते हैं। समस्या के विभिन्न पहलुओं को सदस्यों में विभाजित कर विचार-विनिमय के वाद निर्णय लिए जाते हैं।

6. जटिल समस्याओं का निवारण—जटिल समस्याओं का समुचित हल निकालना समिति द्वारा सरल होता है। हल निकालने में सदस्यों की सामूहिक बुद्धि एवं कुशलता का प्रयोग होता है। अतः उपयुक्त हल निकल आता है।

7. केन्द्रीयकरण पर रोक— समिति संगठन में अधिकारों का केन्द्रीयकरण किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं हो पाता।

8. अकेलेपन का अभाव—समितियों के कार्य करने पर कोई सदस्य या अधिकारी अपने को समस्याओं से घिरा हुआ या अकेलापन अनुभव नहीं करता।

9. प्रबन्ध में भागीदारी—समिति संगठन में विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व समिति में होने से सभी पक्षों को प्रबन्ध में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है।

10. निरन्तरता—समिति संगठन के द्वारा प्रशासन में निरन्तरता बनाये रखी जा सकती है। किसी एक अधिकारी के चले जाने या उपक्रम के छोड़ देने से प्रशासन में कोई अन्तर नहीं आता। आने वाले सदस्य के स्थान पर जो नया सदस्य आता है वह भी पहली कार्यप्रणाली को केवल अपनी स्वेच्छा से समाप्त नहीं कर सकता। जो भी परिवर्तन किये जाते हैं वे धीरे-धीरे होते हैं। अतः प्रशासन में निरन्तरता बनी रहती है।

11. आत्मस्वीकृति—इस संगठन में सदस्यों के विचारों को मान्यता एवं महत्व दिया जाता है जिससे वे सन्तुष्ट रहते हैं तथा निर्णयों के क्रियान्वयन में रुचि लेते हैं।

12. नये विचारों का सृजन—सामूहिक विचार विनिमय की प्रक्रिया में नये विचारों का जन्म होता है जो उपयोगी सिद्ध होते हैं।

13. शीघ्र संचार—समिति संगठन में सन्देशों का प्रसारण बहुत शीघ्रता से सभी वर्गों एवं विभागों में हो जाता है क्योंकि समिति में विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य होते हैं जो समिति की बैठक के बाद अन्य लोगों से मिलने पर उन्हें सूचनाएँ देते हैं।

14. प्रशिक्षण—समिति में किये गये विचार-विनिमय एवं लिये गए निर्णयों से अधीनस्थों को निर्णय लेने की कला का अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है।

समिति संगठन के दोष—समिति संगठन में कुछ दोष भी पाये जाते हैं जैसे—

1. अनावश्यक वाद-विवाद—समिति में अनेक बार विचार-विनिमय के समय अनावश्यक एवं असंगत वाद-विवाद हो जाता है।

2. समय का नष्ट होना—समितियों द्वारा निर्णय लेने में समय बहुत नष्ट होता है क्योंकि समिति में निर्णय लेने के लिए बैठक बुलाने व विचार-विनिमय के लिये पूरी निर्धारित औपचारिकतायें निभानी पड़ती हैं।

3. अयोग्यता पर पर्दा—समिति संगठन अयोग्य प्रबन्धकों की अयोग्यता को छिपा देता है तथा वे संस्था में बने रहते हैं।

4. कार्यों पर कम ध्यान देना—एक अधिकारी के कई समितियों में सदस्य होने पर वह अपने विभाग के कार्यों के संचालन पर कम ध्यान दे पाता है।

5. पहलपन का अभाव—निर्णय समिति द्वारा ही लिये जाते हैं जिससे अधिकारियों को पहलपन करने की प्रेरणा नहीं मिलती। निर्णय लेने में औपचारिकताओं का पालन ज्यादा किया जाता है।

6. उत्तरदायित्व निर्धारित न कर पाना—समिति में लिये गये गलत निर्णय के लिये किसी भी सदस्य को उत्तरदायी ठहराना सम्भव नहीं होता।

7. आपसी हितों पर ध्यान—सदस्य अपने वर्ग के हितों को प्रमुखता देते हैं जिससे कभी-कभी ऐसे समझौते हो जाते हैं जो संस्था के हित में कम तथा समिति के सदस्यों के हितों की ज्यादा रक्षा करते हैं।

8. अधिकारियों का कमजोर होना—समिति संगठन में अधिकारियों के निर्णय लेने सम्बन्धी अधिकार सीमित हो जाते हैं जिससे उनकी क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

9. कठिन नियन्त्रण—समिति संगठन में कार्यों पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है।

10. प्रजातांत्रिक तानाशाही—प्रो. डेविस के अनुसार समिति 'अप्रजातांत्रिक कार्यों की घड़ी है। सिद्धान्त रूप में समिति प्रजातांत्रिक होती है लेकिन व्यवहार में सर्वोच्च अधिकारी के शक्तिशाली होने पर यह केवल एक रबड़ की मुहर के समान हो जाती है जिसकी सहमति उच्च अधिकारी या महाप्रबन्धक जहाँ चाहता है वहाँ प्राप्त कर लेता है। इससे प्रजातान्त्रिक तानाशाही को बढ़ावा मिलता है।

11. लागत में वृद्धि—समिति संगठन में सदस्यों की नियुक्ति बैठकों की व्यवस्था, सदस्यों के आने जाने के व्यय, सदस्यों का कार्य से अनुपस्थित रहना आदि के कारण इसकी लागत भी अधिक पड़ती है।

समिति संगठन को प्रभावशाली बनाने हेतु सुझाव
(Suggestions to make Committee Organisation Effective)

समिति संगठन में कुछ दोष अवश्य हैं लेकिन एक विशाल उपक्रम में तथा जटिल समस्याओं के निवारण में समितियों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में इनका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। समितियों को प्रभावशाली बनाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. कार्यक्षेत्र स्पष्ट करना—समिति स्थापना का उद्देश्य एवं इसके कार्यों का क्षेत्र स्पष्ट कर देना चाहिए जिससे कि समिति में अनावश्यक विषयों पर विचार विमर्श न किया जा सके।

2. महत्वपूर्ण विषय सौंपना—समिति को महत्त्वपूर्ण विषयों पर या समस्याओं पर निर्णय लेने के लिये ही नियुक्त करना चाहिए। छोटी एवं दिन प्रतिदिन की समस्याओं के लिये नहीं।

3. आवश्यक तथ्यों की उपलब्धि—समिति को सम्बन्धित विषय पर सम्पूर्ण एवं विस्तृत सूचनायें तथ्य एवं आंकड़े प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिससे ठीक निर्णय हो सकें।

4. उपयुक्त सदस्य—समिति के सदस्यों का चयन सावधानी से करना चाहिए वे अनुभवी विषय का विशिष्ट ज्ञान रखने वाले एवं कुशल होने चाहिए अन्यथा वे समिति में उचित योगदान नहीं दे सकेंगे।

5. कुशल एवं प्रभावशाली अध्यक्ष—समिति का अध्यक्ष प्रभावशाली एवं कुशल अधिकारी होना चाहिए जिससे वह समिति के विचार-विमर्श को उचित दिशा दे सके।

6. उपयुक्त आकार—समिति में सदस्यों की संख्या बहुत ज्यादा नही होनी चाहिए। बड़े आकार की समिति मे बहुत से सदस्यों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं मिल पाता तथा विचार भिन्नता ज्यादा होने पर निर्णय लेने में बहुत ज्यादा समय लगता है।

7. सुनिश्चित कार्यक्रम—समिति की सभा या बैठक का सुनिश्चित कार्यक्रम होना चाहिए जिसकी सदस्यों को पूर्व सूचना भी हो।

8. लागत पर ध्यान देना—समिति संगठन पर पड़ने वाला व्यय उससे प्राप्त होने वाले लाभो की तुलना में कम होना चाहिए अर्थात समितियों पर अनावश्यक रूप से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए। अनार्थिक होने पर इन्हे गठित नही करना चाहिए।

9. अनुवर्तन—समिति द्वारा लिए गए निर्णय सभी सम्बन्धित पक्षों को सूचित किये जाने चाहिए तथा वे भली प्रकार से क्रियान्वित किये जा रहे हैं या नहीं इसे भी देखना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर उनके उचित क्रियान्वयन के लिये निर्देश भी दिये जाने चाहिए।

10. मूल्यांकन—समिति संगठन की कार्यप्रणाली, लिये गये निर्णय, उनका क्रियान्वयन एवं प्राप्त परिणामो के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर उचित संशोधन भी किये जाने चाहिए।

अनौपचारिक संगठन : अर्थ एवं लक्षण
(Informal Organisation : Meaning and Characteristics)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition)

प्रत्येक औद्योगिक संस्था में औपचारिक संगठन के साथ साथ अनौपचारिक संगठन भी होते हैं। अनौपचारिक संगठन उपक्रम में कार्य कर रहे व्यक्तियों के स्वाभाविक मानवीय सम्बन्धो पर आधारित होते हैं। एक औपचारिक संगठन मे कार्य कर रहे व्यक्तियो मे केवल एकमात्र औपचारिक सम्बन्ध ही नही होता बल्कि कार्य के दौरान व कार्य के बाहर परस्पर बातचीत करने एक दूसरे की व्यक्तिगत समस्याओ पर चर्चा करने, उपक्रम से सम्बन्धित विषयो पर निजी रूप से बातचीत करने आदि से उनमें अनौपचारिक सम्बन्धो का विकास हो जाता है तथा इन अनौपचारिक सम्बन्धों के आधार पर ही संगठन के कर्मचारियो मे अनेक अनौपचारिक संगठन बन जाते हैं। बर्नार्ड (Barnard) के अनुसार, "वह संगठन अनौपचारिक है जिसमें पारस्परिक सम्बन्ध अज्ञानवश संयुक्त उद्देश्यों के लिए बनते हैं।" अनौपचारिक संगठन स्वतः ही बन जाते हैं। इनका न तो जानबूझ कर निर्माण किया जाता है और न इनकी सदस्यता ग्रहण करने के कोई निर्धारित नियम होते हैं। अर्ल पी० स्ट्रांग (Earl P. Strong) के अनुसार, "अनौपचारिक संगठन एक ऐसी सामाजिक संरचना है जिसका निर्माण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता

8. अधिकारियों का कमजोर होना—समिति संगठन में अधिकारियों के निर्णय लेने सम्बन्धी अधिकार सीमित हो जाते हैं जिससे उनकी क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

9. कठिन नियन्त्रण—समिति संगठन में कार्यों पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है।

10. प्रजातांत्रिक तानाशाही—प्रो. डेविस के अनुसार समिति 'अप्रजातांत्रिक कार्यों की घड़ी है। सिद्धान्त रूप में समिति प्रजातांत्रिक होती है लेकिन व्यवहार में सर्वोच्च अधिकारी के शक्तिशाली होने पर यह केवल एक रवड़ की मुहर के समान हो जाती है जिसकी सहमति उच्च अधिकारी या महाप्रवन्धक जहाँ चाहता है वहाँ प्राप्त कर लेता है। इससे प्रजातान्त्रिक तानाशाही को वढ़ावा मिलता है।

11. लागत में वृद्धि—समिति संगठन में सदस्यों की नियुक्ति वैठकों की व्यवस्था, सदस्यों के आने जाने के व्यय, सदस्यों का कार्य से अनुपस्थित रहना आदि के कारण इसकी लागत भी अधिक पड़ती है।

समिति संगठन को प्रभावशाली वनाने हेतु सुझाव
(Suggestions to make Committee Organisation Effective)

समिति संगठन में कुछ दोप अवश्य हैं लेकिन एक विशाल उपक्रम में तथा जटिल समस्याओं के निवारण में समितियों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में इनका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। समितियों को प्रभावशाली वनाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. कार्यक्षेत्र स्पष्ट करना—समिति स्थापना का उद्देश्य एवं इसके कार्यों का क्षेत्र स्पष्ट कर देना चाहिए जिससे कि समिति में अनावश्यक विषयों पर विचार विमर्श न किया जा सके।

2. महत्वपूर्ण विषय सौंपना—समिति को महत्त्वपूर्ण विषयों पर या समस्याओं पर निर्णय लेने के लिये ही नियुक्त करना चाहिए। छोटी एवं दिन प्रति-दिन की समस्याओं के लिये नहीं।

3. आवश्यक तथ्यों की उपलब्धि—समिति को सम्वन्धित विषय पर सम्पूर्ण एवं विस्तृत सूचनायें तथ्य एवं आँकड़े प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिससे ठीक निर्णय हो सकें।

4. उपयुक्त सदस्य—समिति के सदस्यों का चयन सावधानी से करना चाहिए वे अनुभवी विषय का विशिष्ट ज्ञान रखने वाले एवं कुशल होने चाहिए अन्यथा वे समिति में उचित योगदान नहीं दे सकेंगे।

5. कुशल एवं प्रभावशाली अध्यक्ष—समिति का अध्यक्ष प्रभावशाली एवं कुशल अधिकारी होना चाहिए जिससे वह समिति के विचार-विमर्श को उचित दिशा दे सके।

6. उपयुक्त आकार—समिति में सदस्यों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं होनी चाहिए। बड़े आकार की समिति में बहुत से सदस्यों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं मिल पाता तथा विचार भिन्नता ज्यादा होने पर निर्णय लेने में बहुत ज्यादा समय लगता है।

7. सुनिश्चित कार्यक्रम—समिति की सभा या बैठक का सुनिश्चित कार्यक्रम होना चाहिए जिसकी सदस्यों को पूर्व सूचना भी हो।

8. लागत पर ध्यान देना—समिति संगठन पर पड़ने वाला व्यय उससे प्राप्त होने वाले लाभों की तुलना में कम होना चाहिए अर्थात समितियों पर अनावश्यक रूप से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए। अनार्थिक होने पर इन्हें गठित नहीं करना चाहिए।

9. अनुवर्तन—समिति द्वारा लिए गए निर्णय सभी सम्बन्धित पक्षों को सूचित किये जाने चाहिए तथा वे भली प्रकार से क्रियान्वित किये जा रहे हैं या नहीं इसे भी देखना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर उनके उचित क्रियान्वयन के लिये निर्देश भी दिये जाने चाहिए।

10. मूल्यांकन—समिति संगठन की कार्यप्रणाली, लिये गये निर्णय, उनका क्रियान्वयन एवं प्राप्त परिणामों के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर उचित संशोधन भी किये जाने चाहिए।

अनौपचारिक संगठन : अर्थ एवं लक्षण

(Informal Organisation : Meaning and Characteristics)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition)

प्रत्येक औद्योगिक संस्था में औपचारिक संगठन के साथ साथ अनौपचारिक संगठन भी होते हैं। अनौपचारिक संगठन उपक्रम में कार्य कर रहे व्यक्तियों के स्वाभाविक मानवीय सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। एक औपचारिक संगठन में कार्य कर रहे व्यक्तियों में केवल एकमात्र औपचारिक सम्बन्ध ही नहीं होता बल्कि कार्य के दौरान व कार्य के बाहर परस्पर बातचीत करने एक दूसरे की व्यक्तिगत समस्याओं पर चर्चा करने, उपक्रम से सम्बन्धित विषयों पर निजी रूप से बातचीत करने आदि से उनमें अनौपचारिक सम्बन्धों का विकास हो जाता है तथा इन अनौपचारिक सम्बन्धों के आधार पर ही संगठन के कर्मचारियों में अनेक अनौपचारिक संगठन बन जाते हैं। बर्नार्ड (Barnard) के अनुसार, "वह संगठन अनौपचारिक है जिसमें पारस्परिक सम्बन्ध अज्ञानवश संयुक्त उद्देश्यों के लिए बनते हैं।" अनौपचारिक संगठन स्वतः ही बन जाते हैं। इनका न तो जानबूझ कर निर्माण किया जाता है और न इनकी सदस्यता ग्रहण करने के कोई निर्धारित नियम होते हैं। अर्ल पी० स्ट्रांग (Earl P. Strong) के अनुसार, "अनौपचारिक संगठन एक ऐसी सामाजिक संरचना है जिसका निर्माण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता

है।"[1] इनका निर्माण किसी विशेष उद्देश्य के लिये नहीं किया जाता बल्कि परस्पर व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर हो जाता है। अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठनों के प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते बल्कि उनके पूरक की भूमिका निभाते हैं क्योंकि औपचारिक संगठन के दोषों से मुक्ति अनौपचारिक संगठन के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। कीथ डेविस (Keith Davis) ने बताया है कि अनौपचारिक संगठनों में सन् 1930 में पश्चिमी देशों में किये गए अध्ययनों के बाद रुचि बढ़ी है। इन अध्ययनों ने यह बताया कि "अनौपचारिक संगठन व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं जो कि किसी औपचारिक सत्ता या अधिकार द्वारा स्थापित या वांछित नहीं होते स्वेच्छा से उत्पन्न होते हैं क्योंकि व्यक्ति एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। अनौपचारिक संगठन में महत्त्व व्यक्ति एवं उनके सम्बन्धों का होता है जब कि औपचारिक संगठन में व्यक्ति की स्थिति एवं उसके अधिकारों व कार्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।"[2] अनौपचारिक संगठन में सदस्य अपनी स्वेच्छा से तथा अपने मानसिक सन्तोष के लिए रहता है वहाँ नियमों के पालन के लिए कोई कठोरता नहीं अपनाई जाती।

अनौपचारिक संगठन के लक्षण (Characteristics)

अनौपचारिक संगठनों में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

1. निर्माण का आधार–अनौपचारिक संगठन के निर्माण का आधार कर्मचारियों के सामाजिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्ध होते हैं। एक साथ कार्य करना, बैठना, आना, जाना, खाना, पीना आदि इनके निर्माण का आधार होता है।

2. स्वतः निर्माण—अनौपचारिक संगठन स्वतः अपने आप बन जाते हैं। इनके बनाने के लिए किसी प्रक्रिया को नहीं अपनाया जाता।

3. नियोजित न होना—इन संगठनों का निर्माण चाहे जब यकायक होता है तथा वह किसी भी रूप में या कारणों से बन सकता है यह किसी नियोजित ढंग से नहीं बनता।

4. औपचारिक संगठन का अंग न होना—अनौपचारिक संगठन औपचारिक

1. "The informal organisation is a social structure designed to meet personal needs."
—*Earl P. Strong*

2. "Informal organisation is a net work of personal and social relations not established or required by formal authority but arising spontaneously as people associate with one another. The emphasis within informal organisation is on people and their relationships, whereas formal organisation emphasizes positions in terms of authority and functions."
—*Keith Davis* : Human Behaviour at Work, p. 272.

संगठन के सदस्यों द्वारा ही निर्मित होते हैं लेकिन औपचारिक संगठन के चार्ट में इनका कोई स्थान नहीं है।

5. सभी स्तरों पर—अनौपचारिक संगठन उच्च अधिकारियों में मध्यम स्तरीय अधिकारियों में तथा कर्मचारियों के सभी स्तरों पर पाये जाते हैं। किसी वर्ग विशेष में ही नहीं बनते।

6. अनौपचारिक नियम—इन संगठनों में अपने अनौपचारिक नियम होते हैं जिनका सदस्य स्वेच्छा से पालन करते हैं। नियम सर्वसम्मत से स्वतः ही स्वीकृत हो जाते हैं उन्हें लिखित रूप में सूचित करने की आवश्यकता नहीं होती।

7. व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति—अनौपचारिक संगठन सदस्यों की व्यक्तिगत भावनाओं व आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करते हैं।

8. स्वतन्त्र सम्प्रेषण—अनौपचारिक संगठन में सदस्यों के मध्य विचारों का आदान प्रदान स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्तिगत आधार पर होता है। सम्प्रेषण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था नहीं अपनाई जाती।

9. संख्या—एक व्यावसायिक उपक्रम में अनेक अनौपचारिक संगठन हो सकते हैं। इनके आकार की कोई सीमा नहीं है छोटे से छोटे जहाँ दो ही सदस्य हों के आकार के भी हो सकते हैं तथा सैंकड़ों सदस्यों वाले भी। इसके साथ ही एक ही सदस्य विभिन्न अनौपचारिक संगठनों का सदस्य हो सकता है। यह एक ही अनौपचारिक संगठन का सदस्य रहे यह कोई आवश्यकता नहीं।

10. नेता की शक्ति एवं अधिकार—अनौपचारिक संगठन के नेता द्वारा शक्तियाँ व अधिकार अपने गुणों व प्रभाव के आधार पर अर्जित किये जाते हैं या सदस्यों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इनमें औपचारिक संगठन की तरह अधिकार प्रत्यायोजित (Delegate) नहीं किए जाते।

अनौपचारिक संगठन के प्रकार
(Types of Informal Organisations)

एक औद्योगिक संस्था में पाये जाने वाले अनौपचारिक संगठनों के निम्न-लिखित प्रकार हो सकते हैं—

1. द्वैतीयक समूह संगठन—एक औद्योगिक संस्था के कुल सदस्यों के समूह को संगठन माना जा सकता है। वे सब संस्था में कार्य कर रहे होते हैं तथा परस्पर सम्बन्ध भी किसी न किसी स्तर के रखते हैं। समाजशास्त्र की भाषा में इस प्रकार के अनौपचारिक संगठन को द्वैतीयक समूह कहा जाता है। इनमें पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होने के लिए एक संस्था की सदस्यता होना ही पर्याप्त होता है। सभी सदस्यों में परस्पर व्यक्तिगत रूप से सम्बन्ध रखना आवश्यक नहीं होता।

2. सामान्य हित के लिए संगठन—कर्मचारी अपने निजी हितों की दृष्टि से

जब संगठित हो जाते हैं तो उन्हें सामान्य हित के लिए अनौपचारिक संगठन कहते हैं जैसे श्रम संघ, एक जाति या भाषा या एक खेल खेलने वाले कर्मचारियों के संघ।

3. समान कार्य करने वालों के संगठन—एक संस्था में समान प्रकार के कार्य करने वाले कर्मचारियों में भी एक साथ काम करने से अनौपचारिक संगठन बन जाते हैं। ऐसे संगठन के सदस्यों में परस्पर सीधे सम्बन्ध होते हैं तथा सम्बन्धों में वैयक्तिकता होती है।

4. अन्य—इनके अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी बने संगठन पाये जाते हैं जैसे लिंग के आधार पर (महिलाओं के संगठन) एक परिवार के सदस्य होने के कारण पारिवारिक आधार पर बना औपचारिक संगठन आदि।

अनौपचारिक संगठन के कार्य
(Functions of Informal Organisation)

अनौपचारिक संगठनों के निम्नलिखित कार्य होते हैं।

1. सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा—संगठन के सदस्यों द्वारा जिन सांस्कृतिक मूल्यों को पसन्द किया जाता है, उनकी रक्षा इन संगठनों के द्वारा की जाती है।

2. समूह की एकता बनाये रखना—अनौपचारिक संगठन समूह की एकता एवं अखण्डता को बनाये रखने का कार्य करते हैं। सदस्यों द्वारा पालन की जाने वाली विधियाँ इनमें बनी रहती हैं।

3. सामाजिक सन्तोष प्रदान करना—अनौपचारिक संगठन एक व्यक्ति को सम्मान व मान्यता प्रदान करते है। एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकने का अवसर पाता है जिससे सदस्यों को सामाजिक सन्तोष (Social Satisfaction) प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए एक बड़े उपक्रम का एक लेखा लिपिक औपचारिक संगठन में सैंकड़ों लिपिकों में से एक होता है तथा वहाँ उसे कोई विशेष महत्व या मान्यता नहीं दी जाती लेकिन जब वह अपने मित्रों व परिचितों के समूह में बैठता है। सामाजिक क्रियाओं में भाग लेता है तो यहाँ उसे ज्यादा सम्मान व महत्व मिलता है जिससे उसे सामाजिक सन्तोष प्राप्त होता है। यह सन्तोष अनौपचारिक समूह द्वारा प्रदान किया जाता है।

4. सन्देशवाहन—अनौपचारिक संगठन सन्देशों के आदान प्रदान का कार्य भी करते हैं। सदस्यों के हितों को प्रभावित करने वाले सन्देश संगठन के सदस्यों के पास तुरन्त ही पहुँच जाते हैं।

5. व्यवहार नियंत्रित करना—अनौपचारिक संगठन सदस्यों के व्यवहार को संगठन के भीतर तथा संगठन के बाहर नियन्त्रित करता है। यदि कोई सदस्य अनुचित व गलत व्यवहार करता है तो अन्य सदस्यों द्वारा की जाने वाली टिप्पणी उसे उचित व्यवहार करने के लिए निर्देशित करती है।

अनौपचारिक संगठन का औपचारिक संगठन पर प्रभाव
(Impact of Informal Organisation on Formal Organisation)

अनौपचारिक संगठन के औपचारिक संगठन पर पड़ने वाले प्रभाव को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. प्रभावशाली नेतृत्व होना—एक औपचारिक संगठन का प्रबन्धक अपने संगठन के सदस्यों के साथ अनौपचारिक सम्बन्ध भी रखता है। वह सामान्यतः अच्छे सम्बन्ध होने पर अनौपचारिक संगठन में भी नेतृत्व करता है। वह अनौपचारिक संगठन में नेतृत्व अवश्य करता है लेकिन वहाँ उसके अधिकार संगठन के एक सामान्य सदस्य की ही तरह होते हैं। अतः वह ज्यादा विश्वास पाता है अतः औपचारिक संगठन में जिन उद्देश्यों की पूर्ति वह संगठन से करना चाहता है उन्हें वह अनौपचारिक संगठन में प्राप्त नेतृत्व एवं सदस्यता के माध्यम से अन्य सदस्यों को प्रेरित करने में प्रयोग कर सकता है। प्रबन्धक के सदस्यों के साथ अनौपचारिक सम्बन्ध उसके नेतृत्व को प्रभावशाली बना देते हैं।

2. उत्पादकता में वृद्धि—यदि अनौपचारिक संगठन ईमानदारी कर्मठता एवं लगन को मान्यता देता है तो इससे उसके सदस्यों के कार्य करने के ढंग पर तथा औपचारिक संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इससे औपचारिक संगठन की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है। अनौपचारिक संगठन सदस्यों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देता है जिससे सदस्यों का मनोबल बढ़ता है। उनमें पहल करने की क्षमता बढ़ती है। कार्य सन्तुष्टि मिलने पर अनुपस्थिति की दर भी कम होती है। इन सबके प्रभाव से औपचारिक संगठन की उत्पादकता में भी वृद्धि होती है।

3. आचरण एवं अनुशासन में सुधार—पर्यवेक्षक तथा प्रबन्धक कर्मचारियों के अनौपचारिक संगठन के भी सदस्य होते हैं अतः वे औपचारिक संगठन के नियमों व नीतियों के पालन कराने में सदस्यों को अधिक प्रेरित कर सकते हैं। अनौपचारिक संगठन यदि औपचारिक संगठन के नियमों व नीतियों को मान्यता प्रदान कर दे तो इससे संगठन में सदस्यों के आचरण एवं अनुशासन की स्थिति पर बहुत अच्छे प्रभाव पड़ते हैं।

4. सम्प्रेषण—अनौपचारिक संगठनों में सम्प्रेषण बड़ा शीघ्र एवं प्रभावशाली होता है। इनमें अंगूरीलता-सम्प्रेषण होता है। औपचारिक रूप से जिन सूचनाओं का प्रसारण बहुत विलम्ब से होता है वह अनौपचारिक रूप से संगठन के सदस्यों के पास तुरन्त ही पहुँच जाता है।

5. औद्योगिक कलह कम करने में सहयोग—यदि अनौपचारिक संगठन के नेताओं का विश्वास प्राप्त कर लिया जाय तो प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के मध्य उत्पन्न हुए बहुत से विवादों को पारस्परिक विचार विमर्श एवं सूझबूझ से दूर किया

जब संगठित हो जाते हैं तो उन्हें सामान्य हित के लिए अनौपचारिक संगठन कहते हैं जैसे श्रम संघ, एक जाति या भाषा या एक खेल खेलने वाले कर्मचारियों के संघ।

3. समान कार्य करने वालों के संगठन—एक संस्था में समान प्रकार के कार्य करने वाले कर्मचारियों में भी एक साथ काम करने से अनौपचारिक संगठन बन जाते हैं। ऐसे संगठन के सदस्यों में परस्पर सीधे सम्बन्ध होते हैं तथा सम्बन्धों में वैयक्तिकता होती है।

4. अन्य—इनके अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी बने संगठन पाये जाते हैं जैसे लिंग के आधार पर (महिलाओं के संगठन) एक परिवार के सदस्य होने के कारण पारिवारिक आधार पर बना औपचारिक संगठन आदि।

अनौपचारिक संगठन के कार्य
(Functions of Informal Organisation)

अनौपचारिक संगठनों के निम्नलिखित कार्य होते हैं।

1. सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा—संगठन के सदस्यों द्वारा जिन सांस्कृतिक मूल्यों को पसन्द किया जाता है, उनकी रक्षा इन संगठनों के द्वारा की जाती है।

2. समूह की एकता बनाये रखना—अनौपचारिक संगठन समूह की एकता एवं अखण्डता को बनाये रखने का कार्य करते हैं। सदस्यों द्वारा पालन की जाने वाली विधियाँ इनमें बनी रहती हैं।

3. सामाजिक सन्तोष प्रदान करना—अनौपचारिक संगठन एक व्यक्ति को सम्मान व मान्यता प्रदान करते है। एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकने का अवसर पाता है जिससे सदस्यों को सामाजिक सन्तोष (Social Satisfaction) प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए एक बड़े उपक्रम का एक लेखा लिपिक औपचारिक संगठन में सैकड़ों लिपिकों में से एक होता है तथा वहाँ उसे कोई विशेष महत्व या मान्यता नहीं दी जाती लेकिन जब वह अपने मित्रों व परिचितों के समूह में बैठता है। सामाजिक क्रियाओं में भाग लेता है तो यहाँ उसे ज्यादा सम्मान व महत्व मिलता है जिससे उसे सामाजिक सन्तोष प्राप्त होता है। यह सन्तोष अनौपचारिक समूह द्वारा प्रदान किया जाता है।

4. सन्देशवाहन—अनौपचारिक संगठन सन्देशों के आदान प्रदान का कार्य भी करते हैं। सदस्यों के हितों को प्रभावित करने वाले सन्देश संगठन के सदस्यों के पास तुरन्त ही पहुँच जाते हैं।

5. व्यवहार नियंत्रित करना—अनौपचारिक संगठन सदस्यों के व्यवहार को संगठन के भीतर तथा संगठन के बाहर नियन्त्रित करता है। यदि कोई सदस्य अनुचित व गलत व्यवहार करता है तो अन्य सदस्यों द्वारा की जाने वाली टिप्पणी उसे उचित व्यवहार करने के लिए निर्देशित करती है।

अनौपचारिक संगठन का औपचारिक संगठन पर प्रभाव
(Impact of Informal Organisation on Formal Organisation)

अनौपचारिक संगठन के औपचारिक संगठन पर पड़ने वाले प्रभाव को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **प्रभावशाली नेतृत्व होना**—एक औपचारिक संगठन का प्रबन्धक अपने संगठन के सदस्यों के साथ अनौपचारिक सम्बन्ध भी रखता है। वह सामान्यतः अच्छे सम्बन्ध होने पर अनौपचारिक संगठन में भी नेतृत्व करता है। वह अनौपचारिक संगठन में नेतृत्व अवश्य करता है लेकिन वहाँ उसके अधिकार संगठन के एक सामान्य सदस्य की ही तरह होते हैं। अतः वह ज्यादा विश्वास पाता है अतः औपचारिक संगठन में जिन उद्देश्यों की पूर्ति वह संगठन से करना चाहता है उन्हें वह अनौपचारिक संगठन में प्राप्त नेतृत्व एवं सदस्यता के माध्यम से अन्य सदस्यों को प्रेरित करने में प्रयोग कर सकता है। प्रबन्धक के सदस्यों के साथ अनौपचारिक सम्बन्ध उसके नेतृत्व को प्रभावशाली बना देते हैं।

2. **उत्पादकता में वृद्धि**—यदि अनौपचारिक संगठन ईमानदारी कर्मठता एवं लगन को मान्यता देता है तो इसमें उसके सदस्यों के कार्य करने के ढंग पर तथा औपचारिक संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इससे औपचारिक संगठन की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है। अनौपचारिक संगठन सदस्यों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देता है जिससे सदस्यों का मनोबल बढ़ता है। उनमें पहल करने की क्षमता बढ़ती है। कार्य सन्तुष्टि मिलने पर अनुपस्थिति की दर भी कम होती है। इन सबके प्रभाव से औपचारिक संगठन की उत्पादकता में भी वृद्धि होती है।

3. **आचरण एवं अनुशासन में सुधार**—पर्यवेक्षक तथा प्रबन्धक कर्मचारियों के अनौपचारिक संगठन के भी सदस्य होते हैं अतः वे औपचारिक संगठन के नियमों व नीतियों के पालन कराने में सदस्यों को अधिक प्रेरित कर सकते हैं। अनौपचारिक संगठन यदि औपचारिक संगठन के नियमों व नीतियों को मान्यता प्रदान कर दे तो इससे संगठन में सदस्यों के आचरण एवं अनुशासन की स्थिति पर बहुत अच्छे प्रभाव पड़ते हैं।

4. **सम्प्रेषण**—अनौपचारिक संगठनों में सम्प्रेषण बड़ा शीघ्र एवं प्रभावशाली होता है। इनमें अंगूरीलता-सम्प्रेषण होता है। औपचारिक रूप से जिन सूचनाओं का प्रसारण बहुत विलम्ब से होता है वह अनौपचारिक रूप से संगठन के सदस्यों के पास तुरन्त ही पहुँच जाता है।

5. **औद्योगिक कलह कम करने में सहयोग**—यदि अनौपचारिक संगठन के नेताओं का विश्वास प्राप्त कर लिया जाय तो प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों उत्पन्न हुए बहुत से विवादों को पारस्परिक विचार विमर्श एवं सूझबूझ से

जा सकता है। इससे हड़ताल व तालाबन्दी जैसी घटनायें बहुत कम होती हैं लेकिन इसके लिये अनौपचारिक संगठनों का सहयोग आवश्यक होता है।

यदि अनौपचारिक संगठनों का व्यवहार सहयोगपूर्ण न हो तथा उनके नेताओं का विश्वास प्राप्त न किया जा सकता हो तो ऐसी स्थिति में औपचारिक संगठन की कार्यक्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कुछ प्रबन्धक अनौपचारिक संगठनों को प्रबन्ध में बाधक भी मानते हैं तथा उन्हें समाप्त करने की बात सोचते हैं लेकिन इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। दमन की नीति अपनाने पर ये प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देते लेकिन प्रभावशाली ढंग से अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करते रहते हैं। जहाँ भी औपचारिक संगठन हैं वहाँ अनौपचारिक संगठन एक ही नहीं बल्कि एक से भी अधिक पाये जा सकते हैं। अतः संगठन व संस्था के हित में अनौपचारिक संगठनों का सहयोग लिया जाना चाहिए। ये संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में तथा संगठन को स्थाई रखने व विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

अनौपचारिक संगठन के लाभ
(Advantages of Informal Organisation)

अनौपचारिक सगठन के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. **औपचारिक संगठन के दोषों को दूर करता है**—औपचारिक संगठन में नीतियों, नियमों व विधियों की भरमार होती है। वे सदैव ही कर्मचारियों को प्रेरित नहीं करती लेकिन अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन की कमियों को दूर करते हैं तथा कर्मचारियों को कार्यशील बनाये रखते हैं।

2. **सन्तोष प्रदान करना**—अनौपचारिक संगठन अपने सदस्य को सम्मान व सन्तोष प्रदान करते हैं क्योंकि कर्मचारी को अनौपचारिक संगठन से मान्यता व महत्व प्रदान किया जाता है।

3. **सम्बन्धों में सुधार**—औपचारिक संगठन सदस्यों में एक दूसरे के साथ सहयोग करने व एक दूसरे की समस्याओं में भागीदार बनने की भावना का विकास करते हैं जिससे कर्मचारियों में अच्छे सम्बन्ध बने रहते हैं।

4. **प्रेरणा प्रदान करना**—अनौपचारिक संगठन कर्मचारियों को लगन व निष्ठा से कार्य करने के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं क्योंकि अच्छे कर्मचारी की अनौपचारिक संगठन में भी प्रशंसा की जाती है।

5. **प्रबन्धकों पर नियंत्रण**—अनौपचारिक संगठनों के प्रभावशाली होने पर संस्था के प्रबन्धक भी सावधानी से कार्य करते हैं क्योंकि अनौपचारिक संगठनों के विरोध को वे भी अच्छा नहीं मानते।

जॉसेफ लिटरर (Joseph Litterer) के अनुसार "मानवीय जीवन में अनौपचारिक संगठनों का महत्वपूर्ण स्थान है तथा वे सम्पूर्ण संगठन का एक आवश्यक भाग हैं।" किसी भी उपक्रम के औपचारिक संगठन की कार्यकुशलता के लिये अनौपचारिक संगठन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

अनौपचारिक संगठन के दोष
(Disadvantages of Informal Organistion)

अनौपचारिक संगठन के अच्छे प्रभावों व लाभों का वर्णन ऊपर किया गया है लेकिन इनके कुछ दोष भी हैं जिनके प्रति प्रबन्धकों को सावधान रहने की आवश्यकता है जिससे कि इनके दोषों से बचा जा सके। इनके प्रमुख दोष निम्न-लिखित हैं—

1. परिवर्तनों का विरोध (Resistance to change)—जैसा कि कार्यों में बताया गया है कि ये संस्कृति (Culture) को स्थाई रखते हैं तथा जीवन के ढंग को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। अतः किसी भी परिवर्तन के समक्ष एक चट्टान के समान होते हैं। वे जिसके अभ्यस्त हो गये हैं वह उनका एक अपना ढंग हो जाता हैं तथा उसे बनाये रखना चाहते हैं। अनौपचारिक संगठन किन्ही औपचारिक सीमाओं से बाधित नहीं होता लेकिन वे अपनी रीतियों, परम्पराओं व संस्कृति से बँधे होते है अतः परिवर्तनों का विरोध करते हैं। स्वचालित यन्त्रों, श्रम विभाजन एवं प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी आदि का उत्पादकता पर तथा श्रमिक पर अच्छा प्रभाव पड़ता है लेकिन इनका भी अनौपचारिक संगठनों द्वारा विरोध किया गया है। इसलिये यह आवश्यक होता है कि नवीनता एवं परिवर्तन लाने के पूर्व अनौपचारिक संगठनों की विचारधारा को विकासोन्मुखी करने का अनौपचारिक स्तर से ही प्रयास किया जाय।

2. उद्देश्यों में विरोधाभास (Role conflict)—अनौपचारिक संगठन सदस्यों को सामाजिक सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। कीथ डेविस के अनुसार, "सामाजिक सन्तुष्टि की अभिलाषा संस्था के उद्देश्यों के विपरीत भी हो सकती है। जो कर्मचारी के लिए अच्छा है वह सदैव ही संगठन के लिए अच्छा नहीं होता।"[1] कॉफी पीने के लिए अवकाश देना उचित हो सकता है लेकिन यदि कर्मचारी उस पर अतिरिक्त आधा घण्टा सामाजिक सन्तुष्टि के लिये खर्च करता है तो यह कर्मचारी, नियोक्ता तथा सामान्य जनता के भी हितों के विपरीत प्रभाव डालती है। सामान्यतः कर्मचारी अपने समूह की आवश्यकताओं तथा अपने नियोक्ता की आवश्यकताओं दोनों को ही सन्तुष्ट करना चाहता है लेकिन बहुधा ये एक दूसरे के विरोध में आ जाते हैं तथा यह संगठन के हितों की अपेक्षा अपने अनौपचारिक समूह की सन्तुष्टि के प्रति ज्यादा इच्छुक होता है। अतः यह आवश्यक होता है कि अनौपचारिक संगठन में पारस्परिक हित की भावना जागृत की जाय तथा औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन के हितों में एकता एवं समन्वय लाया जाय।

1. "The quest for group satisfactions may lead members away from organisational objectives. What is good for the empl is not always good for the organisation."

—*Keith Dav*

3. अफवाहें (Rumours)—सन्देश प्रसारित करना भी अनौपचारिक संगठनों का महत्वपूर्ण कार्य होता है लेकिन सही सन्देशों के अतिरिक्त कभी कभी बहुत सी अफवाहें भी प्रसारित हो जाती हैं। निराधार अफवाहें जिन पर अनौपचारिक समूह के सदस्यों द्वारा बड़ी तेजी से विश्वास कर लिया जाता है, संस्था के लिए बड़ी जटिल समस्या पैदा कर देती है। अनौपचारिक समूहों में अंगूरीलता (Grapevine) सन्देशवाहन होता है। सदस्य अपने तरीके से तथा सामाजिक भेंट व सामान्य मिलन के क्षणों में सम्प्रेषण होता है जिससे बड़ी तेजी से प्रसारित हो जाता है। यदि कोई गलत बात प्रसारित हो जाती है तो उसका खण्डन करने में संस्था के प्रबन्धकों को बड़ी कठिनाई आती है। कर्मचारियों की छंटनी, बोनस कम देने का प्रबन्धकों का निर्णय, आदि के बारे में अनेक बार निराधार अफवाहें प्रसारित हो जाती हैं जिनसे उत्पादकता व कर्मचारियों के मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा प्रबन्धकों व कर्मचारियों में मतभेद एवं सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं।

4. विरोधी विचार—अनेक बार अनौपचारिक संगठन में विरोधी विचार वाले व्यक्ति भी सम्मिलित हो जाते हैं लेकिन वे अपनी आलोचनात्मक नीतियों तथा विरोधी विचारों के कारण अनौपचारिक संगठन या समूह में अधिक समय तक नहीं रहते। लेकिन वे अपने अनौपचारिक समूह में हुए मतभेदों के कारण औपचारिक संगठन में भी असहयोगपूर्ण व्यवहार अपनाते हैं जिसका उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

5. भीड़ तंत्र—अनौपचारिक संगठन भीड़ तन्त्र को भी बढ़ावा देते हैं, बहुत से कर्मचारी उचित अनुचित का ध्यान रखे बिना वही करने लगते हैं जो समूह के अधिक लोगों द्वारा किया जा रहा है। भीड़ सदैव ही उचित कार्य नहीं करती।

अनौपचारिक संगठनों को प्रभावित करना
(Influencing Informal Organisation)

एक संस्था का प्रबन्ध न तो अनौपचारिक संगठनों की स्थापना करता है और न यह उनका उन्मूलन ही कर सकता है लेकिन प्रत्येक संस्था में अनौपचारिक संगठन स्वतः बन जाते हैं तथा संस्था के कार्यों को प्रभावित करते हैं। अतः संस्था के प्रबन्धकों को अनौपचारिक संगठनों को प्रभावित करने हेतु आवश्यक उपचार प्रयोग में लाने चाहिए। इन्हें प्रभावित करने हेतु निम्न कार्य किए जा सकते हैं—

1. समझना एवं स्वीकार करना (To accept and understand)—प्रबन्धकों को अनौपचारिक संगठनों को समझना चाहिए। इनके निर्माण के आधार को समझना चाहिए, अनौपचारिक संगठन द्वारा जिन मूल्यों व विश्वासों को महत्व दिया जाता है उसे समझना चाहिए तथा अनौपचारिक संगठन को मान्यता व स्वीकृति दी जानी चाहिये। इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए और न इनको नष्ट करने की ही बात सोचनी चाहिए, बल्कि इनका विश्वास प्राप्त करने का प्रयास

किया जाना चाहिए। इससे अनौपचारिक संगठन के सदस्यों का विश्वास व सहयोग प्राप्त होगा तथा उनके विचारों को स्पष्ट रूप से समझना सम्भव होगा। इसके फलस्वरूप औपचारिक संगठन जहाँ कि अनौपचारिक संगठन के सदस्य ही कर्मचारी होते हैं ज्यादा प्रभावशाली रीति से काम कर सकेगा।

2. सम्भवीय प्रभावों पर विचार करना—जब कभी भी कोई परिवर्तन लाया जाय या कोई कार्य किया जाय तो उसके सम्भवीय प्रभाव अनौपचारिक समूह पर क्या होंगे इसे कार्य करने या परिवर्तन लाने के पूर्व ही विचार कर लेना चाहिए। इससे इन समूहों में आवश्यक होने पर अनुकूल जनमत बनाने पर विचार किया जा सकता है।

3. हितों में एकता स्थापित करना—जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक औपचारिक संगठन एवं अनौपचारिक संगठन के हितों में एकरूपता लाने का प्रयास करना चाहिये। हितों में एकता होने पर कर्मचारियों का सहयोग ज्यादा अच्छा मिलता है। उन्हें लगन से कार्य करने की प्रेरणा मिलती है तथा उनका मनोबल बढ़ता है।

4. अनावश्यक धमकी न देना—औपचारिक क्रियाओं में कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे अनौपचारिक संगठन के लिए दमन व धमकी की बात जान पड़े। कीथ डेविस के अनुसार, "प्रबन्धकों द्वारा सामान्य रूप में अनौपचारिक संगठन को धमकी देने वाली औपचारिक क्रिया न की जानी चाहिए।"[1]

5. अनौपचारिक मिलन—अनौपचारिक संगठनों को प्रभावित करने के लिये एवं उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सदस्यों को प्रेरित करने की दृष्टि से औपचारिक संगठन के प्रबन्धकों को कर्मचारियों के अनौपचारिक संगठन के सदस्यों व इनके नेताओं से अनौपचारिक भेंट व मिलन करते रहना चाहिए। इससे अनौपचारिक संगठन के सदस्यों में प्रसारित बहुत सी गलत अफवाहों का खण्डन सरलता से हो जाता है तथा सही सूचनाएँ सदस्यों को दी जा सकती है।

6. औपचारिक संगठन की प्रमुखता को बनाए रखना—प्रबन्धकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अनौपचारिक व्यवस्था औपचारिक संगठन की अपेक्षा द्वितीय स्थान ही रखे अन्यथा दीर्घकाल में छोटे उद्देश्यों की पूर्ति में नियोक्ता या संस्था के हितों व उद्देश्यों की उपेक्षा की जा सकती है। जब औपचारिक संगठन कार्य करने में कमजोर होता है तो अनौपचारिक संगठन मजबूत होने को प्रेरित होता है जिससे कि वह औपचारिक व्यवस्था की कमी को पूरा करके समूह को संगठित रख सके। इससे बाद में प्रबन्धक के समक्ष विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं अतः औपचारिक संगठन को सुदृढ़ रखने का भी आवश्यक प्रयास किया जाना चाहिए। इसका यह आशय नहीं

1. "To keep formal activities from unnecessarily threatening informal organisation in general." —*Keith* [illegible]

है कि प्रबन्ध तानाशाह हो जाय तथा अनौपचारिक व्यवस्था को दबाने का प्रयास करे। इससे तो अनौपचारिक संगठन और शक्तिशाली बनते हैं जिससे कि तानाशाही प्रवृत्तियों का जमकर मुकाबला किया जा सके। इससे मतभेद व कलह बढ़ते हैं तथा उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः उचित यही है कि औपचारिक संगठन को सुदृढ़ रखते हुए तथा अनौपचारिक संगठनों को प्रतिद्वन्द्वी व उपक्रम के लिये घातक न समझते हुए उनके महत्व को भी मान्यता दी जाय। कीथ डेविस के अनुसार, "औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों का उपयुक्त संयोग ऐसी प्रमुख औपचारिक व्यवस्था से है जो उद्देश्यों में एकता बनाये रखे साथ में एक अच्छी विकसित अनौपचारिक व्यवस्था हो जो समूह की एकता व समूह के कार्य को बनाये रखे। अन्य शब्दों में अनौपचारिक संगठन सुरक्षा प्रदान करने हेतु पर्याप्त रूप से सुदृढ़ होने चाहिये लेकिन इतने अधिक सुदृढ़ नहीं जो प्रभुत्व रखें।"[1]

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों की तुलना
(Comparison Between Formal and Informal Organisation)

एक व्यावसायिक उपक्रम में पाये जाने वाले औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन का वर्णन पूर्व पृष्ठों में किया गया है जिससे इनकी विशेषताओं एवं कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। दोनों ही प्रकार के संगठन एक उपक्रम में पाये जाते हैं तथा इनके सदस्य भी वे ही व्यक्ति हैं जो उपक्रम में सेवारत हैं लेकिन इस सब के बाद भी इनमें बहुत अन्तर पाया जाता है। इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० व्हाइट (White) ने बताया है कि, "अनौपचारिक संगठन अधिक जटिल होते हैं। यह अनेक बातों में जाति एवं भाषा की भिन्नता, शैक्षणिक स्तर, व्यक्तिगत रुचियाँ एवं अरुचियाँ आदि को प्रतिबिम्बित करता है। यह रीति रिवाजों पर आधारित है तथा अविनियम द्वारा प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता है। यह लिखित भी नहीं होता है और इसे स्वच्छ रेखाचित्रों द्वारा भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। औपचारिक संगठन की प्रवृत्ति विवेकशील एवं अवैयक्तिक बनने की होती है, जबकि अनौपचारिक संगठन की प्रवृत्ति भावात्मक एवं वैयक्तिक होती है। प्रायः ये एक-दूसरे को समेट लेते हैं, एक दूसरे से समन्वित हो सकते हैं या बहुत दूर-दूर भी हो सकते हैं।"[2] इन दोनों

1. "The most desirable combination of formal and informal organisations appears to be a prodominant formal system to maintain unity towards objectives, along with a well developed informal system to maintain group cohesiveness and team work. In other words, the informal organization needs to be strong enough to be supportive, but not strong enough to dominate." —*Keith Davis*

2. *L.D. White* : Introduction to the Study of Public Administration.

प्रकार के संगठनों की तुलना एवं अन्तर का स्पष्टीकरण निम्न आधारों पर किया जा सकता है—

1. उत्पत्ति—औपचारिक संगठनों की उत्पत्ति जानबूझ कर की जाती है तथा इनके निर्माण के लिये एक निश्चित नीति एवं सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है लेकिन अनौपचारिक संगठनों की उत्पत्ति कर्मचारियों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप होती है।

2 रूप—औपचारिक संगठन आदर्श रूप में रखा जाने का प्रयास रहता है। यह रेखा संगठन, रेखा एवं कर्मचारी संगठन या क्रियात्मक संगठन आदि में से किसी भी रूप में हो सकता है लेकिन अनौपचारिक संगठन अपने वास्तविक रूप में ही रहते हैं। वह रूप आदर्श हो यह आवश्यक नहीं।

3. उद्देश्य—औपचारिक संगठन का उद्देश्य, संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है जब कि अनौपचारिक संगठन का उद्देश्य सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त करना होता है।

4. आवश्यकता—प्रत्येक संस्था में औपचारिक संगठन स्थापित करना आवश्यक होता है लेकिन अनौपचारिक संगठनों का निर्माण करना अनिवार्य नहीं होता।

5. आकार—अनौपचारिक संगठन का आकार संस्था के कार्यों के आधार पर होता है तथा असीमित रूप से बड़ा हो सकता है। अनौपचारिक संगठन प्रायः [illegible] होते हैं।

6. आधार—औपचारिक संगठन का आधार कार्य एवं अधिकार है जबकि अनौपचारिक संगठन के निर्माण का आधार कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं।

7. विधि—औपचारिक संगठन का निर्माण योजना के अनुसार एक निश्चित विधि से किया जाता है लेकिन अनौपचारिक संगठन का निर्माण स्वतः ही हो जाता है किसी पूर्वनिर्धारित रीति व विधि से निर्मित नहीं होते।

8. परिभाषित अधिकार एवं कर्तव्य—औपचारिक संगठन में प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार एवं कर्तव्य लिखित रूप में परिभाषित कर दिये जाते हैं लेकिन अनौपचारिक संगठन में सदस्यों के अधिकार एवं कर्तव्य लिखित रूप में परिभाषित नहीं किये जाते।

9. अधिकारों का प्रवाह—अनौपचारिक संगठन में अधिकार ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं जबकि अनौपचारिक संगठन में अधिकार नीचे से ऊपर की ओर या समतल रूप में चलते हैं।

10. अधिकार—मेन्सफील्ड एवं मार्क्स (Mansfield and Marx) के अनुसार "औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन के मध्य मुख्य अन्तर अधिकार एवं प्रभाव का अन्तर है।" एक औपचारिक संगठन में औपचारिक अधिकार रहते हैं

जिनके प्रत्यायोजित करने व प्रयोग करने में औपचारिकताओं का पालन करना आवश्यक होता है जबकि एक अनौपचारिक संगठन में व्यक्तियों के मध्य अनौपचारिक अधिकार ही होते हैं तथा उनके प्रयोग करने के लिए भी औपचारिकताओं का पालन नहीं किया जाता।

11. स्थायित्व—औपचारिक संगठन अधिक स्थायी होते हैं तथा दीर्घकाल तक चलते हैं जबकि अनौपचारिक संगठन कम स्थायी होते हैं। ये किसी भी समय समाप्त हो जाते हैं या परिवर्तित हो जाते हैं।

12. संस्या—एक संस्था में एक ही औपचारिक संगठन पाया जाता है जो विभागों व उपविभागों में विभाजित होता है लेकिन अनौपचारिक संगठन एक संस्था में अनेक हो सकते हैं।

13. योगदान—औपचारिक संगठन संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष रूप से योगदान देते हैं जबकि अनौपचारिक संगठन संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में अप्रत्यक्ष रूप से योगदान देते हैं।

8

मानवीय सम्बन्ध दृष्टिकोण, मेयो और हॉथोर्न अध्ययन

(Human Relations Approach, Mayo and Hawthorne Studies)

औद्योगिक क्रान्ति ने वृहत पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव कर दिया। उत्पादन के लिए स्वचालित यन्त्रों से सुसज्जित कारखानों में वैज्ञानिक तकनीकी विधियों से वस्तुएं निर्मित की जाती हैं। इनमें बड़े पैमाने पर शक्ति चलित मशीनें, माल व मानव प्रयोग किये जाते हैं लेकिन मानव, मशीन व माल की भांति एक निर्जीव साधन नहीं है बल्कि बुद्धि, विवेक व भावनाओं से युक्त एक सजीव साधन है। अतः मानव के साथ मशीन व माल के साथ किया जाने वाला व्यवहार नहीं अपनाया जा सकता। उत्पादकता बढ़ाने व नैतिक स्तर पर मानव की भावनाओं का सम्मान करने के लिए उनके साथ भिन्न प्रकार का व्यवहार करना आवश्यक होता है। आज की औद्योगिक व्यवस्था में यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि उद्योग में नियोजित कर्मचारियों के साथ उनकी भावनाओं, आकांक्षाओं व रुचियों को समझते हुए तथा उनके हितों को ध्यान रखते हुए, व्यवहार किया जाय। औद्योगिक प्रबन्ध में विकसित इसी विचारधारा को मानवीय सम्बन्धों का दर्शन कहा जाता है।

मानवीय सम्बन्ध का अर्थ
(Meaning of Human Relations)

मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा एक नवीन विचारधारा है तथा व्यापक अर्थ रखती है। इसके अर्थ को स्पष्ट करने हेतु इसे विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषित किया गया है। यहां कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख किया जा रहा है—

1. श्री बी. के. कालसी के अनुसार, "उद्योग में मानवीय सम्बन्ध को अधिकतम उत्पादकता एवं अधिकतम मानवीय सन्तोष के मध्य एक सर्वोत्तम सम्बन्ध

के रूप में परिभाषित किया जाता है।.........यह मानव के विकास करने की समस्या है, न कि तकनीकों या दक्षताओं के विकास की।"[1]

2. मी जोन एफ. के अनुसार, "मानवीय सम्बन्ध एक साधन है जिसकी सहायता से दोनों—कर्मचारी एवं कम्पनी उच्च मनोबल द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं जो कि अन्ततः सभी व्यवसाय एवं उद्योगों का आर्थिक उद्देश्य है।"[2]

3. फ्रेड जे. कारवेल के शब्दों में "मानवीय सम्बन्ध मनुष्यों को उत्पादकीय ढंग से और सहकारिता से एक साथ कार्य करने के लिए जबकि वे आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पारितोषणों को प्राप्त कर रहे हैं, प्रेरित करना सम्मिलित करता है।"

4. स्कॉट के अनुसार, "प्रबन्ध मानवीय सम्बन्ध का प्रयोग व्यवसाय में मानवीय सन्तुष्टि और मानवीय संघर्ष की असुलझी हुई समस्याओं के समाधान के लिए करता है।"[3]

5. कीथ डेविस के अनुसार, "प्रबन्ध पद्धतियों के क्षेत्र में मानवीय सम्बन्ध व्यक्तियों का कार्य के साथ समन्वय है, जो उन्हें उत्पादकीय ढंग से, सहकारिता से और आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सन्तुष्टि से कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करती है।"[4]

1. "Human relations in industry are defined as the optimum relation between maximum productivity and maximum satisfaction.........It is a problem of developing men and not techniques or skill."
—*B. K. Kalsi* : 'Personnel officer' Raptakos Brett and Co., Bombay.

2. "Human relations is the medium through which both employees and the company mutually co-operate to achieve more production through high moral, which after all, is the economic purpose of all business and industries."
—*Mee John F.* : Personnel Handbook, p. 893.

3. "Management uses human relations to determine a cause of action for unravelling problems of human conflict and human satisfaction in business."
—*W. G. Scott.* : "Human Relations in Management."

4. "Human relations as an area of management practice is the integration of people into a work situation in a way that motivates them to work together, productively, cooperatively and with economic, psychological, and social satisfaction."
—*Keith Davis* : Human Relations in Business.

6. राबर्ट सेल्टनस्टॉल के अनुसार, "मानवीय सम्बन्ध कार्य करने वाले व्यक्तियों का अध्ययन है।...... प्रबन्धक का मुख्य कार्य कर्मचारियों एवं कार्य में समन्वय स्थापित करना है। प्रभावी ढंग से नेतृत्व करने के लिए उसे मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान होना चाहिए तथा उसे जानना चाहिए कि सामूहिक कार्य से किस प्रकार अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।...... मानवीय सम्बन्धों का उचित ज्ञान उसे ऐसा करने में सहायता देगा।"[1]

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "मानवीय सम्बन्ध विचारधारा के कार्य पर मानवीय व्यवहार का अध्ययन है। यह कर्मचारी-मनोबल तथा कार्य सन्तुष्टि में सुधार हेतु उचित नीतियों व तकनीकों के अपनाने पर जोर देती है। यह एक उपागम (Approach) है जो प्रबन्ध की सफलता के लिये आवश्यक माना जाता है।"

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर मानवीय सम्बन्धों की विचार धारा की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

1. मानवीय सम्बन्ध उपक्रम में लगे व्यक्तियों को अभिप्रेरित करने की प्रक्रिया है।

2. यह आर्थिक और यान्त्रिक क्रियाओं के स्थान पर मनुष्यों पर अधिक ध्यान देने पर जोर देती है।

3. मनुष्य एक असंगठित सामाजिक वातावरण का अंग नहीं है बल्कि संगठनात्मक वातावरण का अंग है।

4. कार्य के द्वारा मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्तोष मिलना चाहिए।

5. सन्तुष्ट व्यक्ति का मनोबल ऊँचा होता है तथा वह अधिक लगन व निष्ठा से कार्य करता है जिससे उत्पादकता बढ़ती है।

मानवीय सम्बन्धों का उद्देश्य

(Objectives of Human Relations)

इस भौतिकवादी व्यवस्था में मानवीय सम्बन्धों का उद्देश्य सम्पन्नता की बढ़ती हुई आकांक्षाओं के मध्य मानवीय दृष्टिकोण अपनाने व कार्यरत कर्मचारियों को सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्तोष प्रदान करने में है। इसका उद्देश्य कार्य

1. "Human Relations is a study of people in action........ the main function of the Manager is to co-ordinate the work amongest workers. Effective leadership needs knowledge of Human Relations.........An appropriate knowledge of human relations will help him to do so."
—*Robert Saltonstall.* : Human Relations in Adminisl

एवं कर्मचारियों को इस प्रकार एकीकृत करना है कि उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सके, वे पूर्ण क्षमता से कार्य कर सकें तथा अपने कार्य से सन्तोष प्राप्त कर सकें।

मनुष्य किसी मशीन के पुर्जे की भाँति नहीं है बल्कि एक सजीव, बुद्धि एवं विवेक से युक्त, सुख व दुख की भावनाओं को अनुभव करने वाला सामाजिक प्राणी है। अतः प्रबन्ध के क्षेत्र में जिसका सम्बन्ध मानवीय साधन से होता है, मानवीय सम्बन्धों का उद्देश्य प्रबन्धकीय निर्णयों को मानवोचित बनाना है जिससे अधिकतम मानवीय सन्तोष व अधिकतम उत्पादकता प्राप्त हो सके तथा संगठन के उद्देश्यों एवं कर्मचारियों के वैयक्तिक व सामूहिक हितों में समन्वय उत्पन्न हो सके।

मानवीय सम्बन्धों की मान्यताएं
(Assumptions of Human Relations)

मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इन मान्यताओं को दो भागों में मिभाजित किया जा सकता है।

1. सामान्य मान्यतायें (General Assumptions)
2. क्रियात्मक मान्यतायें (Action–designed Assumptions)

1. सामान्य मान्यतायें

इनके अन्तर्गत यह माना जाता है कि—

(i) मानव सम्बन्ध अन्तः अनुशासित (Interdisciplinary) व्यवस्था है क्योंकि हर क्षेत्र में मानव किसी न किसी रूप में प्रभावित होता है।

(ii) विभिन्न विज्ञानों का मानवीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है लेकिन मानवीय सम्बन्ध इन सब विज्ञानों से ऊपर है।

(iii) विभिन्न विज्ञानों का सूक्ष्म अध्ययन मानवीय समस्याओं के सुलझाने में सहायता देता है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान व सामाजिक मनोविज्ञान मानवीय सम्बन्धों का मेरुदण्ड है। अर्थशास्त्र एवं गणित जैसे विज्ञान भी मानवीय समस्याओं के सुलझाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

2. क्रियात्मक मान्यतायें

(i) अच्छे मानवीय सम्बन्धों का निर्माण प्रबन्धक के ढंग व प्रबन्धक के अनुभव व योग्यता पर निर्भर करता है।

(ii) प्रबन्ध में कर्मचारियों की सहभागिता से समस्याओं का समाधान सरल होता है।

(iii) प्रबन्धक के कार्य मानवीय सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। उसके कार्य कार्योन्मुख (Job-oriented) तथा अनौपचारिक समूहोन्मुख (Informal group-oriented) हो सकते हैं। कर्मचारी एवं उनके समूह के साथ किया जाने वाला व्यवहार सम्बन्धों पर प्रभाव डालता है।

(iv) सन्देशवाहन की व्यवस्था संगठन का स्नायु तन्त्र (Nervous system) कहा जाता है। अच्छे मानवीय सम्बन्धों को कुशल सन्देशवाहन की व्यवस्था द्वारा स्थापित किया जा सकता है।

(v) संगठन की सफलता के लिए कर्मचारियों में समूह-भावना (Team Spirit) जाग्रत की जानी चाहिए।

(vi) मानवीय आवश्यकताओं के होने एवं उनके पूरा होने पर सन्तोष मिलने के आधार पर कर्मचारियों को अधिक कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जा सकता है।

(vii) कारखाने में जहाँ अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं एक सामाजिक व्यवस्था बन जाती है अतः वहाँ कर्मचारी के साथ मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए।

(viii) प्रबन्धकों व अधिकारियों को मानवीय सम्बन्धों की जानकारी एवं प्रशिक्षण उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि कर सकता है। इससे मानवीय समस्याओं को समझना सरल होता है।

हेरल्ड जे. लेविट (Harold J. Leavitt) ने मानवीय सम्बन्धों की मान्यताओं को दो भागों में विभाजित किया है—(i) परम्परागत मान्यतायें—जो आर्थिक आवश्यकताओं, नियोक्ता एवं कर्मचारी के हितों में समानता व मनुष्य के विवेकशील होने को स्वीकार करती है। (ii) आधुनिक मान्यतायें—जो मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं सामाजिक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से कर्मचारी के अभिप्रेरित होने की बात को स्वीकार करती है। सूक्ष्म में मानवीय सम्बन्ध की विचारधारा की मान्यताओं को निम्न प्रकार से बताया जा सकता है—

1. प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकतायें अनुभव होती हैं तथा वह उन्हें सन्तुष्ट करना चाहता है।
2. मनुष्य धन के अतिरिक्त सम्मान व सद्व्यवहार भी चाहता है।
3. प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक एवं सामाजिक स्थिति में अन्तर होता है।
4. नियोक्ता एवं कर्मचारियों के हित समान होते हैं।
5. व्यवसाय भी एक सामाजिक संगठन है।
6. व्यावसायिक उपक्रम में औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन होते हैं।
7. मनुष्यों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार में भिन्नता होती है।
8. कर्मचारियों को मौद्रिक एवं अमौद्रिक प्रलोभनों से अभिप्रेरित किया जा सकता है।
9. कर्मचारी कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता व आत्मनिर्भरता पसन्द करते हैं।
10. प्रत्येक व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा पाना चाहता है।
11. प्रबन्ध में कर्मचारियों की सहभागिता कर्मचारियों को सन्तोष प्रदान करती है।
12. सन्देशवाहन की अच्छी व्यवस्था उपयोगी होती

13. प्रबन्धकों को प्रशिक्षित करके उनकी कुशलता को बढ़ाया जा सकता है।

14. मानवीय सम्बन्ध अनेक विषय जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र व मनोविज्ञान आदि से प्रभावित होते हैं।

15. अच्छे मानवीय सम्बन्ध उत्पादकता व कुशलता बढ़ाने में सहायता प्रदान करते हैं।

मानवीय सम्बन्धों के सिद्धान्त
(Principles of Human Relations)

अच्छे मानवीय सम्बन्धों के विकास के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। श्री अर्ल पी० स्ट्रांग (Earl P. Strong) ने निम्न छः निर्देशक सिद्धान्त बताये हैं—

(i) वैयक्तिक व्यवहार का सिद्धान्त
(ii) सहभागिता एवं मान्यता का सिद्धान्त
(iii) समूह कार्य एवं समूह प्रयत्नों का सिद्धान्त
(iv) प्रजातान्त्रिक वातावरण का सिद्धान्त
(v) अभिप्रेरणा का सिद्धान्त
(vi) अनुकूल अभिवृत्तियों का सिद्धान्त

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में अमेरिका के मानव शक्ति आयोग ने मानवीय सम्बन्धों के निर्माण हेतु निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे—

1. कर्मचारियों के साथ मानविक व्यवहार का सिद्धान्त
2. कर्मचारियों के सम्मान का सिद्धान्त
3. कर्मचारियों की योग्यता के अधिकतम उपयोग का सिद्धान्त
4. भावी परिवर्तनों की पूर्व सूचना का सिद्धान्त
5. कर्मचारियों को स्वयं को तथा सहयोगियों को समझने का अवसर देने का सिद्धान्त।

इस प्रकार मानवीय सम्बन्धों को सौहार्दपूर्ण बनाये रखने के लिये अनेक सिद्धान्त बताये गये हैं। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है।

1. व्यक्तिगत भावनाओं को महत्व देने का सिद्धान्त (Principle of giving importance to individual feelings)—व्यक्ति एक विवेकशील एवं सजीव उत्पादन का साधन है। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने विचार एवं भावनायें होती हैं। अर्ल पी. स्ट्रांग के अनुसार, कर्मचारी की भावनाओं को महत्व दिया जाना चाहिए। प्रबन्धकों द्वारा किया जाने वाला व्यवहार कर्मचारियों की भावनाओं के अनुरूप होना चाहिए। प्रबन्धकों द्वारा कोई निर्णय लेने के पूर्व कर्मचारियों की भावनाओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके निर्णय केवल 'कार्य केन्द्रित' ही न हों बल्कि 'कर्मचारी केन्द्रित' भी होने चाहिए। इससे कर्मचारियों को महत्व प्राप्त होता है तथा उसके स्वाभिमान की भावना सन्तुष्ट होती है। वह अपने को

संगठन का एक महत्वपूर्ण अंग समझने लगता है। उसमें संगठन एवं संस्था के प्रति एक अपनत्व की भावना इससे जाग्रत होती है तथा अच्छे सम्बन्धों की स्थापना होती है।

2. सामान्य हित का सिद्धान्त (Principle of Common Interest)—प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों द्वारा यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि दोनों के हित समान हैं। दोनों ही का कल्याण एवं उन्नति उस उपक्रम की सफलता एवं विकास पर आधारित है। उन्हें निजी स्वार्थ की भावना से नहीं बल्कि सबके हित एवं कल्याण की बात सोचनी चाहिए। यदि दोनों के हित समान होंगे तथा संस्था की उन्नति एवं सफलता चाहेंगे तो दोनों ही पक्ष पूर्ण सहयोग, निष्ठा एवं ईमानदारी से कार्य करेंगे तथा अधिक लाभ होने पर दोनों ही लाभान्वित भी होंगे। अतः दोनों ही पक्षों को सामान्य हित के लिए कार्य करना चाहिए।

3. कार्य मान्यता का सिद्धात (Principle of Work Recognition)—प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को महत्वपूर्ण मानता है तथा वह चाहता है कि अन्य व्यक्ति उसे स्वीकार करें तथा मान्यता प्रदान करें। अतः यह आवश्यक है कि प्रबन्धकों द्वारा कर्मचारी के कार्य को स्वीकार किया जाय तथा उसकी प्रशंसा की जाय। यदि कुछ त्रुटियाँ हों तो उनके सुधार हेतु आवश्यक सुझाव भी दिए जाएँ। यदि कर्मचारियों के कार्य को महत्व नहीं दिया जाता है तो उसे निराशा अनुभव होती है तथा वह अपने कार्य में उपेक्षापूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है। अतः यह आवश्यक है कि कर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले कार्य को मान्यता प्रदान की जाय।

4. पारस्परिक मान्यता का सिद्धांत (Principle of Mutual Recognition)—एक व्यावसायिक उपक्रम के संगठन में अनेक वर्ग कार्य करते हैं—पूँजीपति, प्रबन्धक, अधिकारी व श्रमिक। इन सबके सहयोग से ही संस्था कार्य में समर्थ होती है। अतः यह आवश्यक है कि ये सभी एक दूसरे की आवश्यकता तथा महत्व को मान्यता प्रदान करें। बिना सबके योगदान के सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती अतः संस्था में लगे सभी वर्गों को परस्पर एक दूसरे का सम्मान करना चाहिए व परस्पर सद्भाव व सहयोग स्थापित करना चाहिए।

5. सम्प्रेषण का सिद्धांत (Principle of Communication)—सम्प्रेषण के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह आवश्यक होता है कि संस्था में द्विमार्गी सम्प्रेषण की सुव्यवस्थित व्यवस्था हो। प्रबन्धकों के आदेश व निर्देश सही रूप में तथा समय पर कर्मचारियों को प्राप्त हो सकें। इसके साथ ही कर्मचारियों को भी यह सुविधा होनी चाहिए कि वे अपनी कठिनाइयों व सुझावों को प्रबन्धक तक सुविधा से प्रेषित कर सकें। यदि परस्पर सम्प्रेषण की व्यवस्था ठीक नहीं होगी तो इससे कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के मध्य अनेक सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं जिनका कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सही व समय पर सूचनाओं के विनिमय से कार्य सरल हो जाता

है, निर्णय शीघ्र लिये जाते हैं, तथा उनका क्रियान्वयन भी समय पर हो जाता है। इससे कर्मचारियों के मनोवल पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

6. समूह भावना के प्रोत्साहन का सिद्धांत (Principle of Encouraging Team Spirit)—जिस प्रकार से खेल के मैदान में एक टीम या समूह के समस्त खिलाड़ी खेल में विजय प्राप्त करने के लिए एकीकृत भावना से खेलते हैं तथा अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करके खेल में जीत जाने की भावना से अपने को समर्पित कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार की भावना एक संस्था के कर्मचारियों में रहनी चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को अपना-अपना कार्य संस्था को सफल वनाने के लिये पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी से करना चाहिए। संगठन के सभी सदस्यों में चाहे वे कोई भी छोटा या वड़ा कार्य क्यों न करते हों-समूह भावना (Team-Spirit) को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इससे व्यवसाय में सफलता मिलती है व लाभ वढ़ता है जिससे सभी लाभान्वित होते हैं।

7. अभिप्रेरण का सिद्धांत (Principle of motivation)—संस्था में कार्य करने वाले कर्मचारियों को अधिक कार्य करने एवं अपनी योग्यता तथा क्षमता का विकास करने के लिये अभिप्रेरित किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह प्रयास करता है अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति का अवसर प्रदान करके कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है। अभिप्रेरणायें मौद्रिक एवं अमौद्रिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं। कर्मचारियों की आवश्यकताओं को समझकर उन्हें प्रेरणाएँ दी जानी चाहिए जिससे कि वे अधिक सहयोग एवं कार्य करने के लिये प्रेरित हों। अभिप्रेरणाओं से कर्मचारियों को अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का अवसर मिलने से वे सन्तुष्ट वने रहते हैं तथा अच्छे मानवीय सम्वन्धों की स्थापना होती है।

8. रचनात्मक चिन्तन का सिद्धांत (Principle of Constructive Thinking)—संस्था की सफलता के लिए रचनात्मक चिन्तन रखने की आवश्यकता है। संस्था व कर्मचारियों के हितों का ध्यान रखते हुए निर्णय लेने चाहिए। अप्रगतिशील व विघटनकारी विचारों को कोई स्थान नहीं देना चाहिए। मानवीय सम्वन्धों को अच्छा रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि ऐसा वातावरण एवं परिस्थितियाँ उत्पन्न की जायें जिनमें रचनात्मक या वनात्मक (Pisitive) चिन्तन हो सके। इससे उपयोगी योजनाओं का निर्माण होगा तथा सभी पक्षों का समर्थन भी प्राप्त हो सकेगा। संस्था की नीति व नियम भी ऐसे होने चाहिए जो कर्मचारियों के हित में हों। इससे उनका सहयोग प्राप्त होता रहता है।

9. प्रजातांत्रिक प्रवन्ध व्यवस्था का सिद्धांत (Principle of Democratic Management)—उपक्रम के प्रवन्ध में प्रजातांत्रिक प्रणाली अपनानी चाहिए। इससे कर्मचारी भी अपनी वात कह सकते हैं तथा संस्था के प्रवन्ध में भाग लेने का अधिकार रख सकते हैं। संस्था में तानाशाही या अधिनायकवादी व्यवस्था नहीं होनी

चाहिए जहाँ कर्मचारी स्पष्ट रूप से गलत एवं अनुचित होने पर भी कुछ न कह सकता हो। अधिनायकवादी व्यवस्था में भय व आतंक की भावना निरन्तर बनी रहने वाली छाया कर्मचारियों की उत्पादकता एवं मानवीय सम्बन्धों पर बुरा प्रभाव डालती है। अतः उपक्रम में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था अपनाई जानी चाहिए।

10. सही व्यक्ति को सही कार्य पर लगाने का सिद्धान्त (Principle of right job to the right person)—अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना के लिये व्यक्ति को कार्य उसकी योग्यता, क्षमता व रुचि के अनुसार देना चाहिए। इससे वह अधिक कार्य करने में सफल होगा तथा कार्य रुचि के अनुरूप होने पर उसे सन्तोष अनुभव होगा। कार्य में कठिनाइयाँ व त्रुटियाँ न रहने पर उसका मन प्रसन्न रहेगा तथा वह संगठन के अन्य सदस्यों को अपना ठीक-ठीक सहयोग प्रदान करेगा। कार्य अच्छा होने पर प्रबन्धक एवं कर्मचारी के मध्य स्वतः ही अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं क्योंकि परस्पर कार्य से सम्बन्धित शिकायतें करने की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती।

11. भागीदारी का सिद्धान्त (Principle of Participation)—कर्मचारियों को संस्था के प्रबन्ध मे तथा कर्मचारियों से सम्बन्धित विषयों पर निर्णय लेने की व्यवस्था में कर्मचारियों को भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए। व्यवहारिक अनुभव के आधार पर उनके द्वारा दिये गये सुझाव बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं तथा इससे कर्मचारियों को सम्मान व महत्त्व भी मिलता है। प्रबन्ध में यह भागीदारी प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों पर आवश्यकता के अनुसार अपनाई जानी चाहिये। यह भी आवश्यक है कि संस्था के द्वारा अर्जित अधिक लाभों में भी कर्मचारियों को उचित भाग दिया जाय। इससे प्रबन्धकों व कर्मचारियों के दृष्टिकोण में एकता आती है तथा अच्छे मानवीय सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

12. सद्व्यवहार का सिद्धान्त (Principle of good behaviour)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारियों के साथ सम्मानजनक सद्व्यवहार किया जाना चाहिये। प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों की स्थिति मे बड़ा अन्तर होता है। अधिकारों की दृष्टि से व उनको दिये जाने वाले पारिश्रमिक की दृष्टि से एक कर्मचारी प्रबन्धकों की तुलना में बहुत नीचे होता है। इस अन्तर के कारण कर्मचारी के साथ चाहे जैसा अशिष्ट व्यवहार नहीं किया जा सकता। उनके साथ व्यवहार करते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनके स्वाभिमान को ठेस न पहुँचे। कर्मचारियों के साथ अच्छा, शिष्टतापूर्ण सद्व्यवहार करने से अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना होती है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्धों का महत्व

(Importance of Human Relations in Personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध मे मानवीय सम्बन्धों का बड़ा महत्त्व होता है। पर्याप्त पूँजी, उपयुक्त मशीन व कच्चा माल होने पर भी यदि उपक्रम में अच्छे मानवीय

सम्वन्ध नहीं हैं तो उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव मिलेगा तथा कर्मचारियों की उत्पादकता घट जायगी। कीथ डेविस (Keith Davis) के अनुसार 'मानवीय सम्वन्ध व्यक्तियों को जिनमें असीमित क्षमता है, क्रियाशील वना देता है।' अतः सेविवर्गीय प्रवन्ध में विभिन्न दृष्टियों से मानवीय सम्वन्ध महत्वपूर्ण हैं। इनके महत्व को निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है—

1. **मानवीय साधन का अधिकतम उपयोग**—मानवीय साधन का अधिकतम उपयोग करने में मानवीय सम्वन्ध कर्मचारियों को अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। यदि कर्मचारी मन से न चाहे तो वह शारीरिक रूप से संस्था में पूरे समय उपस्थित रह कर भी अपने योगदान को आंशिक या शून्य तथा कभी-कभी ऋणात्मक भी रख सकता है तथा उसे पकड़ पाना संगठन के नियमों के वश में नहीं होता। वह ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक ठीक-ठीक निष्पादित करे इसके लिए उसके साथ मैत्रीपूर्ण, सद्भावनायुक्त एवं सम्मानजनक व्यवहार आवश्यक होता है। यदि उपक्रम में अच्छे मानवीय सम्वन्ध स्थापित कर दिये जाते हैं तो कर्मचारी समूह भावना (Team Spirit) से कार्य करता है तथा उपक्रम की सफलता के लिये अपनी कार्यकुशलता में निरन्तर वृद्धि करने का प्रयास करता है।

2. **आकांक्षाओं की पूर्ति**—मनुष्य की वहुत सी वित्तीय एवं अवित्तीय आवश्यकताएँ होती हैं। वह उन्हें पूरा करने का प्रयास करता है। मानवीय सम्वन्ध कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिये वहुत सी वित्तीय एवं अवित्तीय प्रेरणायें प्रदान करके कर्मचारियों को अपनी आकाँक्षाओं को सन्तुष्ट करने का अवसर प्रदान करते हैं। इससे कर्मचारियों को सन्तोष प्राप्त होता है तथा वे सन्तुष्ट होकर और अधिक कार्य करने के लिये अभिप्रेरित होते हैं। मानवीय सम्वन्धों की स्थापना हेतु कर्मचारियों की आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा करने की व्यवस्था की जाती है।

3. **लक्ष्यों की पूर्ति**—सन्तुष्ट कर्मचारी वर्ग संस्था के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये लगन से कार्य करता है। अच्छे मानवीय सम्वन्ध होने पर कर्मचारी संस्था के लक्ष्यों को अपना निजी लक्ष्य समझता है जिनकी पूर्ति के लिये वह अपने को समर्पित कर देता है। इससे लक्ष्यों की पूर्ति समय पर तथा कभी-कभी निर्धारित समय से भी पूर्व करली जाती है।

4. **श्रम समस्याओं का समाधान**—संस्था में अच्छे मानवीय सम्वन्धों की स्थापना के लिये किए जाने वाले प्रयत्नों से श्रम समस्याएँ जैसे—हड़ताल, तलावन्दी, घेराव, मन्दगति से कार्य करना, तोड़फोड़, प्रदर्शन आदि से भी मुक्ति मिल जाती है। अच्छे सम्वन्ध होने पर दोनों पक्ष एक दूसरे के हितों का ध्यान रखते हैं तथा समस्याओं का समाधान मैत्रीपूर्ण व्यवहार से निकाल लिया जाता है। अतः श्रम समस्याओं में कमी रहती है तथा उत्पन्न होने पर सरलता से हल करली जाती हैं।

5. प्रभावशाली प्रबन्ध के लिए—मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का एक पृथक दर्शन है। सिद्धान्त व नियम है। प्रबन्धकों को प्रशिक्षण द्वारा मानवीय सम्बन्धों की पूरी जानकारी देकर उनकी कार्यक्षमता एवं कुशलता में वृद्धि की जा सकती है। मानवीय सम्बन्धों में प्रशिक्षित प्रबन्धक मानव शक्ति से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान ढूंढने व कर्मचारियों की सद्भावना प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करता है।

6. सामाजिक दायित्व का निर्वाह—मानवीय सम्बन्ध प्रबन्धकों को सामाजिक दायित्व के प्रति सजग करते हैं। उपक्रम में कार्य करने वाले अनेक कर्मचारियों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाया जाता है तथा कर्मचारियों की सुरक्षा-बीमारी, वृद्धावस्था, आकस्मिक दुर्घटना आदि से करने की व्यवस्था की जाती है। कर्मचारियों के लिये सामान्य कल्याण के कार्य भी किये जाते हैं जैसे आवास की व्यवस्था, वाचनालय, स्कूल, खेल आदि की सुविधा देना। इससे कर्मचारियों की कुशलता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

7. न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन—संस्था में अच्छे मानवीय सम्बन्ध होने पर कर्मचारियों द्वारा अपने समय एवं श्रम का अधिकतम उपयोग किया जाता है। माल व मशीन का सावधानी से प्रयोग कर उनकी क्षति एवं अपव्यय रोका जाता है जिससे उत्पादन की लागत कम हो जाती है तथा उत्पादन भी अधिकतम होता है। इसके परिणामस्वरूप उपक्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है।

8. समाज को लाभ—मानवीय सम्बन्धों के सौहार्द्रपूर्ण होने पर श्रम समस्याएँ कम उत्पन्न होती हैं। उद्योग के उत्पादन का क्रम हड़ताल या तालाबन्दी या तोड़-फोड़ से भंग नहीं होता जिससे समाज को उपभोग की वस्तुएँ निरन्तर मिलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त कर्मचारी भी समाज का एक अंग व वर्ग होता है यदि वे असन्तुष्ट व पीड़ित होते हैं तो इसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ता है लेकिन अच्छे मानवीय सम्बन्ध होने पर समाज को श्रम समस्याओं से उत्पन्न कष्टों से पीड़ित नहीं होना पड़ता।

आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय सम्बन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रिचार्डसन (Richardson) के अनुसार "उत्पीड़न अथवा चापलूसी अपने व्यक्तियों से श्रेष्ठ सम्बन्ध तथा कार्यकुशलता का उच्च स्तर पर प्राप्त करने में असफल रहेंगे। केवल अच्छे एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार से ही तथा इसके अतिरिक्त कर्मचारियों को यह विश्वास दिलाकर कि कार्य करना उनके हित में है, अच्छे सम्बन्ध व सम्पन्नता प्राप्त की जा सकती है।"[1] व्यवसाय की सफलता पर प्रबन्धक,

1. "Attempts at coercion or the use of cajolery will fail to secure the best relations and high standards of efficiency from our people, only by fair and friendly dealing, and above all, by convincing workers that it is in their interest to work well, can good relations and prosperity be gained."
—*Richardson J. H.*: Introduction to Relations.

र्मचारी, उपभोक्ता आदि सभी लाभान्वित होते हैं तथा व्यवसाय के असफल होने र सभी को किसी न किसी रूप में हानि वहन करनी होती है।

स्वस्थ एवं अस्वस्थ मानवीय सम्बन्धों के लक्षण
(Characteristics of Sound and Unsound Human Relations)

किसी व्यावसायिक उपक्रम में मानवीय सम्बन्ध स्वस्थ हैं या अस्वस्थ अर्थात च्छे हैं या खराब इसका अनुमान उद्योग में व्याप्त लक्षणों से लगाया जा सकता है। दि अच्छी मशीन व अच्छा कच्चा माल प्रदान करने पर निम्नलिखित लक्षण पाये ाते हैं तो वह निश्चित रूप से मानवीय सम्बन्धों का प्रभाव माना जा सकता है।

1. उपस्थिति—संगठन में अच्छे मानवीय सम्बन्ध होने पर कर्मचारियों की पस्थिति की दर बहुत ऊँची रहती है तथा खराब सम्बन्धों की दशा में अनुपस्थिति ी दर बहुत ऊँची रहती है। यदि कर्मचारी अपने कार्य का अच्छा वातावरण व ावन्धकों का अच्छा व्यवहार व उचित अभिप्रेरणायें पाता है तो केवल विशेष ारिस्थितियों में ही अपने कार्य से अनुपस्थित रहेगा क्योंकि उसे कार्य से सन्तोष प्राप्त ोता है लेकिन इसके विपरीत अवस्था में अर्थात प्रवन्धकों के कटु, कठोर, आतंकवादी, व निराशाजनक व्यवहार है तथा वे कर्मचारियों के हितों के प्रति उदासीन हैं तो कर्मचारी को अपने कार्य में रस नहीं आता तथा वह कार्य से अनुपस्थित रहने का कोई न कोई कारण निकाल कर कार्य पर अनुपस्थित रहता है। कर्मचारियों की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति की दर मानवीय सम्बन्धों की गुणात्मक स्थिति को वताने का एक अच्छा लक्षण है।

2. श्रम आवर्तन—कर्मचारियों द्वारा रोजगार प्राप्त करने के वाद उपक्रम को छोड़कर चले जाने की दर जिसे श्रम आवर्तन या श्रम वदली (Labour turnover) दर कहते हैं मानवीय सम्बन्धों की सूचक होती है। यदि संस्था में अच्छे मानवीय सम्बन्ध हैं तो रोजगार प्राप्त करने के वाद कर्मचारी सन्तुष्ट होने के कारण उपक्रम को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहता। कार्य की अच्छी दशायें, व पदोन्नति के अवसर व सम्मान मिलने पर सामान्यतः कर्मचारी अन्य उपक्रम में जाने की नहीं सोचता या कार्य को छोड़कर घर वैठने की या कहीं कम वेतन पर भी कार्य करने की वात नहीं सोचता वह उसी संस्था में वना रहना चाहता है। इसके विपरीत अवस्था में अस्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर श्रमिक नियुक्ति के वाद असन्तोष अनुभव करता है तथा निरन्तर उपक्रम के वाहर कहीं अन्यत्र रोजगार प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा रोजगार मिलते ही छोड़कर चल देता है। खराव मानवीय सम्बन्ध होने पर नियुक्त किये गये कर्मचारियों में से छोड़कर अन्यत्र जाने वाले कर्मचारियों की प्रतिशत दर ज्यादा होती है।

3. औद्योगिक संघर्ष—अच्छे एवं स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर प्रवन्धकों एवं कर्मचारियों में संघर्षो की संख्या वहुत ही कम होती है। श्रम समस्याओं का

समाधान मैत्रीपूर्ण वातावरण में पारस्परिक विचारविनिमय से कर लिया जाता है लेकिन अस्वस्थ सम्बन्ध होने पर कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली शिकायतों की संख्या ज्यादा होती है। असन्तुष्ट कर्मचारी वर्ग हड़ताल, घेराव, प्रदर्शन व तोड़-फोड़ करता है। श्रम संघर्षों की संख्या ज्यादा होती है तथा उनका हल भी सरलता से नहीं निकल पाता क्योंकि पारस्परिक सद्भाव नहीं होता।

4. अनुशासन की स्थिति—स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर कर्मचारी स्वयं अनुशासित रहता है। संगठन के नियमों व उपनियमों का पालन करता है तथा अपने वरिष्ठ एवं सहायक पदाधिकारियों के साथ शिष्ट एवं उचित व्यवहार करता है। दूसरी ओर अस्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर वह संगठन के नियमों व उप नियमों का उल्लंघन करता है। अधिकारियों के आदेशों व निर्देशों की उपेक्षा करता है तथा सहायकों के साथ भी उचित व्यवहार नहीं कर पाता। अस्वस्थ मानवीय सम्बन्ध कर्मचारियों में असन्तोष, अविश्वास व अनिश्चितता का संचार करते हैं। अतः कर्मचारी अनुशासनहीनता करने लगता है।

5. मनोबल—संस्था में स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा होता है। वे लगन व निष्ठा से कार्य करते हैं। कार्य व संस्था को अपना मानते हैं तथा उनकी उत्पादकता ज्यादा होती है। इसके विपरीत अस्वस्थ सम्बन्ध होने पर मनोबल गिरा हुआ होता है तथा कर्मचारियों में असन्तोष, निराशा व अरुचि देखने को मिलती है तथा उनकी उत्पादकता कम होती है।

6. अन्य लक्षण—कर्मचारी सहभागिता, कर्मचारियों द्वारा रचनात्मक सुझाव देना, प्रबन्धकों व कर्मचारियों के मध्य अनौपचारिक सम्बन्ध, परस्पर एक दूसरे की समस्याओं में रुचि तथा सहयोग की भावना आदि स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध के लक्षण होते हैं। अस्वस्थ मानवीय सम्बन्ध होने पर इसके विपरीत स्थिति पाई जाती है।

मानवीय सम्बन्धों का प्रबन्ध
(Managment of Human Relations)

प्रबन्धक की सफलता के लिए मानवीय सम्बन्ध महत्वपूर्ण होते हैं अतः इनके प्रबन्ध के लिये भी नियोजित रूप से कार्य करना आवश्यक होता है। इन कार्यों को मिचेल जे. जूसियस (Michael J. Jucius) ने चार भागों में विभाजित किया है—

1. कर्मचारियों की अधि-प्राप्ति का कार्य (The Procurement Function) अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना के लिए प्रारम्भ से ही कार्य किया जाना चाहिये। कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन को विवेकपूर्ण ढंग से करने के लिये कार्य का अध्ययन करके उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही उपयुक्त एवं कुशल व्यक्तियों की भर्ती एवं चयन करना चाहिए तथा कार्य पर नियुक्त करने के पूर्व कर्मचारी को कार्य से एवं संगठन की व्यवस्था से परिचित कराना चाहिए।

2. मानवीय सम्बन्धों का विकास करना (Development of Human Relations)—मानवीय सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए कर्मचारि[illegible] [illegible]पन एवं

कार्य पर नियुक्ति के पश्चात मानवीय सम्बन्धों के विकास का कार्य आता है। इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए इसका उत्तर निम्न प्रश्नों से मालूम किया जा सकता है—

(i) कार्य (Job) पर तथा कार्य के घन्टों के उपरान्त कर्मचारियों की राजनीतिक, समुदाय तथा आर्थिक समस्याओं की समझ के स्तर को बढ़ाने के लिये क्या किया जाना चाहिए ?

(ii) अधिकारियों को प्रशिक्षण की अवधि में मानवीय सम्बन्ध के तत्वों के बारे में कैसे जानकारी दी जाय ?

(iii) मनोवैज्ञानिक प्रकृति की क्या सहायता एवं सूचनायें कर्मचारियों एवं अधिकारियों को उपलब्ध कराई जाय ?

(iv) नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों व तत्वों को काम की अवस्थाओं में किस प्रकार लाया जाय ?

उपरोक्त प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर मानवीय सम्बन्धों के विकास के लिये कार्य किये जाने चाहिए।

3. वांछनीय मानवीय सम्बन्धों का अनुरक्षण (Maintenance of Desirables Human Relations)—वांछनीय मानवीय सम्बन्धों के अनुरक्षण के लिए तीन चरणों में कार्य करना होता है।

(i) अवांछनीय अवस्थाओं का उन्मूलन करना,

(ii) वांछनीय अवस्थाओं में सुधार करना,

(iii) अच्छे मानवीय सम्बन्धों के लिए सहायक अवस्थाओं को बनाना।

मानवीय सम्बन्धों के अनुरक्षण के लिये यह आवश्यक होता है कि प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के मध्य असन्तोष की स्थिति को समाप्त करें। सम्बन्धों को सुधारने के लिये अभिप्रेरणायें दी जानी चाहिए तथा मनोबल को बढ़ाने के प्रयास किए जाने चाहिए। सहायक अवस्थाओं की व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक क्रियायें की जा सकती हैं जैसे कर्मचारियों के सामाजिक कार्यक्रम व मनोरंजन आदि के कार्यक्रमों का आयोजन, कर्मचारियों को कानूनी, स्वास्थ्य सम्बन्धी व अन्य व्यक्तिगत समस्याओं पर परामर्श पाने की सुविधा आदि।

4. मानवीय सम्बन्धों का उपयोग (Utilisation of Human Relations)—मानवीय सम्बन्धों का उपयोग कार्य (Job) पर किया जाना चाहिए। मानवीय सम्बन्धों की स्थापना, विकास व अनुरक्षण इस दृष्टि से ही किये जाते हैं कि वे कार्य के निष्पादन को प्रभावित करें। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कार्य-स्थान पर विद्यमान अनेक बातें कार्य के निष्पादन को प्रभावित करती है फिर भी पर्यवेक्षक को यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कार्य की स्थिति में कर्मचारी की क्या प्रतिक्रियाएँ हैं तथा वह किस प्रकार से उनकी सहायता कर सकता है। दूसरे तकनीकी कार्यों में आवश्यकता पड़ने पर विशेषज्ञों द्वारा तुरन्त परामर्श व सहायता

देनी चाहिए। तीसरे प्रबन्धकों को कर्मचारियों के उचित अनौपचारिक सम्बन्धों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इससे मानवीय सम्बन्धों का उत्पादन एवं उपक्रम के हित में अधिकतम उपयोग किया जा सकेगा।

मानवीय सम्बन्ध विचारधारा की आलोचना
(Criticism of Human Relations Approach)

मानवीय सम्बन्ध विचारधारा की आलोचना भी की जाती है तथा इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. संघर्ष समाप्त नहीं होते—यह कहा जाता है कि मानवीय सम्बन्ध औद्योगिक उपक्रम में श्रम संघर्षों को समाप्त कर देते हैं लेकिन यह सत्य नहीं है। व्यवहार में देखा जाता है कि श्रम संघर्ष पूर्णतः समाप्त नहीं होते। दूसरे संघर्षों को सदैव ही हानिप्रद नहीं कहा जा सकता। प्रगति एवं नवीनता लाने के लिए संघर्ष आवश्यक भी होते हैं।

2. प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता—यह कहा जाता है कि प्रबन्धकों को मानवीय सम्बन्धों में प्रशिक्षण दिया जा सकता है लेकिन यह बात भी सत्य नहीं है। मानवीय सम्बन्धों का प्रशिक्षण सम्भव नहीं है। यह व्यावहारिक बात है। मानवीय भावनाओं को समझना अनुभव से ही आता है प्रशिक्षण से नहीं।

3. सामूहिक हित पर अधिक ध्यान देना—मानवीय सम्बन्ध की विचारधारा सामूहिक हित को मान्यता देती है। इसमें व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा की जाती है। यह उचित नहीं है।

4. अनिर्देशित नेतृत्व की माँग उचित नहीं—मानवीय सम्बन्ध विचारधारा के समर्थक अनिर्देशित नेतृत्व की माँग करते हैं। उनके अनुसार स्वस्थ्य मानवीय सम्बन्ध होने पर निर्देशन की आवश्यकता नहीं रहती लेकिन यह एक कोरी कल्पना मात्र है। बिना नेतृत्व के व्यावसायिक क्रियाओं की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

5. परिपक्वता का अभाव—मानवीय सम्बन्धों में अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया है। पर्याप्त सर्वेक्षण एवं अध्ययन के बिना दोषमुक्त सिद्धान्त एवं नियमों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

6. उत्तरदायित्व को टालना—मैकनेयर (P. McNair) के अनुसार "मानवीय सम्बन्धों पर अत्यधिक जोर देने पर लोगों को अपने आप खेद प्रकट करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, उत्तरदायित्व को टालना आसान हो जाता है, असफलताओं के लिए आधार मिल जाता है और वे बच्चों की कार्यवाही करने लगते हैं।"

7. सीमित क्षेत्र—विलियम जी॰ स्काट (William G. Scott) के अनुसार "मानवीय सम्बन्ध केवल एक विशेष प्रकार की समस्याओं को ही हल ... पाता

कि सम्बन्ध श्रमिकों को प्रेरित करने व उनका सहयोग लेने से होता है लेकिन बड़े उपक्रम में विकास के कारण उत्पन्न अन्य समस्याओं के हल में मानवीय सम्बन्ध कोई महत्व नहीं रखते।"

8. **कार्य पर ध्यान न देना**—पीटर ड्रूकर (Peter Druckar) के अनुसार "मानवीय सम्बन्ध कार्य पर उचित ध्यान नहीं देते। ये केवल व्यक्ति सम्बन्धों तथा समूह सम्बन्धों पर ही ध्यान देते हैं।"

9. **आर्थिक घटक को कम महत्व देना**—हैरोल्ड एल० शेपर्ड (Harold L. Sheppard) के अनुसार मानवीय सम्बन्ध औद्योगिक शान्ति के आर्थिक एवं राजनीतिक घटक को कम महत्व देते हैं।

अनुत्पादक व्यय—मानवीय सम्बन्धों को मधुर एवं स्वस्थ्य बनाने के लिए सभा, गोष्ठियाँ व भाषणों आदि का आयोजन करने पर जो व्यय किया जाता है वह अनुत्पादक होता है।

उपरोक्त विभिन्न आधारों पर मानवीय सम्बन्धों की आलोचना की जाती है लेकिन मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र विषय के अध्ययन एवं औद्योगिक प्रबन्ध में इनके प्रभावों के जो अध्ययन हैं उनके आधार पर इस विचारधारा को निर्मूल एवं कोरी कल्पना भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण उत्पादन का साधन हैं। उसके अधिकतम उपयोग के लिए उद्योग में अच्छे मानवीय सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि इससे श्रम-संघर्ष को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता लेकिन यह भी सत्य है कि ये संघर्षों के कम करने में तथा श्रम समस्यायें जैसे श्रमिकों की अनुपस्थिति, श्रम आवर्तन आदि को कम करने तथा श्रमिकों को अभिप्रेरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।

यह कहना कि मानवीय सम्बन्धों में प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता सत्य नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने मानवीय स्वभाव को समझने में बड़ा योगदान दिया है। प्रबन्धकों को मानवीय सम्बन्धों के प्रति सजग किया जा सकता है तथा प्रबन्धकीय व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन एवं सुधार के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये डोनाल्ड आर० शोएन ने मानवीय सम्बन्धों के प्रबन्धक के लिए निम्नलिखित निर्देश प्रस्तुत किए हैं।[1]

1. प्रबन्धक को कर्मचारियों को सही ढंग से समझना एवं स्वीकार करना चाहिए।
2. उसमें अन्य व्यक्तियों के विचारों के प्रति सजग रहते हुए अपनी स्थिति को बनाये रखने की कुशलता होनी चाहिए।

1. *Donald R. Sheon*: Human Relations, Book or Bogle? Harvard Business Review, Nov.-Dec. 1957.

3. दूसरों की भावनाओं को समझने का इच्छुक रहे तथा दूसरों की बात को शान्तिपूर्वक सुने भले ही वह उन्हें तर्कयुक्त न मानता हो।
4. प्रबन्धक को अपने बारे में भी स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए जिसका कि अन्य व्यक्तियो पर प्रभाव पड़ता है।
5. प्रबन्धक को सामाजिक सरचना के अनुसार कार्य करना चाहिए तथा उस व्यवस्था को बढ़ाना चाहिए।
6. अपने अधिकारों के प्रति सजग रहते हुए यह देखना चाहिए कि अन्य व्यक्ति किस प्रकार उन्हें प्रभावित करते हैं।
7. उसकी कार्यवाही पर अन्य व्यक्तियों की क्या प्रतिक्रिया होगी इसका उसे पूर्वानुमान लगाना चाहिए।
8. उसे प्रबन्ध-क्षेत्र के अनुभव व सामाजिक क्रियाओं के विश्लेषण का समन्वय करना चाहिए।

मानवीय सम्बन्धी नीति
(Human Relations Policy)

मानवीय सम्बन्धो की उपयोगिता एवं आवश्यकता को देखते हुए व्यावसायिक उपक्रमों को सेविवर्गीय नीतियो में मानवीय सम्बन्धों को स्वस्थ्य बनाये रखने एवं उनके विकास के लिए सुनिश्चित निर्धारित नीति का निर्माण करना चाहिए जिससे कि अच्छे सम्बन्धों की स्थापना के लिये आवश्यक व्यवस्था की जा सके। सामान्यतः मानवीय सम्बन्ध नीति में निम्नलिखित व्यवस्था की जानी चाहिए—

1. मानवीय साधन को महत्व देना,
2. एक दूसरे को मान्यता देना व स्वीकार करना,
3. सामान्य सामूहिक हितों की स्थापना करना,
4. खुला सम्प्रेषण रखना,
5. कर्मचारियो को सुझाव देने हेतु प्रेरित करना,
6. कर्मचारियो की सहभागिता स्वीकार करना,
7. सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक अपेक्षाओं को सन्तुष्ट करने की व्यवस्था करना,
8. प्रगति एवं विकास के अवसर देना,
9. नवीन विचारों से कर्मचारियों को अवगत रखने की व्यवस्था रखना,
10. मानवीय सम्बन्धों में मूल्यांकन की व्यवस्था आदि।

मानवीय सम्बन्ध अवधारणा का उद्गम
(Origin of Human Relations Approach)

उद्गम

औद्योगिक क्रान्ति ने बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव बना दिया तथा

बाजार-क्षेत्र का विकास होने से कारखाना प्रणाली के आधार पर बड़ी मात्रा में माल का उत्पादन किया जाने लगा। इस व्यवस्था में बड़े पैमाने पर श्रमिकों की सेवायें ली जाने लगीं। श्रमिक को भी उत्पादन के अन्य साधनों की तरह प्रयोग किया जाने लगा लेकिन इस बात को अनुभव किया गया कि श्रमिक को उत्पादन के अन्य निर्जीव साधनों की तरह प्रयोग नहीं कर सकते। मानवीय सम्बन्धों का दर्शन कर्मचारियों के साथ सम्मानजनक व्यवहार करने पर बल देता है। सन् 1900 के प्रारम्भ में टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध का विचार दिया तथा उत्पादकता बढ़ाने के लिये उपयोगी सुझाव दिये। वैज्ञानिक प्रबन्ध से श्रमिक की उत्पादकता तो बढ़ी लेकिन यह श्रमिक की लागत पर थी। उसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। प्रथम महायुद्ध ने अनेक श्रम समस्याओं को जन्म दिया। श्रमिक संगठित होते गये तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी श्रम संगठन बने। सन् 1930 में आर्थिक मन्दी आई जिसने औद्योगिक श्रम समस्याओं को और भी अधिक जटिल बना दिया। मन्दीकाल में श्रमिकों के साथ अत्यधिक कठोरता बरती गई। उन पर पर्यवेक्षण बढ़ाया गया जिससे उन पर अधिक नियन्त्रण रखा जा सके। लेकिन इससे औद्योगिक समस्याओं का कोई समाधान नहीं निकला।

सर्वप्रथम सन् 1930 में **एल्टन मेयो** (Elton Mayo) एवं उनके अन्य साथियों ने पर्याप्त अध्ययन के बाद मानवीय सम्बन्ध विचारधारा को प्रस्तुत किया। श्री मेयो के विचार श्री टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा से बिल्कुल विपरीत थे। श्री टेलर वैज्ञानिक प्रबन्ध के माध्यम से उत्पादकता बढ़ाने के पक्ष में थे जबकि मेयो मानवीय व्यवहार एवं मानवीयकरण के माध्यम से उत्पादकता बढ़ाकर लक्ष्यों की पूर्ति करना चाहते थे। मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा के अनुसार श्रमिक, कर्मचारी बाद में है मनुष्य पहले है। अतः नियोजकों को उसके साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए। मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा को व्यक्त करने के पूर्व **श्री एल्टन मेयो तथा उनके सहयोगियों द्वारा हॉर्थोन में जो प्रयोग किये गये थे वे प्रयोग ही मानवीय सम्बन्ध विचारधारा के आधार-स्रोत बने।** इसके बाद इस विचारधारा का निरन्तर विकास हो रहा है। विभिन्न अध्ययनों एवं अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उद्योग के प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा महत्वपूर्ण स्थान रखती है तथा अच्छे मानवीय सम्बन्धों के द्वारा उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। मानवीय सम्बन्धों के विकास के लिए निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं :—

1. **श्रम की कमी**—तकनीकी ज्ञान प्राप्त कुशल व्यक्तियों के अभाव के कारण कर्मचारियों के साथ अच्छा मानवीय व्यवहार करने पर ध्यान दिया गया है जिससे कि कर्मचारी सन्तुष्ट बने रहें तथा उपक्रम को छोड़कर अन्यत्र न जायें।

2. **श्रम संघ**—श्रमिकों के संगठित होने व उनके शक्तिशाली होने से मानवीय सम्बन्धों पर ध्यान दिया गया है। संघर्षों को दूर करने के लिये सेवा-नियोजकों ने

संघर्ष उत्पन्न करने वाले कारणों को ही दूर करने का प्रयास किया है जिससे मानवीय सम्बन्धों का विकास हुआ है।

3. उद्योग की बदलती हुई प्रवृत्तियाँ—उद्योग स्थापना के उद्देश्यों मे परिवर्तन आया है। अब केवल आर्थिक लाभ की ही बात नहीं सोची जाती बल्कि *सामाजिक दायित्व को भी अनुभव किया जाता है जिसके अन्तर्गत श्रमिकों के साथ* मानवीय व्यवहार अपनाया जाता है तथा श्रमिक के कल्याण एवं सुरक्षा की व्यवस्था की जाती है।

4. श्रम की लागत—श्रम की लागत निरन्तर बढ़ने से उसके अधिकतम उपयोग के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि श्रमिक को सन्तुष्ट रखा जाय। उसकी आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक इच्छाओं को सन्तुष्ट किया जाय।

5. समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के अध्ययन—समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानवीय भावनाओं, क्रियाओं व विभिन्न आकांक्षाओं के अध्ययन ने औद्योगिक प्रबन्ध मे मानवीय सम्बन्धो का विकास किया है।

6. उत्पादन की जटिल तकनीकों का विकास—उत्पादन के लिये मशीनें प्रयोग की जाती हैं जिन पर कार्य करने से श्रमिक को नीरसता व थकान अनुभव होती हैं। अतः उसे अपने कार्यों के प्रति अधिक लगाव व रुचि अनुभव कराने के लिये भी मानवीय सम्बन्धो का विकास हुआ है।

हॉथोर्न प्रयोग
(Houthorne Experiments)

मानवीय सम्बन्धो के बारे में सबसे पहले शोध कार्य अमेरिका में शिकागो [illegible]ी 'वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी' के 'हॉथोर्न' संयन्त्र मे किए गये। अतः यह 'हॉथोर्न [illegible]' के नाम से प्रसिद्ध है। मानवीय सम्बन्धो पर ये परीक्षण सन् 1927 से [illegible] तक की अवधि मे सगठित एवं व्यवस्थित रूप मे किए गये। उद्योग में [illegible] सम्बन्धों के विकास का श्रेय इन्ही हॉथोर्न परीक्षणो को बड़ी मात्रा में [illegible] है। वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी (Western Electric Company) के [illegible] मे बड़ा असन्तोष था तथा कम्पनी की उत्पादकता निरन्तर कम होती जा [illegible] [श्र]मिकों एव प्रबन्धको के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। कम्पनी की स्थिति को [illegible] कम्पनी के प्रबन्धको ने हॉवर्ड विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट स्कूल ऑफ [illegible] [ऐडमिनि]स्ट्रेशन (Graduate School of Business Administration) [illegible] सहायता मांगी। श्री एल्टन मेयो वहाँ 'औद्योगिक अनुसंधान' [(In]dustrial Research) के प्रोफेसर थे। श्री मेयो के नेतृत्व में श्री एफ० जी० रोथलिसबर्जर (F. G. Roethlisberger), टी० एन० व्हाईटहेड (T. N. Whitehead) तथा डब्लू० जे० डिक्सन (W. J. Dickson) आदि विशेषज्ञों के दल ने इस कम्पनी में विस्तृत प्रयोग किए। इन परीक्षणों के निष्कर्षों ने मानवीय सम्बन्ध[illegible]

की अवधारणा को विकसित किया तथा प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्धों के महत्व को बताया ।

वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी एक बड़ी एवं प्रसिद्ध कम्पनी थी जहाँ इन प्रयोगों के समय लगभग 30,000 महिला एवं पुरुष कर्मचारी कार्य करते थे । कम्पनी में कर्मचारियों के लिये एक सेविवर्गीय नीति (Personnel policy) भी थी जो कर्मचारियों के हितों पर भी ध्यान देती थी । सेविवर्गीय नीति के अन्तर्गत कर्मचारियों के उचित कार्य के घण्टे थे, अच्छा वेतन भी दिया जाता था, जलपान-गृह, औषधालय व मनोरंजन के साधनों की भी व्यवस्था थी । कम्पनी की स्थापना के बाद लगभग 25 वर्षों तक कोई हड़ताल भी नहीं हुई थी लेकिन कम्पनी के कर्मचारियों में बड़ी मात्रा में असन्तोष था । कर्मचारियों में मानसिक तनाव था । उन्हें प्रबन्धकों द्वारा विभिन्न प्रकार की अन्य सुविधायें भी दी गईं लेकिन कम्पनी की उत्पादकता गिरती ही जा रही थी व कर्मचारियों में भी असन्तोष बना रहा । अतः ऐसी स्थिति में प्रबन्धकों द्वारा 'नेशनल एकेडेमी ऑफ साइन्सेज' से सहयोग माँगा गया जिसके निरीक्षण में एल्टन मेयो तथा उनके सहयोगियों द्वारा विभिन्न प्रयोग किए गये । इन प्रयोगों में निम्नलिखित प्रयोग प्रमुख थे :

1. प्रकाश प्रयोग (Lighting Experiments)
2. रिले एसेम्बली टैस्ट रूम (Relay Assembly Test Room)
3. सैकण्ड रिले एसेम्बली ग्रुप एण्ड माइका स्प्लिटिंग ग्रुप टेस्टस (Second Relay Assembly Group and Mica Splitting Group Tests)
4. साक्षात्कार कार्यक्रम (Interview Programme)
5. बैंक वायरिंग समूह अवलोकन (Bank Wiring Group Observation)

1. प्रकाश प्रयोग—प्रकाश प्रयोग के अन्तर्गत कर्मचारियों के दो समूह बनाकर कार्य कराया गया । एक समूह के लिये प्रकाश सदैव समान रखा गया तथा दूसरे समूह के लिये प्रकाश में कमी एवं वृद्धि की गई । प्रयोग के आधार पर ज्ञात हुआ कि दोनों ही समूहों की उत्पादकता में वृद्धि हुई है । इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि कार्य की दशाओं में सुधार एवं परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ कारण हैं जो कर्मचारियों की उत्पादकता को प्रभावित करते हैं । इन कारणों की खोज के लिए मेयो तथा उनके सहयोगियों ने अनेक प्रयोग किये ।

2. रिले असेम्बली टैस्ट रूम प्रयोग—इन प्रयोगों के अन्तर्गत कम्पनी में कार्य करने वाली औसत कार्यक्षमता की छः लड़कियों का समूह बनाकर लम्बे काल तक प्रयोग किये गये । प्रयोगों की अवधि में निरीक्षण, सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण, कार्य की दशाओं आदि को नियन्त्रित किया गया । कार्य के दौरान वहाँ एक अवलोकक (Observer) रहता था जो कार्यकाल की अवधि की अवस्थाओं का जैसे तापमान, कमरे की घटनाएँ, वार्तालाप, प्रत्येक लड़की का प्रति दस मिनट का

उत्पादन आदि का पूरा विवरण तैयार करता था। इस रिले असेम्बली टेस्ट रूम प्रयोग को निम्नलिखित समय अवधि में विभाजित किया गया था :

(i) मार्च-अप्रेल 1927—इस अवधि मे दो सप्ताह तक कम्पनी की प्रमापित दशाओं में कार्य करते हुये कर्मचारियों का अवलोकन किया गया जिससे कि बाद की स्थिति से तुलना की जा सके।

(ii) अप्रेल-मई 1927—इस अवधि मे कर्मचारियो को पृथक् कमरे में रखा गया तथा उनके कार्य की दशाओ में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। अवलोकन से ज्ञात हुआ कि कर्मचारियो के उत्पादन में वृद्धि हुई।

(iii) जून-अगस्त 1927—इस अवधि में छः लडकियो को चुनकर अलग कमरे मे कार्य करने के निर्देश दिये गये तथा यह पाया गया कि उनके उत्पादन में वृद्धि हुई है।

(iv) अगस्त-सितम्बर 1927—इस अवधि मे प्रातः व सायं पाँच-पाँच मिनट का अवकाश देकर कार्य की दशाओं में थोड़ा परिवर्तन किया गया तथा पाया कि इससे उत्पादन पहले के समान ही रहा।

(v) सितम्बर-अक्टूबर 1927—इस अवधि मे पाँच-पाँच मिनट के स्थान पर प्रातः व सायं दस-दस मिनट का विश्राम दिया गया तथा यह पाया कि इससे उत्पादन में मामूली वृद्धि हुई।

(vi) अक्टूबर-नवम्बर 1927—इस अवधि में प्रतिदिन दो के स्थान पर छः बार विश्राम दिया गया जो पूर्व के दस मिनट के स्थान पर पाँच-पाँच मिनट का था। इससे उत्पादन में कमी आई तथा लड़कियों ने यह शिकायत की कि विश्राम बार-बार मिलने से कार्य मे बाधा उत्पन्न होती है।

(vii) नवम्बर 1927 से जनवरी 1928—इस अवधि मे विश्राम में कमी की गई। दिन में केवल दो बार ही विश्राम दिया गया। पहले सुबह पन्द्रह मिनट का तथा दुबारा दोपहर को दस मिनट का। इसके अतिरिक्त सुबह के विश्राम मे निःशुल्क ताजा (गर्म) खाना भी दिया गया। इससे उत्पादन सितम्बर-अक्टूबर की अवधि पर पहुँच गया।

(viii) जनवरी-सितम्बर 1928—इस अवधि में सात सप्ताह तक शाम को आधे घण्टे पहले काम से छुट्टी दी गई जिससे सप्ताह में काम के 3·30 घण्टे कम हो गये। इस अवधि मे उत्पादन में वृद्धि हुई। इसके बाद चार सप्ताह तक एक घण्टे पहले काम बन्द किया गया अर्थात् साढ़े चार के स्थान पर चार बजे ही छुट्टी करदी गई। इससे प्रति घण्टा तो उत्पादन बढ़ा लेकिन प्रतिदिन का व साप्ताहिक उत्पादन घटा। बाद मे पुनः छुट्टी पाँच बजे ही दी जाने लगी जिससे प्रति घण्टा उत्पादन घटा लेकिन साप्ताहिक उत्पादन बढ़ गया। अन्तिम नौ सप्ताह में शनिवार को प्रातः छुट्टी रखी गई जिससे साप्ताहिक घण्टो में तो कमी आई लेकिन उत्पादन में कोई कमी नही हुई।

(ix) **सितम्बर-नवम्बर 1928**—इस अवधि में काम के 48 घण्टे प्रति सप्ताह रखे गये। कोई विश्राम व गर्म खाना भी नहीं दिया गया। इससे प्रति घण्टा उत्पादन में थोड़ी कमी आई लेकिन साप्ताहिक व दैनिक उत्पादन बढ़ गया।

(x) **नवम्बर 1928 से जून 1929 तक**—इस अवधि में कर्मचारियों को सुबह पन्द्रह मिनट का तथा दस मिनट का दोपहर को विश्राम दिया गया। सप्ताह में कार्य के घण्टे 45·40 रखे गये तथा सुबह के विश्राम में गर्म खाने के स्थान पर केवल कॉफी दी गई। इससे सितम्बर-नवम्बर 1928 की अवधि में हुई वृद्धि से भी अधिक उत्पादन-वृद्धि हुई।

इस प्रकार मार्च 1927 से जून 1929 तक विभिन्न प्रयोग किए गये तथा इससे निम्न परिणाम पाये गये :—

(i) प्रारम्भ के डेढ़ वर्ष में उत्पादन निरन्तर बढ़ता रहा।

(ii) कर्मचारी लड़कियों में काफी घनिष्ठता रही।

(iii) कर्मचारियों ने कार्य में पर्याप्त प्रसन्नता अनुभव की।

(iv) उनमें उच्च स्तर का अनुशासन रहा।

(v) कार्य की दशाओं के किसी परिवर्तन का उत्पादन के स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव में कोई सह सम्बन्ध नहीं था।

(vi) भौतिक वातावरण से उत्पादन में वृद्धि हो भी सकती है तथा नहीं भी।

(vii) प्रबन्धकों के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ने कर्मचारियों के मनोबल को बढ़ाया जिससे उत्पादन भी बढ़ा।

(viii) स्वतन्त्र वातावरण के मिलने व अधिकारियों द्वारा कार्य में हस्तक्षेप न करने से उत्पादन बढ़ा।

(ix) अवलोकक तथा कर्मचारियों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए।

निष्कर्षस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि उत्पादन से वृद्धि केवल भौतिक वातावरण से ही नहीं होती बल्कि मानवीय व्यवहार से भी होती है अतः संस्था में सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाने चाहिए।

3. **सैकण्ड रिले एसेम्बली ग्रुप एण्ड माइका स्पिलटिंग ग्रुप प्रयोग**—इस प्रयोग के अन्तर्गत कुछ कर्मचारियों को अपने सम्बन्धित विभाग से पूर्णतः पृथक रखते हुए एक अलग समूह में रखकर कार्य कराया गया। नवम्बर, 1928 में सम्बन्धित विभाग से कुछ व्यक्तियों का एक समूह बनाया गया तथा 9 सप्ताह तक उनका अध्ययन किया गया। समूह में सम्मिलित होने वाले कर्मचारियों के पहले उत्पादन का पूर्ण विवरण रखा गया तथा पृथक समूह में रहकर किये गये उत्पादन का भी पूर्ण विवरण रखा गया तथा कार्यदशाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। केवल अन्तर यह था कि सम्बन्धित विभाग से पूर्णतः पृथक रखा गया था। परिणामस्वरूप यह पाया गया कि प्रति कर्मचारी तथा कुल उत्पादन में वृद्धि हुई। कुल उत्पादन ये 12½% की वृद्धि हुई थी।

4. साक्षात्कार कार्यक्रम—साक्षात्कार कार्यक्रम के द्वारा भी हॉथोर्न प्रयोग किये गये। सितम्बर, 1928 से फरवरी, 1929 तक लगभग 1600 कुशल एवं अकुशल कर्मचारियों का साक्षात्कार किया गया। साक्षात्कार के माध्यम से कर्मचारियों के कार्य, कार्यदशाओ, नीतियो, विधियों व पर्यवेक्षण आदि के प्रति रुचि को मालूम किया गया। कार्यक्रम के प्रारम्भ मे प्रत्येक कर्मचारी से प्रश्नावली भी भरवाई गई तथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया। साक्षात्कार क समय भी कर्मचारियों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करने के लिए कहा गया। इस प्रयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि—

(i) संगठन के अधिकाश कर्मचारियों के विचारो का अध्ययन किया जा सकता है।
(ii) स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करने एवं परिवेक्षायें प्रस्तुत करने का अवसर देने से कर्मचारी का मनोबल बढता है।
(iii) कर्मचारियों की मांगों पर आन्तरिक एव बाह्य वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।
(iv) कर्मचारियो द्वारा दिये गए तर्क दोहरी प्रकृति के थे। उनके विचारो ने महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकट किये।
(v) पर्यवेक्षको के अनुसार कर्मचारियों की विपरीत भावनाओं का सामान्य पुनर्समायोजन (Re-adjustment) से ठीक किया जा सकता है।
(vi) सक्षात्कार के सामान्य सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए गए।

5. बैंक वायरिंग समूह अवलोकन—यह हॉथोर्न प्रयोगों का अन्तिम चरण था। इस प्रयोग के लिए एक पृथक अध्ययन कक्ष तैयार किया गया तथा कर्मचारियों को अनौपचारिक सामाजिक सम्बन्धों की जानकारी दी गई। 14 कर्मचारियों का एक समूह तैयार किया गया जिसने पृथक कमरे में कार्य किया। काम की दशाओ मे कोई परिवर्तन नही किया गया। समूह के साथ एक पर्यवेक्षक भी रखा गया था। इस समूह के कार्यों का अध्ययन नवम्बर, 1931 से मई 1932 तक सात माह किया गया। इस प्रयोग से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले गए—

(i) कर्मचारियो से जितनी कार्य की अपेक्षा की गई थी उससे कुछ कम कार्य करने का उन्होंने निश्चय कर लिया।
(ii) प्रति कर्मचारी, उत्पादन कुछ उनके द्वारा निश्चित सीमा से कुछ कम या ज्यादा रहा।
(iii) कर्मचारियों के वास्तविक उत्पादन में तथा उनके द्वारा प्रस्तुत विवरण में अन्तर पाया गया।

(iv) पर्यवेक्षक ने कर्मचारियों का मूल्यांकन उनके कार्य की किस्म के आधार पर नहीं किया वल्कि अपनी व्यक्तिगत राय के आधार पर किया।

(v) कर्मचारियों के प्रमापित कार्य-समय एवं प्रस्तुत विवरण में भी अन्तर पाया गया था।

(vi) कर्मचारियों ने मुख्यतः तेज गति से कार्य करने वाले कर्मचारियों ने छुट्टी के समय से पूर्व ही कार्य करना वन्द कर दिया।

(vii) वैंक वायरिंग समूह का प्रमुख कार्य अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करना था। समूह-सदस्यों को कार्य दशाओं व पारस्परिक निजी सम्वन्धों में परिवर्तन की धमकी देकर वाह्य हस्तक्षेप भी करता था।

इस प्रकार वैंक वायरिंग समूह अवलोकन प्रयोग ने अनौपचारिक सामाजिक सम्वन्धों के महत्त्व को प्रदर्शित किया।

हॉथोर्न प्रयोगों के निष्कर्ष
(Conclusions of Hawthorne Experiments)

हॉथोर्न प्रयोगों के आधार पर एल्टन मेयो द्वारा निम्न निष्कर्ष निकाले गये—

1. **उत्पादकता प्रभावित करने वाले तत्त्व**—श्रमिक की उत्पादकता केवल भौतिक वातावरण से ही प्रभावित नहीं होती वल्कि अन्य तत्त्व भी प्रभावित करते हैं, जैसे उसके साथ किया जाने वाला व्यवहार, कार्य में दी गई स्वतन्त्रता आदि।

2. **मनुष्य केवल एक 'आर्थिक व्यक्ति' ही नहीं है**—मनुष्य केवल 'आर्थिक व्यक्ति' ही नहीं है अर्थात् वह केवल धन की ही इच्छा से कार्य नहीं करता वल्कि उसकी कुछ सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। व्यावसायिक उपक्रम को कर्मचारियों की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने का भी अवसर देना चाहिए।

3. **मान्यता एवं सुरक्षा प्रदान करने का महत्व**—कर्मचारियों को मान्यता, सम्मान एवं सेवा की सुरक्षा प्रदान करके उनके मनोवल में वृद्धि की जा सकती है। मनोवल में वृद्धि करके कर्मचारियों की उत्पादकता में भी वृद्धि की जा सकती है।

4. **अनौपचारिक समूहों का महत्व**—प्रयोगों ने यह वताया कि सामाजिक अनौपचारिक समूहों का निर्माण करके कर्मचारियों की उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है। सामाजिक अनौपचारिक समूहों में सदस्यता रखने पर संस्था के प्रति श्रमिक का दृष्टिकोण सुधरता है।

5. **कुल कार्य स्थिति से प्रभावित होना**—श्रमिक पर संस्था के कुल कार्य की स्थिति का प्रभाव पड़ता है तथा वह अपने को उसके अनुकूल ही वनाने का प्रयास करता है।

6. शिकायतें असन्तोष का लक्षण—कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली शिकायतें केवल विवरण मात्र नहीं हैं बल्कि ये कर्मचारी में व्याप्त असन्तोष का लक्षण है अतः उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

7. मानवीय व्यवहार द्वारा सामाजिक सन्तुष्टि—प्रबन्धकों का कर्मचारियों के प्रति किया गया मानवीय व्यवहार कुल उत्पादन को तो बढ़ाता ही है साथ ही कर्मचारियों को सामाजिक सन्तुष्टि प्रदान करता है।

8. समूह भावना का विकास करना—कर्मचारियों में समूह भावना का विकास स्वतः नहीं होता। संस्था के प्रबन्धकों को नियोजित ढंग से इस भावना का विकास करना चाहिए।

9. आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण का प्रभाव—कर्मचारी द्वारा की जाने वाली माँगों पर संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

हॉथोर्न प्रयोगों की आलोचना (Criticism of Hawthorne Experiments)

हॉथोर्न प्रयोगों ने मानवीय सम्बन्धों की एक नवीन विचारधारा दी थी। अतः इनकी कुछ विद्वानों द्वारा आलोचना भी की गई। इनकी आलोचना के रूप में निम्नलिखित बातें कही गईं—

1. प्रबन्धकों के प्रति पक्षपात—मिलर तथा फोर्म (Miller and Form) ने हॉथोर्न प्रयोगों की आलोचना करते हुए कहा है कि ये प्रयोग प्रबन्धकों के प्रति पक्षपातपूर्ण हैं। इनमें यह मान लिया गया है कि प्रबन्धक वर्ग तो सदैव ही ठीक है तथा उनके द्वारा लिए गए निर्णय उचित होते हैं जबकि श्रमिक वर्ग के लिए यह माना गया है कि वह अपनी भावनाओं से प्रभावित होता है अतः संस्था के प्रति अपनत्व की भावनाएँ उनमें जागृत की जानी चाहिए।

२ सिद्धान्तों का कम महत्व—मूरे (Moore) का कथन है कि, "मेयो ...न में सिद्धान्त के महत्त्व से अनभिज्ञ है।" अतः मेयो ने अध्ययन ...कन तथा तथ्यों को एकत्रित करने पर तो बहुत ध्यान दिया लेकिन ...दा महत्त्व नहीं दिया।

...षपूर्ण विधियाँ—मिलर तथा फार्म के अनुसार मेयो ने प्रयोग करते ...एवं दोषरहित विधियों का प्रयोग नहीं किया है जिससे इन प्रयोगों के महत्त्व कम हो जाता है।

...विस्तृत सामाजिक सन्दर्भ की उपेक्षा—डेविस आर्स्टोन (Davis ... के अनुसार मेयो ने प्रयोग करते समय विस्तृत सामाजिक सन्दर्भ तथा व्यवहार के इससे सम्बन्ध व कुल सामाजिक स्थिति को ध्यान में नहीं रखा है। संगठन की कुल सामाजिक स्थिति पर ध्यान न देने से इन प्रयोगों का मूल्य कम हो गया है।

5. **सत्य लेकिन असंगत**—उद्योगपतियों द्वारा यह कहा जाता है कि मेयो के निष्कर्ष तो सही हैं लेकिन वास्तविक परिस्थितियों से असंगति रखते हैं। मेयो यह भूल गये हैं कि व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

6. **पूर्वविदित होना**—सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने आलोचना करते हुए कहा है कि मेयो के निष्कर्ष तो सत्य हैं लेकिन ये कोई नवीन नहीं हैं। इनकी जानकारी पहले ही से थी अतः इनके लिए उन्हें श्रेय देना उचित नहीं।

7. **अवैज्ञानिक जांच**—प्रयोग करते समय कार्य, श्रमिक तथा वातावरण का चयन वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया और अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि से नहीं हुए जिससे कारण एवं प्रभावों में ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका।

8. **श्रम संघों पर ध्यान न देना**—हॉथोर्न प्रयोग करते समय श्रम संघों पर ध्यान नहीं दिया गया है अतः मेयो का यह अध्ययन अधूरा है।

9. **सत्यता पर सन्देह**—कुछ विद्वानों ने हॉथोर्न प्रयोगों के निष्कर्षों की सत्यता पर भी सन्देह किया है। उनका कहना है कि जो परिस्थितियाँ हॉथोर्न के उद्योग में थीं वे अन्य स्थान पर नहीं हो सकतीं। आजकल विभिन्न कारणों से स्थान-स्थान पर भिन्नता मिलती है अतः इन प्रयोगों के निष्कर्षों को अन्य उद्योगों में समान रूप से लागू किया जा सकेगा यह सन्देहास्पद ही है।

हॉथोर्न प्रयोगों का मुख्य योगदान
(Main Contribution of Hawthorne Experiments)

मेयो द्वारा किये गए हॉथोर्न प्रयोगों की आलोचना की गई है लेकिन उनके निष्कर्षों को कोरी कल्पना या अवैज्ञानिक या नवीनता से रहित या असंगत कहकर व्यर्थ नहीं माना जा सकता। श्रमिकों के व्यवहार को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण तत्वों की जानकारी इन प्रयोगों से मिलती है। सेविवर्गीय प्रबन्ध के क्षेत्र में इन प्रयोगों के आधार पर दिये गए निम्नलिखित विचार इन प्रयोगों का महत्वपूर्ण योगदान है—

1. **मानवीय सम्बन्ध की अवधारणा**—सेविवर्गीय प्रबन्ध में मानवीय सम्बन्ध अवधारणा (Approach) हॉथोर्न प्रयोगों की महत्वपूर्ण देन है। इससे सेविवर्गीय प्रबन्ध में एक नवीन विचारधारा का सूत्रपात हुआ है जिसका श्रमिक की उत्पादकता पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है।

2. **अनार्थिक प्रेरणायें**—कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए केवल आर्थिक प्रेरणाएँ ही पर्याप्त नहीं हैं। इन प्रयोगों ने यह बताया कि अनार्थिक प्रेरणाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं। अनार्थिक प्रेरणाएँ, जैसे प्रबन्ध से भागीदारी, कर्मचारी को मान्यता व सुरक्षा आदि से प्रेरित करके उसके मनोबल को बढ़ाया जा सकता है।

3. **अनौपचारिक समूह का प्रभाव**—कर्मचारियों के अनौपचारिक समूह

कर्मचारियों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। प्रयोगों के इस निष्कर्ष से अनौपचारिक समूह से नेतृत्व करना तथा सम्प्रेषण कार्य सुगम हो जाता है।

4. प्रत्यक्ष विचार-विनिमय—हॉथोर्न प्रयोगों ने यह बताया है कि व्यक्तिगत विचार-विमर्श के द्वारा बहुत सी श्रम समस्याओं को सुविधा से हल किया जा सकता है। श्रमिकों की शंकाओं का समाधान कर मतभेद दूर किए जा सकते हैं।

5. रचनात्मक नेतृत्व—इन प्रयोगो ने रचनात्मक नेतृत्व करने हेतु नेतृत्व करने के तरीके में सुधार किया है। प्रबन्धको व पर्यवेक्षकों ने अपने नेतृत्व करने के तरीकों में भारी परिवर्तन कर उसे रचनात्मक बनाया है।

6. प्रयोगों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है—हॉथोर्न प्रयोगो ने औद्योगिक प्रबन्ध के क्षेत्र मे मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में प्रयोग एवं अनुसंधान करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।



9

व्यावसायिक समुदाय—भारत में व्यावसायिक समुदायों का विकास, उनका योगदान

(Business Communities--Development of Business Communities in India, their Contribution)

किसी देश की अर्थव्यवस्था में उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र में व्यावसायिक समुदायों का बड़ा महत्व होता है। उद्योग एवं व्यापार की स्थिति तथा विकास में व्यावसायियों की कुशलता तथा जोखिम लेने की क्षमता बहुत बड़ा योगदान देती है। कुशलता एवं साहस के अभाव में देश साधनसम्पन्न होने पर भी अविकसित एवं गरीब बना रहता है तथा व्यावसायिक क्रियायें पनप नहीं पातीं। यह गर्व की बात है कि प्राचीन भारत में व्यावसायिक क्रियायें समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। देश की राजनैतिक स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होने के उपरान्त भी भारतीय व्यावसायी समुदाय ने देश को औद्योगिक दृष्टि से सुदृढ़ रखा। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत उत्तम श्रेणी के वस्त्र-निर्माण, रंगों का मिश्रण करने, धातु के कार्य, बहुमूल्य पत्थरों पर कारीगिरी, विभिन्न प्रकार के इत्र तैयार करने तथा कलात्मक कार्यों में विश्वव्यापी प्रसिद्धि रखता था। इनके व्यावसाय में भारतीय व्यावसायी सक्रिय भूमिका निभाते थे। भारतीय व्यावसायियों के सम्बन्ध में सन् 1916 में नियुक्त औद्योगिक आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में स्वीकार किया है कि "जब पश्चिमी व्यापारी भारत में सर्व प्रथम आये तो उस समय भी भारत का औद्योगिक विकास तत्कालीन औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित किसी भी योरोपीय देश के औद्योगिक विकास से कम विकसित नहीं था।"[1] देश की तत्कालीन औद्योगिक

1. "When merchant adventurers from the West made their first appearance in India, the industrial development of this country was, at any rate, not inferior to that of the most advanced European Nations."
   —Report of Indian Industrial Commission 1916-18, p. 1.

एवं व्यापारिक अवस्था की विकसित स्थित, भारत में कुशल एवं योग्य व्यावसायी वर्ग के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है।

प्रमुख व्यावसायिक समुदायों का विकास

(Development of Important Business Communities)

भारत के आर्थिक इतिहास का यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि भारतीय उद्योगों के पतन का काल भारतीय व्यावसायी वर्ग के विकास का काल भी रहा है। इस वर्ग का उद्भव लगभग 280 वर्ष पूर्व सन् 1750 के उपरान्त हुआ। उस समय योरोपीय देशों के व्यापारी भारतीय व्यापारियों के साथ व्यापार में सक्रिय भाग लेते थे। उस समय हुई इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने इंगलैण्ड तथा अन्य योरोपीय देशों की आर्थिक क्रियाओं में अनेक नवीन परिवर्तन किये। व्यावसाय के रूप, उत्पादन की विधियाँ, नये उद्योग, आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। उनका प्रभाव भारतीय आर्थिक क्रियाओ पर भी पडा तथा यहाँ भी उन्हें अपनाने का प्रयास हुआ।[1] भारत के कुछ प्रमुख व्यावसायिक समुदायों द्वारा जो विशेषत: मद्रास, मलाबार, गुजरात, आंध्र, सिन्ध तथा राजस्थान के थे के द्वारा वर्मा, मलाया, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया के साथ वाणिज्यक सम्बन्ध बढाने मे सक्रिय भाग लिया गया।

भारत के परम्परागत समाज मे विभिन्न व्यावसायिक समुदाय धर्म, जाति व क्षेत्र के आधार पर रहे हैं। उनमें परस्पर कोई गतिशीलता थी ही नही तथा व्यावसाय पैतृक हुआ करते थे। प्रारम्भ की अवधि मे जो परिवार व्यावसायी में लगे हुए थे वे कुछ विशिष्ट समुदायों के ही थे। विभिन्न क्षेत्रों मे निम्नलिखित समुदाय अपनी व्यावसायिक क्रियाओं के लिये अत्यधिक प्रसिद्ध थे—

क्षेत्र	प्रसिद्ध व्यावसायिक समुदाय
1. पंजाब	खत्री
2. उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा राजस्थान	बनिया या वैश्य
3. आंध्र प्रदेश	कोमातिस
4. तमिलनाडु	चेट्टी
5. गुजरात	पारसी, मुस्लिम
6. कच्छ, सौराष्ट्र	खोजा, मैमन तथा वोहरा

उपर्युक्त समुदायो के बहुत से परिवारों ने अपने व्यावसाय को उन क्षेत्रों में भी बढ़ाया था जिनमें कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी राजनैतिक एवं आर्थिक कारणों से

1. *D. R. Gadgil* : "Origins of the Modern Indian Business Interim Report"—International Secretariat, Institute of Pacific Relations, New York, 1959, p. 1.

प्रमुखता रखती थी। राजस्थान के बहुत से मारवाड़ी वैश्य उत्तर प्रदेश, विहार व बंगाल के क्षेत्र में चले गये तथा पारसी व मुसलिम व्यावसायी समुदायों ने गुजरात व सौराष्ट्र में अपनी क्रियाओं को बड़ी मात्रा में बढ़ाया। इनमें से बहुत से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करते थे।[1] व्यावसायी परिवारों के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने से कुछ क्षेत्रों में तो स्थानीय व्यावसायियों का अन्त ही हो गया। सन् 1880 में लगभग यूरोपीय व्यवसाय-गृहों में बंगाली थे। सेठ एवं वैश्य जिन्होंने कलकत्ता को बसाया था, कलकत्ता की व्यावसायिक केन्द्र के रूप में नींव रखी थी, बड़ा बाजार जो कि कलकत्ता का व्यवसाय केन्द्र है तथा इसमें अधिकाँश गैर बंगाली पाये जाने लगे।[2] अन्य शब्दों में व्यवसायी परिवारों की प्रवासी क्रिया से बंगाल के व्यावसायिक केन्द्रों में बंगालियों के स्थान पर राजस्थान के मारवाड़ी आदि समुदायों का प्रभुत्व हो गया। इन प्रवासी व्यावसायी परिवारों में दो विशेषतायें प्रमुख रूप से देखी गई—पहली व्यवसाय की प्रवृत्ति (instinct) तथा दूसरी साहस की भावना।

भारतीय व्यावसायी समुदायों ने व्यवसाय के लिये सामान्य सुविधाओं का अभाव होने पर भी जैसे आवागमन के साधन एवं संचार व्यवस्था ठीक न होना। भाषा सम्बन्धी कठिनाई व विभिन्न क्षेत्रों के धर्म एवं सामाजिक रीति-रिवाजों में बहुत अन्तर होने पर भी व्यवसायी परिवारों ने अल्प संख्या से ही अपने व्यवसाय को वे जहाँ भी गये वहाँ जमा लिया। जहाँ भी वे गये उन्होंने उस स्थान की जनता तथा उसी प्रकार का व्यवसाय करने वालों के साथ शान्तिपूर्वक एवं पूर्ण सहयोग के साथ कार्य किया। इन समुदायों में जो व्यवसाय की प्रवृत्ति थी वह समाज में आये परिवर्तनों व नये मूल्यों के आने पर भी पूर्ववत् बनी रही। ब्रिटिश सरकार द्वारा नवीन शिक्षापद्धति के अपनाने से नई पीढ़ी के स्वभाव व व्यवहार में बहुत परिवर्तन हुए। परिवार का ढाँचा, जीवन का तरीका तथा पेशे काफी बदल गये। इन परिवर्तनों ने गैर व्यावसायी परिवारों को तथा कुछ व्यावसायी परिवारों को विचलित (Disrupted) कर दिया। बंगाल में मध्यम वर्ग के प्रथम परिवार थे जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का लाभ लिया तथा शिक्षाप्राप्त नवयुवक राजकीय सेवाओं में वकालात, औषधि विज्ञान व शिक्षा आदि के पेशों में लगने लगे। बौद्धिक स्तर अच्छा होने तथा अच्छा पारिश्रमिक मिलने से उक्त पेशों को शिक्षित युवकों ने ज्यादा श्रेष्ठ समझा तथा व्यवसाय के प्रति उनका लगाव कम हो गया। इसके फलस्वरूप बंगाल के क्षेत्र में अन्य प्रान्तों से आये प्रवासी व्यावसायिक परिवारों को प्रगति करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

1. *A. Dasgupta* : Business and Management in India, p. 18.
2. "Career Lectures" Calcutta University 1939, p. 9. Talkon Bangalis in Commerce and Industry *P. C. Ray*

जैसे कि भारत का आर्थिक इतिहास बताता है कि भारत अपने कुटीर उद्योग धन्धों के कलात्मक उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था तथा यहाँ का माल पश्चिमी देशों में बहुत पसन्द किया जाता था लेकिन ब्रिटिश शासन ने भारतीय उद्योगों के प्रति दमन की नीति अपनाई जिसने भारत के सामान्य एवं स्वाभाविक औद्योगिक विकास को रोक दिया। यहाँ के उद्योग हस्तकला से प्रारम्भ होकर यान्त्रिक निर्माता, शक्ति से चलने वाली मशीनों से बड़े पैमाने पर उत्पादन करने तक की स्थिति में स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हुए हैं। इन्हें अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ा। आधुनिक प्रकार के उद्योगों का विकास भारत में 19वीं शताब्दी के मध्य सन् 1850-60 की अवधि में हुआ। इस विकास का क्रम सन् 1914 तक चला। इस अवधि में उद्योगों का आधुनीकरण हुआ तथा नवीन उद्योग विकसित हुए। नवीन उत्पादन-विधियों का प्रयोग भी बढ़ा। यहाँ के आर्थिक जीवन में भारतीय उद्यमकर्त्ताओं ने भी अपनी कुशलता एवं साहस को नये व्यवसायों के लिए प्रयोग किया। देश में नवीन उद्योगों के विकास के काल में विदेशी व्यापारियों का (अंग्रेज) ध्यान मुख्यतः इंगलैंड को निर्यात किए जाने वाले माल के निर्माण पर ही था। इसके अलावा रेलों से सम्बन्धित उद्योगों पर भी उनकी विशेष रुचि थी जैसे कोयला, लोहे की ढलाई तथा अन्य धातु उद्योग।

भारत में नये उद्योगों के विकास में भारतीय समुदायों ने भी विशेष रुचि ली। इनमें सबसे पहला स्थान गुजरात के पारसियों का है। पारसी व्यावसायियों के द्वारा इंगलैण्ड को कपास निर्यात की जाती थी तथा वे इंगलैण्ड आते जाते भी थे। वहाँ से वे वस्त्र निर्माण करने वाली मशीनें लाये तथा देश में सूती वस्त्र निर्माण करने वाली मिलों की स्थापना की। भारत में प्रथम सफल सूती वस्त्र की मिल बम्बई में सन् 1854 में पारसी व्यवसायी द्वारा ही स्थापित की गई। इसी प्रकार सन् 1911 में बिहार (जमशेदपुर) में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी पारसी व्यवसायी श्री जमशेदजी टाटा द्वारा स्थापित की गई। पारसियों के बाद दूसरा स्थान भारत में गुजरातियों का रहा। इन्होंने पारसियों का अनुसरण करते हुए अहमदाबाद में अनेक सूती वस्त्र निर्माण करने वाली मिलों की स्थापना की।

भारत में पारसी एवं गुजरातियों के बाद तीसरा प्रमुख स्थान राजस्थान के मारवाड़ी व्यावसायियों का है जिन्होंने राजस्थान के बाहर बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद आदि नगरों में जाकर अपना विशिष्ट स्थान बनाया तथा बड़े उद्योग एवं बड़े व्यापार को संचालित किया। ये लोग प्रारम्भ में महाजनी का ही कार्य करते थे तथा ब्याज कमाते थे लेकिन धीरे-धीरे ऐसे उद्योगों की स्थापना का कार्य भी किया जिनमें कि ज्यादा प्रतियोगिता नहीं थी, जैसे जूट, कागज, सीमेन्ट, मोटर आदि के उद्योग।

भारतीय व्यावसायियों को नये उद्योगों की स्थापना करने में सन् 1904 में चलाये गये स्वदेशी आन्दोलन तथा सन् 1914 से 1918 तक की अवधि में चले

प्रथम विश्वयुद्ध व 1923 में अपनाई गई संरक्षण नीति से विशेष प्रोत्साहन मिला। इससे कुछ व्यवसायी परिवारों को उद्योगों की नवीन इकाइयाँ लगाने व नयी प्रकार की वस्तु निर्माण करने वाले कारखानों की स्थापना करने में विशेष प्रोत्साहन प्राप्त किया। वैंकिंग व्यवसाय वीमा, व्यवसाय, यातायात व वित्त प्रवन्वन जैसे कार्यों के व्यवसाय भी प्रारम्भ किये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त कुछ विशिष्ट औद्योगिक घरानों ने विभिन्न उद्योगों में अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। कुछ चुने हुए व्यावसायिक घरानों द्वारा एकाधिकार की स्थापना की प्रवृत्ति सामान्यतः उसी पुरानी परम्परा पर आधारित थी जिसमें कि कुछ विशिष्ट समुदाय जैसे मारवाड़ी, गुजराती या पारसी परम्पर मिलकर व्यवसाय में भाग लेते थे। कुछ चुने हुए घरानों की एकाधिकार स्थापना की यह प्रवृत्ति स्वतन्त्रता प्राप्ति के 28 वर्ष वाद भी वनी हुई है। सरकार की समाजवादी नीति के वावजूद भी औद्योगिक घराने जैसे टाटा, विरला, वांगड़, डालमिया, साहू जैन, सोमानी, साराभाई, मफतलाल, गोयनका, थापर आदि भारत के उद्योगों में प्रमुखता से छाये हुए हैं। इन औद्योगिक घरानों की कुछ विशेषताएँ रही हैं जैसे–(i) प्रारम्भ में ये अधिकांशतः सूदखोर थे तथा शीघ्र ही अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहते थे। (ii) उत्पादन वढ़ाने तथा उत्पादन की किस्म में सुधार करने पर कम ध्यान दिया गया है। (iii) टाटा जैसे पारसी उद्योग-पति को छोड़कर देश के विभिन्न उद्योगों पर हावी उद्योगपतियों ने जातिवाद, भाई-भतीजावाद को विशेष प्रोत्साहन दिया। (iv) उत्पादन के क्षेत्र में शोध एवं अनुसंधान के कार्य तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कम महत्व दिया गया। (v) वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में इन उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था व सेविवर्गीय प्रवन्ध में अनेक त्रुटियाँ रहीं।

प्रमुख औद्योगिक घरानों द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण—देश के व्यावसायिक समुदायों में से कुछ विशिष्ट परिवारों ने औद्योगिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति की। प्रारम्भिक स्थिति में ये महाजनी का ही कार्य करते थे वाद में व्यापार भी करने लगे और उसके वाद उद्योगों के क्षेत्र में भी इनके द्वारा पूँजी का विनियोग किया गया। व्यावसायिक प्रवृत्ति एवं साहस की भावना इनमें थी ही तथा देश में आधुनिक औद्योगिक विकास के लिये पर्याप्त क्षेत्र था। अतः इन्हें उद्योगों में अच्छी सफलता मिली। फलस्वरूप कुछ औद्योगिक घरानों के हाथ में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण होने लगा। उत्पादन के कुछ क्षेत्रों में इन्होंने एकाधिकार भी स्थापित किये। इस आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं—

1. कम्पनी संगठन का विकास—संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के विकास ने कुछ औद्योगिक घरानों द्वारा विभिन्न कम्पनियों को अपने नियन्त्रण में लेना सम्भव वना दिया। वे कुछ पूँजी स्वयं विनियोग करके शेष अधिकांश पूँजी जनता को अंशों का विक्रय करके प्राप्त कर सकते थे। साथ ही अन्य कम्पनियों के अंश खरीद

कर उनमें अपना नियन्त्रण स्थापित करना सरल था। अतः संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के प्रादुर्भाव व विकास ने कुछ व्यक्तियों द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति एवं कुशलता से विभिन्न कम्पनियों पर नियन्त्रण करने को प्रोत्साहन प्रदान किया।

2. प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली—भारत में कम्पनियों के विकास के साथ-साथ प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का भी विकास हुआ जिसमें कुछ कुशल एवं वित्तीय दृष्टि से सुदृढ व्यक्तियों को कम्पनी का प्रबन्ध करने हेतु नियुक्त कर दिया जाता था। एक व्यक्ति एक ही नहीं अपितु अनेक कम्पनियों का प्रबन्ध अभिकर्त्ता बन सकता था तथा ये उनमें प्रबन्ध अभिकर्त्ता के रूप मे कार्य करने के लिये दीर्घकालीन समझौते किया करते थे जिससे उनका नियन्त्रण एवं प्रबन्ध इन अभिकर्त्ताओं के पास बना रहता था प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा कम्पनियो पर प्रबन्धकीय एव वित्तीय नियन्त्रण का अनुमान डॉ. आर. के. हजारी द्वारा किये गये अध्ययन से लगाया जा सकता है। सन् 1958 में किये गये इस अध्ययन मे 545 कम्पनियों की कुल प्रदत पूँजी (Paid up Capital) 199·42 करोड़ रु. थी जिसमें 85·88 करोड़ रुपये की पूँजी पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का नियन्त्रण था। यह कुल पूँजी का 43·1 प्रतिशत भाग था। कुछ बड़े प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का उनके द्वारा प्रबन्धित कम्पनी के स्वामित्व पर बहुत अधिक मात्रा में नियन्त्रण था जैसे जे० के० का 74·71 प्रतिशत, मफतलाल, वालचन्द, खटाऊ एव बाँगड़ का 67 से 69 प्रतिशत तथा बिडला व थापर का लगभग 61 प्रतिशत तक था। डॉ० हजारी द्वारा किये गये इस अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहों के 20 प्रमुख गुट 89 मैनेजिंग एजेन्सियो के द्वारा 372 कम्पनियों का प्रबन्ध करते थे। इनमे प्रमुख थे टाटा, बिडला, मार्टिन बर्न, डालमिया, साहू जैन, बर्ड हैगलर, एण्ड्यूल, थापर, जे० के०, श्री रामशापूरजी, वालचन्द, मफतलाल, कस्तूरभाई, सेराभाई, रामकृष्ण, इन्द्रजीत, महिन्द्रा तथा किर्लोस्कर। प्रत्येक गुट अनेक कम्पनियों के प्रबन्ध एवं पूँजी पर नियन्त्रण रखता था। उदाहरण के लिये टाटा अपने अन्तर्गत 9 एजेन्सियों के माध्यम से 53 कम्पनियों का प्रबन्ध करता था, बिडला गुट अपने अन्तर्गत 13 मैनेजिंग एजेन्सियों के द्वारा 151 कम्पनियों का प्रबन्ध करता था। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषो को दूर करने व सत्ता के केन्द्रीयकरण को निरत्साहित करने की दृष्टि से सरकार ने कम्पनी अधिनियम में विभिन्न वैधानिक प्रावधानो के अन्तर्गत पहले इन पर नियन्त्रण लगाये तथा बाद में इस प्रथा की समाप्ति हेतु प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त न करने की भी व्यवस्था की।

3. संयोगों का निर्माण—पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने, मूल्यों पर नियन्त्रण रखने, अधिक लाभ कमाने की लालसा की पूर्ति करने तथा बड़े व्यवसाय की मितव्ययिताओं का लाभ उठाने के लिए व्यावसायिक संयोग स्थापित किये गये। इनके निर्माण पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं रहे अतः व्यवसाय की विभिन्न

कठिनाइयों को व बड़े व्यवसाय स्थापित करने के लिये संयोगों का निर्माण हुआ जिससे आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण कुछ चुने हुए लोगों के पास पहुँच गया।

4. विदेशी संयुक्त उपक्रम—देश में विभिन्न नये उद्योगों की स्थापना के लिए विशेष तकनीकी ज्ञान का अभाव था तथा वह विदेशी सहयोग से प्राप्त हो सकता था। इसे प्राप्त करने के लिये कुछ शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता था जो कि सामान्य व्यवसायी के लिये सम्भव नहीं था। भारत के प्रसिद्ध औद्योगिक घराने इन शर्तों को पूरा करने की क्षमता रखते थे। उनके पास वांछित अनुभव, निपुणता एवं साधन भी उपलब्ध थे तथा औद्योगिक क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने की लालसा थी जिससे विदेशी संस्थाओं के सहयोग से संयुक्त उपक्रम स्थापित किए गये। इस प्रकार के बढ़ते हुए संयोगों ने औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया।

5. लाइसेन्सिग नीति—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम सन् 1951 के अन्तर्गत भारत में औद्योगिक लाइसेन्सिग प्रणाली प्रारम्भ की गई। लाइसेन्सिग नीति के अन्तर्गत पाँच दशाओं में लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य रखा गया—

(i) नवीन औद्योगिक उपक्रम की स्थापना के लिए (ऐसे उद्योगों के लिये जो अधिनियम की अनुसूची 1 में वर्णित है तथा जिनकी प्रस्तावित पूँजी विनियोग की राशि एक करोड़ रुपये या अधिक हो)

(ii) किसी नयी वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ करने के लिए।

(iii) विद्यमान उपक्रमों द्वारा पर्याप्त विस्तार करने के लिये,

(iv) व्यवसाय संचालनार्थ लाइसेन्स (ऐसे उद्योग के लिए जो पहले इस अधिनियम की व्यवस्थाओं से मुक्त था लेकिन बाद में शामिल कर लिया जाने पर)

(v) स्थानान्तरण की दशा में।

लाइसेन्सिग प्रणाली के क्रियान्वयन के पुनरावलोकन के लिए डॉ० आर० के० हजारी की नियुक्ति जुलाई 1966 में योजना आयोग में अवैतनिक परामर्शदाता के रूप में की गई तथा 2 जुलाई 1967 को भारत सरकार द्वारा औद्योगिक लाइसेन्सिग जाँच समिति नियुक्त की गई जिसके पहले प्रो० एम० एस० थंकर तथा बाद में श्री सुबीमलदत्त अध्यक्ष नियुक्त हुए। इन दोनों ही समितियों ने (हजारी समिति एवं दत्त समिति) अपने प्रतिवेदन में इस बात को स्पष्ट किया कि लाइसेंसों की स्वीकृतियों में संख्या के अनुसार तथा प्रस्तावित पूँजी विनियोग के अनुसार बड़े औद्योगिक घरानों को अधिक भाग प्राप्त हुआ। इसका एकमात्र कारण यह था कि औद्योगिक कुशलता की दृष्टि से एवं वित्तीय सुविधाओं की दृष्टि से ये घराने नवीन उद्योगों की स्थापना करने एवं राज्य द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करने में समर्थ थे। अतः लाइसेन्सिग नीति का का इन्होंने ज्यादा लाभ उठाया फलस्वरूप आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण कुछ घरानों के हाथ में बढ़ा।

6. दोषपूर्ण ऋण नीति—औद्योगिक लाइसेन्सिग नीति की जाँच हेतु नियुक्त

दत्त समिति ने अपना मत व्यक्त किया कि 1956 से 1966 तक की अवधि में विशिष्ट वित्तीय निगमों द्वारा उद्योगों को दी गई वित्तीय सहायता का 44·4 प्रतिशत भाग 73 बड़े औद्योगिक घरानों को प्रदान किया गया। इनमें भी देश के बीस बड़े औद्योगिक घरानों को कुल प्रदत्त सहायता का 17 प्रतिशत भाग प्रदान किया गया। जीवन बीमा निगम एवं यूनिट ट्रस्ट तथा स्टेट बैंक द्वारा दिये गये ऋणों का भी बड़ा भाग बड़े औद्योगिक घरानों को ही दिया गया। इससे औद्योगिक घरानों को अपना आर्थिक प्रभाव बढ़ाने में और सुविधा मिली तथा आर्थिक शक्ति इनमें केन्द्रित हुई।

7. अन्तर कम्पनी विनियोग—अन्तर कम्पनी विनियोग का भी औद्योगिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में योगदान रहा है। डॉ० आर० के० हजारी के अनुसार "अन्तर कम्पनी विनियोग उन लोगों के हाथों मे जो कम्पनियों की गतिविधियों का नियन्त्रण करते हैं एक शक्तिशाली अस्त्र हैं।"[1] महलनवीस समिति के अनुसार अधिकांश दशाओं में नियन्त्रक परिवार किसी प्रमुख कम्पनी या कम्पनियो में अपेक्षाकृत कम पूँजी विनियोग करके विशाल मात्रा में पूँजी प्राप्ति की एक ऐसी शृंखला को जन्म देते हैं जो निरन्तर उन्हें बाद में बिना स्वयं की ओर पूँजी विनियोग के, महत्त्वपूर्ण पूँजी विनियोग पर नियन्त्रण प्राप्त करने मे सफल बनाती है।[2] अन्तर कम्पनी विनियोग ने सत्ता के केन्द्रीयकरण को बढ़ाया है।

8. कठोर आयात नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा अपनाई गई कठोर आयात नीति ने भी देश के बड़े उत्पादकों को एकाधिकार स्थापित करने मे सहायता प्रदान की है। आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने से विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो गई जिससे देशी उत्पादकों का एकाधिकार हो गया तथा उनके द्वारा भारी लाभ कमाया गया। प्रो० बी० आर० शिनाय के अनुसार भारत की आयात नीति ने एकाधिकार संस्थाओं के वार्षिक लाभों में साढ़े चार अरब रुपयों की वृद्धि करदी है।

1. "Inter-corporate investment is a powerful instrument in the hands of those who control corporate activity."
   —*Dr. R. K. Hazari* : "The Structure of Private Sector 1963."
2. "The controlling families in most cases, make some relatively small investments in a principal company or companies which initiate a breeding process in some groups an inbreeding process that takes care of nearly all subsequent controlling investments of significance, without calling forth further substantial investments from the families."
   —Mahalnobis Committee Report, 1964

आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की स्थिति

योजना काल में देश के आर्थिक विकास के लिए विभिन्न योजनायें क्रियान्वित की गई। प्रथम योजना में इस बात का उल्लेख किया गया था कि भारत की योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था का मूल उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में विकास की गति को बढ़ाने के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में फैली हुई विषमताओं को कम करना होगा। भारतीय संसद ने भी देश में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने का संकल्प लिया। देश में एक ऐसी समानान्तर व्यवस्था स्थापित करने की बात सोची गई जो विषमता, शोषण व उत्पीड़न का उन्मूलन करे जिससे देश में समानता व सामाजिक न्याय प्राप्त करने का मौलिक लक्ष्य पूरा किया जा सके। जैसा कि भारत के औद्योगीकरण के इतिहास में स्पष्ट किया गया है कि योजनाकाल में देश के औद्योगीकरण पर सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में बड़ी धनराशि विनियोग की गई। इन योजनाओं से निश्चित रूप से देश का औद्योगिक विकास हुआ है। उत्पादन की मात्रा, उत्पादन की विविधता, उत्पादन की किस्म, उत्पादन की तकनीक एवं विधि आदि की दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि योजनाबद्ध विकास आर्थिक विषमता को समाप्त नहीं कर सका है। समाप्ति की बात तो दूर रही बल्कि इस अवधि में विषमता की खाई और बढ़ गई। सन् 1964 में एकाधिकार जांच आयोग स्थापित किया गया। आयोग ने 75 औद्योगिक घरानों का अध्ययन किया जिनकी सम्पत्तियाँ पाँच करोड़ रुपये या इससे अधिक की थी। इनके नियन्त्रण में 1516 कम्पनियाँ थीं जिनकी चुकता पूँजी 646 करोड़ रुपये थी तथा कुल सम्पत्तियाँ 2606 करोड़ रुपये की थी। आयोग ने निजी क्षेत्र की समस्त कम्पनियों की चुकता पूँजी तथा सम्पत्तियों से इसकी तुलना करके यह ज्ञात किया कि निजी क्षेत्र की समस्त कम्पनियों की कुल चुकता-पूँजी के 34·1 प्रतिशत तथा कुल सम्पत्तियों का 46·9 प्रतिशत इन 75 विशाल व्यावसायिक गृहों के हाथों में केन्द्रित था। प्रथम 30 औद्योगिक कम्पनियाँ तथा उनके नियन्त्रण में होने वाली कम्पनियों की सम्पत्तियाँ निम्न प्रकार थीं—

प्रमुख औद्योगिक गृह एवं उनकी सम्पत्तियाँ

क्र. सं	औद्योगिक गृह का नाम या औद्योगिक समूह	नियन्त्रित कम्पनियों की सम्पत्तियाँ (करोड़ रुपये)
1	2	3
1.	टाटा	414·72
2.	बिड़ला	292·72
3.	मार्टिन बर्न	149·61
4.	बांगड़	77·91

1	2	3
5.	ए० सी० सी०	77·36
6.	थापर	71·90
7.	साहू जैन	67·69
8.	बर्ड हौल्जर्स	60·10
9.	जे० के० सिंहानिया	59·20
10.	सूरजमल नागरमल	57·37
11.	वालचन्द	55·17
12.	श्रीराम	54·68
13.	सिन्धिया	46·96
14.	गोयनका	46·95
15.	मफतलाल	45·91
16.	साराभाई	43·91
17.	एण्ड्रयू यूल	41·89
18.	किलिक	41·50
19.	आई० सी० आई०	36·89
20.	कीलाचन्द	35·13
21.	कस्तूरभाई लालभाई	33.94
22.	मैकनील और बैरी-विनी	29·31 21·13
23.	जार्डइन हैण्डरसन	28·51
24.	टी. वी. सुन्दरम आयंगर	21·87
25.	महिन्द्रा और महिन्द्रा	20·12
26.	किर्लोस्कर	19·12
27.	सटाऊ	13·62
28.	पैरी	11·68
29.	सेशासयी (Seshasayes)	26·69
30.	बजाज	21·14

इकोनोमिक टाइम्स के शोध संस्थान ने बड़े व्यावसायिक गृहों का अध्ययन वर्ष 1975–76 में किया जिसे फरवरी व मार्च 1977 के अंकों में प्रकाशित किया गया। इस अध्ययन ने यह स्पष्ट किया कि बारह वर्ष की अवधि में विशाल व्यावसायिक गृहों की पारस्परिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है लेकिन आर्थिक

सत्ता के केन्द्रीयकरण की पुष्टि इस अध्ययन के द्वारा भी की गई है। वर्ष 1975–76 में 20 बड़े औद्योगिक गृहों की स्थिति निम्न प्रकार थी—

बीस बड़े औद्योगिक गृहों की स्थिति (सन् 1975–76)

क्र. सं.	औद्योगिक गृह या समूह का नाम	कुल सम्पत्तियाँ (करोड़ रुपये)
1.	बिड़ला	1064
2.	टाटा	974
3.	मफतलाल	284
4.	जे० के०	224
5.	सिन्धिया	217
6.	थापर	204
7.	बाँगड़	196
8.	श्रीराम	187
9.	साराभाई	182
10.	आई० सी० आई०	181
11.	किर्लोस्कर	177
12.	ए० सी० सी०	169
13.	पैरी	148
14.	महिन्द्रा तथा महिन्द्रा	144
15.	बजाज	143
16.	किलिक्स	139
17.	वालचन्द	135
18.	मोदी	116
19.	लार्सन एण्ड टूब्रो	113
20.	कस्तूरभाई लालभाई	109

उपरोक्त अंक तथा अध्ययन एकाधिकार जाँच आयोग के इस कथन को सत्यापित करते हैं कि "स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद की अवधि में, अर्थात संगठित नियोजन की अवधि में, वे शक्तियाँ, जो देश के शीघ्र औद्योगीकरण हेतु कार्य में लगायी गई थी, उन व्यक्तियों या परिवारों के हाथों में, जो पहले से ही सुदृढ़ थे, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण में सहायक बन गयी।"

व्यावसायी समुदायों के गुण
(Qualities of Business Communities)

भारत के व्यवसायी समुदाय देश के सम्पूर्ण औद्योगिक, क्षेत्र में छाये हुए हैं। विभिन्न प्रकार के निर्माणी उद्योग, बागान उद्योग व सेवा व्यवसायों में प्रमुख स्थान रखते हैं। व्यवसाय के क्षेत्र में इन समुदायों द्वारा यह अभूतपूर्व सफलता अपने समुदाय विशेष के विशिष्ट गुणों के परिणामस्वरूप ही हो सकी है। पारसी, गुजराती व मारवाड़ी समुदायों में व्यवसाय की एक असाधारण प्रतिभा रही है जिससे अन्य जाति या समुदायों के लोगों की तुलना में ये व्यवसाय में ज्यादा सफलता प्राप्त कर सके। अपनी कुशलता से इन्होंने जो स्थान व्यवसाय जगत में बनाया है उससे ये भारत में ही नहीं बल्कि कुछ समुदाय तो विश्व में भी अपना प्रमुख स्थान रखते हैं जैसे टाटा तथा बिड़ला। विभिन्न कठिनाइयों के होने के उपरान्त भी इन्होंने अपने साहस, कुशलता व कठोर परिश्रम के बल पर अनेक उद्योगों की स्थापना करके देश के औद्योगिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन समुदायों के निम्नलिखित गुण उल्लेखनीय हैं—

1. **अत्यधिक परिश्रमी**—भारत के व्यावसायिक समुदाय अथक परिश्रमी हैं। व्यावसाय को प्रारम्भ करने तथा उसे संचालित करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं लेकिन इनमें अत्यधिक परिश्रम करने का गुण होने से इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की है। व्यावसाय की सफलता के लिये ये दिन-रात कार्य करते हैं। जब किसी उद्योग को लगाया या किसी से खरीदा उसे सफलता के मार्ग पर स्थापित करके ही चैन की सांस लेते हैं।

2. **दूरदर्शी**—भारत के प्रमुख व्यावसायिक समुदाय दूरदर्शिता का भी विशेष गुण रखते हैं। कहाँ पर, कब किस उद्योग को लगाना उचित होगा तथा वहाँ भविष्य में किस प्रकार की कठिनाइयाँ या सुविधा प्राप्त हो सकती हैं इसका पूर्वानुमान लगाना आवश्यक होता है। इनमें यह गुण रहा है कि किसी उद्योग की उत्पादित वस्तु की माँग पर राजनैतिक परिवर्तन, फैशन व प्रतियोगिता के कारण क्या प्रभाव पड़ेगा इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाते हुए उत्पादन के कार्य को बढ़ाते हैं। व्यवसाय की सफलता के लिए सरकार की भावी नीति, देश की आन्तरिक एवं बाह्य प्रतियोगिता तथा उपभोक्ता की रुचियों का ठीक-ठीक अनुमान लगाना आवश्यक होता है जिसमें कि ये समुदाय बड़े समर्थ हैं तथा सदैव भावी परिस्थितियों का अनुमान लगाकर ही अपनी व्यावसाय नीति निर्धारित करते हैं। बड़े व्यवसाय के संचालन में अनेक बाधायें आती हैं कच्चे माल की, मशीनों की, श्रमिकों की, वित्त की, राजकीय नियन्त्रण की जिनका कि पूर्वानुमान लगाने हेतु दूरदर्शिता आवश्यक होती है।

3. **आत्मविश्वास**—भारतीय व्यावसायिक समुदायों में गजब का असाधारण आत्म-विश्वास पाया गया है। राजस्थान के मारवाड़ी राजस्थान की मरुभूमि को छोड़कर बंगाल, आसाम, उड़ीसा, गुजरात जैसे क्षेत्रों में गये तब इनके पास पूँजी का

तो नितान्त अभाव था ही साथ ही भाषा, संस्कृति, जलवायु, रहन-सहन आदि भी भिन्न होने के कारण इन्हें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा लेकिन इनमें इतना अधिक आत्म-विश्वास था कि कुछ न होते हुए तथा भारी बाधाओं के उपरान्त भी अपने आत्मविश्वास के बल पर जमे रहे तथा जहाँ भी गये वहाँ व्यावसाय में सफलता प्राप्त की। इन्होंने जिस उद्योग में भी हाथ डाला उसे अपने दृढ़ संकल्प, लगन व निष्ठा से सफलतापूर्वक संचालित किया।

4. विवेकशील—व्यवसाय के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिये विवेक की आवश्यकता होती है। नवीन वस्तु का निर्माण करने, नवीन तकनीक व मशीन अपनाने, किसी स्थान पर व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने, व्यवसाय का विस्तार या संकुचन करने आदि से सम्बन्धित निर्णय लेने के लिये बड़ी सूक्ष्मता के साथ सोचना पड़ता है तथा उसके परिणामों को स्थापित करना होता है। भारत के व्यावसायिक समूहों में यह गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है तथा वे देश एवं विदेशों की बदलती हुई परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए निर्णय लेने में समर्थ रहे हैं।

5. महत्वाकांक्षी—प्रगति के लिए महत्वाकांक्षा (Ambition) का होना आवश्यक होता है। भारतीय व्यावसायिक समूहों में महत्वाकांक्षा का विशिष्ट गुण पाया जाता है। वे उद्योग को स्थापित एवं संचालित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए हैं, अपितु उन्होंने उनका विस्तार किया है। यही नहीं अपने को किसी एक प्रकार के उद्योग से सीमित नहीं रखा बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश किया जैसे टाटा तथा बिडला ने इंजीनियरिंग, कैमीकल्स, वस्त्र निर्माण, इस्पात उद्योग आदि में। इसी प्रकार अब इनके उद्योगों का विस्तार भारत ही में नहीं बल्कि विदेशों में भी होने लगा है। टाटा तथा बिड़ला विदेशों में भी अपने उद्योग स्थापित करने लगे हैं। यह इनकी महत्वाकांक्षा का ही परिणाम है जो इन्हें निरन्तर अधिक से अधिक प्रगति करने के लिये प्रेरित करती है।

6. सजग—व्यावसायिक सफलता के लिए सजगता आवश्यक होती है। प्रमुख व्यावसायिक समुदाय पारसी, गुजराती व मारवाड़ी व्यावसायिक गतिविधियों के सम्बन्ध में बड़े सजग रहे हैं तथा औद्योगिक जगत में हो रहे परिवर्तनों के सन्दर्भ में सोचते रहे हैं। इस प्रतियोगिता के युग में तकनीकी शोध एवं आविष्कारों के प्रति तथा उद्योगों की वर्तमान प्रवृत्तियों के प्रति बड़ी सजगता की आवश्यकता होती है। भारतीय व्यावसायिक समुदाय इस गुण को रखते हैं तथा वे समयानुकूल परिवर्तनों को अपनाते हुए व्यवसाय में प्रगति कर रहे हैं।

7. सत्यनिष्ठ—प्रमुख व्यावसायिक समुदायों ने सत्यता एवं ईमानदारी की नीति को सदैव अपनाकर प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़े हैं। व्यवसाय के क्षेत्र में जब भी जो वचन देते हैं उसका पूर्ण ईमानदारी से पालन करते हैं। अपनी ईमानदारी एवं सत्यता की नीति के आधार पर इन्होंने अपनी ख्याति में देश एवं विदेशों में अच्छी साख का निर्माण किया है।

8. अदम्य उत्साह एवं धैर्यशील—ये समुदाय व्यवसाय के कार्य में अदम्य उत्साह का प्रदर्शन करते हैं तथा आगे बढने के लिये तथा व्यवसाय का विस्तार करने में बड़ी तल्लीनता दिखाते हैं। व्यावसायिक कार्यों में आने वाली अनेक कठिनाइयों को बड़े धैर्य के साथ सुलझाते हैं। संकट में हिम्मत नहीं हारते तथा व्यावसाय के अस्तित्व एवं सफलता के लिये अपना सब कुछ बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। अपने अपार साहस एवं उत्साह के कारण इन्होंने बडी सफलतायें प्राप्त की हैं।

9. परोपकारी—भारत के प्रमुख व्यावसायिक समुदाय केवल आर्थिक लाभ एवं आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की भावना से ही कार्य नहीं करते बल्कि इनमें परोपकार की भी भावना है। ये समाज के कल्याण एवं हित के लिये भी विभिन्न कार्यों की व्यवस्था करते रहे हैं। इनका यह विश्वास रहा है कि 'परोपकार पुण्य कार्य है तथा परपीड़न पाप'। भारत के प्रमुख उद्योगपति प्रति वर्ष लाखों रुपया समाज सेवा व जनहित के लिये भी देते हैं। टाटा, बिड़ला, जैपुरिया, पोद्दार आदि व्यावसायियों ने शिक्षा संस्थायें, धार्मिक संस्थायें, धर्मशालायें, चिकित्सालय आदि संचालित कर रखे हैं जिनसे देश के अनेक नागरिक लाभान्वित होते हैं। समाज में अर्जित लाभ का एक अंश समाज के कल्याणार्थ स्वेच्छा से व्यय करना इन समुदायों की प्रमुख विशेषता एवं गुण रहा है।

व्यावसायिक समुदायों का योगदान
(Contribution of Business Communities)

भारत के विशिष्ट व्यावसायिक समुदायो ने देश के औद्योगिक विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है। ब्रिटिश सरकार की विपरीत नीति होने के उपरान्त भी आधुनिक उद्योगो को स्थापित करना तथा उनका विस्तार करना एक कठिन कार्य ही था लेकिन अनेक बाधाओं के होते हुये भी देश में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाली संस्थाओं की स्थापना व सफल संचालन हो सका। इसका श्रेय एकमात्र यहाँ के कुशल एवं साहसी व्यावसायिक समुदायों को ही है। देश की औद्योगिक प्रगति एवं आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इन समुदायों का निम्नलिखित योगदान रहा है—

1. आधुनिक निर्माणी उद्योगों की स्थापना—शक्ति से चलने वाली मशीनों से बड़े पैमाने पर पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रान्ति के बाद उत्पादन होना प्रारम्भ हो गया था। भारत उनके लिए कच्चे माल का पूर्तिकर्त्ता ही था तथा उनके निर्मित माल के विक्रय के लिए बाजार था। वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति का भारत की उत्पादन व्यवस्था पर कुछ प्रभाव तो पड़ा था लेकिन बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले कारखानो की स्थापना में जैसे वस्त्र व लोह एवं इस्पात उद्योग आदि की स्थापना का प्रारम्भ इन समुदायों के साहसियो द्वारा ही किया गया। बम्बई व अहमदाबाद में सूती उद्योग, कलकत्ता में जूट उद्योग, जमशेदपुर में लोहा एवं इस्पात उद्योग आदि का विकास व्यावसायिक समुदायों विशेषकर पारसी, गुजराती व

मारवाड़ी वर्ग के द्वारा किया गया है। इन समुदायों के औद्योगिक गृहों ने नये-नये उद्योग लगाये, उनका उत्पादन बढ़ाकर विस्तार किया। आजकल विभिन्न क्षेत्रों में इनके उद्योग मिलते हैं जैसे निर्माणी उद्योग-वस्त्र, जूट का सामान, चीनी, इस्पात, इंजीनियरिंग में मशीन व यंत्र निर्माण करने वाले, विद्युत यंत्र व विद्युत से चलने वाली विभिन्न वस्तुएँ आदि में इन्होंने अनेक कारखानों की स्थापना करके देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहन प्रदान किया है।

2. **व्यापार कार्य**—मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी, पारसी आदि ने देशी एवं विदेशी व्यापार में भाग लिया है। स्वतंत्रता काल के पूर्व भी चाय, चीनी, कपास, तिलहन आदि का निर्यात करने व विदेशों से निर्मित वस्त्र, मशीनें, औषधियाँ आदि के आयात करने में सक्रिय भाग लेकर देश के व्यापारिक सम्बन्धों को विभिन्न देशों से स्थापित किया। विदेशों से आयात माल को देश के आन्तरिक भागों में भेजने व देश के आन्तरिक व्यापार में भी इन समुदायों ने पर्याप्त सेवा प्रदान की है।

3. **सहायक सेवाओं की व्यवस्था**—उद्योग एवं व्यापार के विकास के लिये विभिन्न आवश्यक सेवाओं के प्रदान करने में भी इन समुदायों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन सेवाओं में बैंकों की स्थापना, बीमा कम्पनियों का निर्माण, स्टॉक एक्सचेन्ज में सदस्य एवं दलाल के रूप में सेवा परिवहन सेवाएँ आदि प्रदान करके व्यापार एवं उद्योगों के संचालन को सुविधाजनक बना दिया। किसी देश के आर्थिक विकास में ये सेवाएँ आवश्यक होती हैं।

4. **प्रबन्धकीय सेवायें**—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये व्यवसाय संगठन का कम्पनी प्रारूप अपनाया जाता है। कम्पनी के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के लिये विशेष कुशलता एवं व्यावसायिक अनुभव की आवश्यकता होती है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के रूप में कम्पनियों के प्रवर्तन, निर्माण एवं संचालन के कार्यों में इन समुदायों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ये केवल प्रबन्ध ही नहीं करते थे बल्कि संकट के समय कम्पनियों को वित्तीय साधनों की व्यवस्था करके आवश्यक पूँजी भी प्रदान करते थे। कम्पनियों के विकास एवं संचालन में इनकी सेवायें उल्लेखनीय रही है।

5. **राष्ट्रीय साधनों का सदुपयोग**—देश में उपलब्ध साधनों का विदोहन करने एवं उनसे विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का निर्माण कराने में भारतीय व्यावसायिक समुदायों का योगदान भी उल्लेखनीय है। भारतीय लोहा, कोयला, चूना, मैंगनीज आदि की खनिज सम्पदा, भारतीय वनों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की लकड़ी, पत्तों, गोंद, कत्था, लाख आदि के विदोहन में इन समुदायों का सहयोग रहा है।

6. **विदेशी संयोग**—देश में नवीन प्रकार के उद्योग जो विशेष तकनीक एवं यंत्रों से ही संचालित हो सकते थे तथा जिनके लिये हमारे यहां तकनीकी ज्ञान का अभाव था। ऐसे उद्योगों की स्थापना के लिये आवश्यक शर्तें को पूरा करके विदेशी

फर्मों के साथ समझौते करके उनका सहयोग प्राप्त किया जिससे अनेक वस्तुएँ जो विदेशों से आयात की जाती थी देश में ही निर्मित होने लगीं।

7. **निर्यात व्यापार में वृद्धि**—देश में आधुनिक प्रणाली से उत्पन्न विभिन्न इन्जीनियरिंग के उपकरण, उत्तम श्रेणी के वस्त्र, स्कूटर, साइकिलें, सिलाई की मशीनें, पंखे का निर्यात स्वतन्त्रता काल में भारतीय व्यावसायिक समूहों द्वारा बढाया गया है तथा विश्व के अनेक देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इससे विश्व में भारत की प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही है देश को विदेशी मुद्रा भी प्राप्त होती रही है।

8. **रोजगार प्रदान करना**—जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है कि भारत के औद्योगिक क्षेत्र मे कुछ विशिष्ट समुदाय व घराने अपना विशेष प्रभुत्व रखते हैं। इनके प्रतिष्ठानो मे देश के लाखो व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त होता है। इन प्रतिष्ठानो के अभाव में देश के नागरिको को केवल कृषि व छोटे उद्योगो पर ही निर्भर रहना पड़ता जहा उन्हें पूर्ण रोजगार नही मिल पाता है।

9. **रहन-सहन के स्तर में सुधार**—व्यावसायिक समुदायों ने अच्छी एव श्रेष्ठ वस्तुओं का उत्पादन हेतु देश में विभिन्न उद्योगो की स्थापना की है तथा दूसरी ओर लाखो व्यक्तियो को रोजगार देकर उन्हें नियमित आय एव जीविकोपार्जन का साधन प्रदान किया है जिससे समाज एव कर्मचारियो के रहन-सहन के स्तर मे सुधार हुआ है। उपभोग की श्रेष्ठ वस्तुओं की उपलब्धि एवं क्रय शक्ति होना, रहन-सहन के स्तर को सुधारता है।

10. **तकनीकी शिक्षा एवं शोध की व्यवस्था**—व्यावसायिक समुदायों ने विशिष्ट ज्ञान एवं उच्च शिक्षा व प्रशिक्षण के लिये भी व्यवस्था की है जिसमे भारत स्वय अपने साधनों का विकास करके विदेशी उत्पादको के साथ अपने उद्योगों की कार्य-क्षमता बढाकर, प्रतिस्पर्द्धा कर सके। उदाहरण के लिये बिडला व टाटा द्वारा कई तकनीकी ज्ञान के शोध एव प्रशिक्षण संस्थान चलाए जा रहे हैं।

11. **जनकल्याण के कार्य**—भारतीय व्यावसायिक समुदायो का बहुत बडा योगदान जन कल्याण के लिये किये गये विभिन्न कार्य हैं। इन समुदायो के प्रमुख घरानों ने धर्मशाला, गौशाला, मन्दिर, अस्पताल, स्कूल, महाविद्यालय, छात्रावास आदि का निर्माण करके इनके संचालन हेतु आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान की है। स्वेच्छा से जनसाधारण के लिये इस प्रकार की सुविधायें प्रदान करना इनके सामाजिक दायित्व के प्रति चेतना का प्रतीक है। भारत जैसे देश मे जहाँ सरकार के साधन सीमित हैं वहाँ इस प्रकार की सुविधायें प्रदान करने का बड़ा महत्व है।

12. **राज्य की आय में योगदान**—बड़े-बडे उद्योगों के स्वामी एवं संचालक होने के कारण इन उद्योगों से जो लाभ कमाये जाते हैं उन पर सरकार को आयकर

देना होता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन पर उत्पादन-कर दिया जाता है। यही नहीं माल के विक्रय पर विक्रय-कर तथा विदेशी व्यापार होने पर आयात एवं निर्यात करों का भुगतान सरकार को करना पड़ता है जिनसे प्रतिवर्ष राज्य को करोड़ों रुपये की आय इन समुदायों के कारण होती रही है। अतः सरकार को वित्तीय साधन जुटाने में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

13. विदेशों में ख्याति—इन समुदायों के द्वारा विशालकाय उद्योग, निर्मित माल के निर्यात, विदेशी सहयोग एवं विदेशों से स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों के कारण भारत की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ी है तथा भारत को सूक्ष्म तकनीकी एवं जटिल उत्पादन प्रणाली वाले उद्योगों की स्थापना करने में समर्थ माना जाने लगा है यह भारत के लिये गौरव की बात है।

प्रश्नावली

(University Questions)

Chapter 1

1. समाजशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा उसके क्षेत्र की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

   Define Sociology. Give a brief description of its scope of study.

2. "समाजशास्त्र सम्पूर्ण रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है" विवेचन करें।

   "Sociology is the systematic description and explanation of society viewed as a whole." Discuss.

3. समाजशास्त्र से आप क्या समझते हैं ? एक उपयुक्त परिभाषा दें।

   What do you understand by Sociology ? Give a suitable definition.

4. "समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, न कि प्राकृतिक" इस कथन के आधार पर समाजशास्त्र की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

   "Sociology is a Social Science and not a Natural Science." Explain the characteristics of Sociology on the basis of this statement.

5. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की व्याख्या कीजिए।

   Describe the subject-matter of Sociology.

6. आज के युग में समाजशास्त्र का क्या महत्त्व है ? इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करिये।

   What is the importance of Sociology in the present era ? Explain its utility.

7. समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में आप क्या समझते हैं ? प्रमुख विद्वानों की इसकी प्रकृति के बारे में क्या धारणा है ?

   What do you understand about the nature of Sociology ? What are the views of eminent sociologists in this regard ?

Chapter 2

1. औद्योगिक समाजशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके अर्थ की विवेचना कीजिए।
   Define Sociology and discuss its meaning.
2. औद्योगिक समाजशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? विवेचना कीजिए।
   What is the scope of Industrial Sociology ? Discuss.
3. औद्योगिक समाजशास्त्र एवं समाजशास्त्र के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।
   Dis.uss the relations of Industrial Sociology and Sociology.
4. औद्योगिक समाजशास्त्र के आधारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
   Discuss in brief the basis of Industrial Sociology.
5. औद्योगिक समाजशास्त्र का क्या महत्त्व है ? स्पष्ट करो।
   Explain clearly the importance of Sociology.

Chapter 3

1. 'औद्योगिक क्रान्ति यांत्रिक शक्ति एवं यन्त्रों के आविष्कार का परिणाम है'। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
   "Industrial Revolution is the result of machine power and machine research." Explain this statement.
2. इंगलैण्ड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति क्यों हुई ? विश्व के अन्य देशों में इसका प्रसार किस प्रकार से हुआ ?
   Why the Industrial revolution was first time in England ? How it spread in other countries of the world ?
3. औद्योगिक क्रान्ति का मनुष्य पर प्रभाव किस प्रकार से पड़ा।
   What was the effect of Industrial revolution on man ?
4. औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिणामों की विवेचना कीजिए।
   Explain the social, economic and political effects of industrial revolution.
5. "औद्योगिक क्रांति शब्द-प्रयोग इसलिए उपयोग में नहीं आता कि परिवर्तन की क्रिया शीघ्रगामी थी किन्तु इसलिए कि पूर्णता पर वह परिवर्तन मूलगामी था।" उक्त कथन को स्पष्ट करिये।
6. कारखाना पद्धति से आप क्या समझते हैं ? इसका श्रमिकों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा ?
   What do you understand by factory system ? How it effected the workers ?

7. औद्योगिक क्रान्ति की उत्पत्ति के क्या कारण थे ?
   What were the causes of industrial revolution ? Explain.

8. भारत में औद्योगिक क्रान्ति के क्या कारण रहे तथा यह कब प्रारम्भ हुआ ?
   What are the causes of industrial revolution in India and when it started ?

Chapter 4

1. 'औद्योगीकरण' शब्द से आप क्या समझते हैं ? समझाइये तथा उन तत्वों का उल्लेख कीजिए जो किसी राष्ट्र के औद्योगिक विकास को प्रभावित करते हैं।
   What do you understand by the term 'industrialisation' ? Explain and point out the factors which influence the industrial development of a nation.

2. किसी राष्ट्र के औद्योगीकरण की गति को कौन से तत्त्व प्रभावित करते हैं ? भारत मे औद्योगीकरण की धीमी गति के कौन से कारण रहे हैं ?
   What factors exercise impact on the speed of industrialisation in a country ? Account for the slow pace of industrialisation in India.

3. औद्योगीकरण के विभिन्न रूप कौन से हैं ? भारतीय परिस्थितियों में औद्योगीकरण का कौन सा स्वरूप सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है ?
   What are the various patterns of industrialisation ? Which pattern of industrialisation can be most suitable in Indian conditions ?

4. औद्योगिक विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं अवस्थाओं पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।
   Write a critical note on the processes and stages of Industrial growth.

5. किसी अल्पविकसित देश को औद्योगीकरण से क्या लाभ प्राप्त होते हैं ? समझाइये।
   Discuss the advantages of industrialisation to an under-developed country.

6. "औद्योगीकरण के अन्तर्गत वे समस्त परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो किसी उपक्रम के मशीनीकरण, किसी नवीन उद्योग की स्थापना, किसी नये बाजार में प्रवेश तथा किसी नये प्रदेश के विदोहन के फलस्वरूप घटित होते हैं। यह एक प्रकार से ऐसी प्रक्रिया है जो पूँजी की 'गहनता' एवं 'व्यापकता' प्रदान करती है।" इस कथन की समीक्षात्मक विवेचना

Chapter 2

1. औद्योगिक समाजशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके अर्थ की विवेचना कीजिए ।
   Define Sociology and discuss its meaning.
2. औद्योगिक समाजशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? विवेचना कीजिए ।
   What is the scope of Industrial Sociology ? Discuss.
3. औद्योगिक समाजशास्त्र एवं समाजशास्त्र के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए ।
   Dis-uss the relations of Industrial Sociology and Sociology.
4. औद्योगिक समाजशास्त्र के आधारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए ।
   Discuss in brief the basis of Industrial Sociology.
5. औद्योगिक समाजशास्त्र का क्या महत्त्व है ? स्पष्ट करो ।
   Explain clearly the importance of Sociology.

Chapter 3

1. 'औद्योगिक क्रान्ति यांत्रिक शक्ति एवं यन्त्रों के आविष्कार का परिणाम है' । इस कथन की व्याख्या कीजिए ।
   "Industrial Revolution is the result of machine power and machine research." Explain this statement.
2. इंगलैण्ड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति क्यों हुई ? विश्व के अन्य देशों में इसका प्रसार किस प्रकार से हुआ ?
   Why the Industrial revolution was first time in England ? How it spread in other countries of the world ?
3. औद्योगिक क्रान्ति का मनुष्य पर प्रभाव किस प्रकार से पड़ा ।
   What was the effect of Industrial revolution on man ?
4. औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिणामों की विवेचना कीजिए ।
   Explain the social, economic and political effects of industrial revolution.
5. "औद्योगिक क्रांति शब्द-प्रयोग इसलिए उपयोग में नहीं आता कि परिवर्तन की क्रिया शीघ्रगामी थी किन्तु इसलिए कि पूर्णता पर वह परिवर्तन मूलगामी था ।" उक्त कथन को स्पष्ट करिये ।
6. कारखाना पद्धति से आप क्या समझते हैं ? इसका श्रमिकों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा ?
   What do you understand by factory system ? How it effected the workers ?

7. औद्योगिक क्रान्ति की उत्पत्ति के क्या कारण थे ?
   What were the causes of industrial revolution ? Explain.

8. भारत में औद्योगिक क्रान्ति के क्या कारण रहे तथा यह कब प्रारम्भ हुआ ?
   What are the causes of industrial revolution in India and when it started ?

Chapter 4

1. 'औद्योगीकरण' शब्द से आप क्या समझते हैं ? समझाइये तथा उन तत्वों का उल्लेख कीजिए जो किसी राष्ट्र के औद्योगिक विकास को प्रभावित करते हैं।
   What do you understand by the term 'industrialisation' ? Explain and point out the factors which influence the industrial development of a nation.

2. किसी राष्ट्र के औद्योगीकरण की गति को कौन से तत्व प्रभावित करते हैं ? भारत में औद्योगीकरण की धीमी गति के कौन से कारण रहे हैं ?
   What factors exercise impact on the speed of industrialisation in a country ? Account for the slow pace of industrialisation in India.

3. औद्योगीकरण के विभिन्न रूप कौन से हैं ?. भारतीय परिस्थितियों में औद्योगीकरण का कौन सा स्वरूप सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है ?
   What are the various patterns of industrialisation ? Which pattern of industrialisation can be most suitable in Indian conditions ?

4. औद्योगिक विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं अवस्थाओं पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।
   Write a critical note on the processes and stages of Industrial growth.

5. किसी अल्पविकसित देश को औद्योगीकरण से क्या लाभ प्राप्त हैं ? समझाइये ।
   Discuss the advantages of industrialisation to an under-developed country.

"Industrialisation involves those basic changes that accompany the mechanisation of an enterprise, the building of a new territory. This is in a way of process of deepening and widening of capital." Critically examine the above statement.

7. औद्योगिक वृद्धि के विभिन्न निर्धारक तत्त्व कौन से हैं ? उनका उल्लेख कीजिए तथा औद्योगीकरण में अनार्थिक तत्त्वों की भूमिका की विवेचना कीजिए।

   What are the various determinants of industrial growth ? Mention them and discuss the role of non-economic factors in industrialisation.

Chapter 5

1. भारतीय औद्योगिक श्रमिक की प्रमुख विशेषताएँ संक्षेप में समझाइये।

   Briefly summarise the principal characteristics of Indian industrial labour.

2. 'प्रवासिता' की परिभाषा दीजिए। भारत में औद्योगिक केन्द्रों में श्रम पूर्ति के प्रमुख साधन क्या हैं ?

   Define the term 'Migration'. What are the main sources of labour supply in industrial centres in India ?

3. औद्योगिक श्रम के सामाजिक संयोग से आप क्या समझते हैं ? इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें।

   What do you understand by social composition of industrial labour ? Discuss its main characteristics.

4. प्रवासिता के क्या कारण हैं ? प्रवासिता के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

   What are the causes of migration ? Discuss the merits and demerits of migration.

Chapter 6

1. श्रमिकों की कुशलता को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटकों का विवेचन कीजिए।

   Discuss the various factors that affect the efficiency of industrial labour in India.

2. 'भारतीय श्रमिकों की अक्षमता तथाकथित है।' इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

   "Indian workers are proverbially inefficient." Critically examine this statement.

3. "जिसको हम अक्षमता कहते हैं वह भारतीय श्रमिकों की दृष्टि से अत्यधिक काम के विरुद्ध एक तर्क से अधिक कुछ नहीं है।" आलोचना कीजिए। भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के क्या कारण हैं ?

   "What is regarded as inefficiency is nothing more than self-defence on the part of the Indian workers against excessive work." Comment. What are the causes of the inefficiency of Indian workers ?

4. भारतीय श्रमिकों की अकार्यकुशलता के क्या कारण उत्तरदायी हैं ? उसकी कुशलता वृद्धि हेतु सुझाव दें।

   What causes are responsible for the inefficiency of Indian worker ? Give suggestions to improve his efficiency.

5. औद्योगिक समाज की समस्याओं का उल्लेख करें।

   Give an account of the problems of industrial society.

6. प्रदूषण से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न कारणों को स्पष्ट करें।

   What do you understand by Pollution ? Explain the various causes of pollution.

7. प्रदूषण के प्रभावों को स्पष्ट करते हुए इसे रोकने के उपाय बताएँ।

   What are the effects of Pollution ? Explain the measures to check it.

Chapter 7

1. औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन क्या हैं ? इन दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

   What are formal and informal organisations ? Clarify the distinction between the two.

2. व्यवसाय में औपचारिक संगठन का क्या महत्व है ? विस्तार से समझाइये।

   What is the importance of formal organisation in business ? Explain in detail.

3. औपचारिक संगठन की परिभाषा दीजिए। एक उपक्रम की सफलता में इसका क्या योगदान रहता है ?

   Define formal organisation. What is its contribution for the success of an enterprise ?

4. "कम्पनी का संगठन व्यक्तियों की योग्यता के अनुरूप ही ढाला जाना चाहिए तथापि वह सरल एवं पर्याप्त लचीला हो, ताकि तेज बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल वह उपयोगी बन सके।" इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए।

"The organisation of a company must be moulded about the capabilities of the individuals and still be simple and flexible enough to meet rapidly changing conditions." Elucidate.

5. औपचारिक संगठन के क्या उद्देश्य होते हैं ? इनके सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

What are the objectives of formal organisations ? Discuss their principles.

6. औपचारिक संगठन के कितने प्रारूप होते हैं। आप किसको और क्यों अच्छा समझते हैं ?

What are the forms of formal organisation ? Which of them you think satisfactory and why ?

7. रेखा एवं कर्मचारी संगठन से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण व दोषों को स्पष्ट करिये।

What do you understand by Line and Staff Organisation ? Explain its merits and demerits.

8. अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं ? स्पष्ट करें।

How informal organisations poses their impact on the formal organisations ? Explain.

9. प्रबन्ध को अनौपचारिक संगठनों को किस प्रकार से प्रभावित करना चाहिए।

How the management should influence the informal organisations ?

Chapter 8

1. मानवीय सम्बन्ध से आपका क्या अभिप्राय है ? आधुनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इसके महत्व को समझाइये।

What do you understand by the term 'Human Relations' ? Explain its importance in a modern industrial undertakings.

2. मानवीय सम्बन्ध विचारधारा की आधारभूत मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

Describe the fundamental Assumptions and Principles of Human Relations Approach.

3. मानवीय-सम्बन्धों को परिभाषित कीजिए। भारत में इनके विकास के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(संकेत—सुझाव मानवीय सम्बन्धों के सिद्धान्तों के आधार पर दें)

Define 'Human Relations'. Give your suggestions for its development in India.

4. मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का क्या अर्थ है ? इसके विकास और महत्व का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।

   What is meant by human relations approach ? Critically describe its growth and importance.

5. "अति उन्नत मशीनों और उत्पादन के लिए स्वचालित ढंगों का विकास होने के बावजूद उद्योग की समस्या मुख्यतः एक मानवीय समस्या है ।" स्पष्ट कीजिए ।

   "Inspite of the development of highly sophisticated machines & automatic devices for production, the problem of industry is mainly a human problem." Elucidate.

6. हॉथोर्न प्रयोगों पर एक निबन्ध लिखिए । उनके मुख्य निष्कर्ष क्या थे ? वर्णन कीजिए ।

   Write a note on 'Hawthorne Experiments'. What were their main conclusions ? Discuss.

7. मेयो द्वारा मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित किये गये प्रयोगों का विवरण द । क्या इनकी आलोचना भी की गई है ?

   Give an account of experiments done by Mayo relating to Human Relations. Is their any criticism of the study.

8. मानवीय सम्बन्ध अवधारणा के उद्गम के सम्बन्ध में टिप्पणी लिखें ।

   Write a note on the origin of human relations approach.

Chapter 9

1. *भारत के व्यावसायिक समुदायों के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।*

   Write a brief note on the development of Business communities in India.

2. बड़े औद्योगिक घरानों से आप क्या समझते हैं ? इनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

   What do you understand by Big Industrial Houses ? What are their main characteristics ?

3. व्यावसायिक समुदायों का भारतीय अर्थव्यवस्था में क्या योगदान रहा है? सूक्ष्म में स्पष्ट करिए।
What has been the contribution of business communities in Indian Economy? Explain in brief.

4. "भारत में व्यावसायिक समुदाय सत्ता के केन्द्रीयकरण के लिए दोषी हैं।" क्या यह कथन सत्य है? विस्तार से प्रकाश डालिए।
"Indian Business communities are responsible for the concentration of economic power." Is it correct? Explain in detail.